बी० ए०, बी० कॉम० तथा कृषि आदि कक्षा के छात्रों के लिए—कृषि, उद्योग, अधिकोषण, वित्त तथा व्यापार सम्बन्धी—पचास सामयिक समस्याओं का महत्वपूर्ण विश्लेषण

हमारी आर्थिक समस्याएँ

Our Economic Problems

[*Essays on Current Affairs*]

लेखक

गिरिराज प्रसाद गुप्त, एम० कॉम०
(स्वर्णपदक प्राप्त)

रामप्रसाद एण्ड सन्स
प्रकाशक : : आगरा

पूज्य गुरुजनों

को

समर्पित

जिनकी शिक्षा और आशीर्वाद ने

मुझे इस योग्य बनाया

दो शब्द

गत कुछ वर्षों से घटना-चक्र ने कुछ ऐसी करवट बदली है कि आर्थिक समस्याओं ने राजनीति का गला घोंटकर अपना आधिपत्य जमा लिया है। आर्थिक समृद्धि के बिना राजनैतिक स्वराज्य भी फीका समझा जाने लगा है। 'आर्थिक समृद्धि ही सच्चा स्वराज्य है'—पंडित जवाहरलाल नेहरू के इन शब्दों में बहुत कुछ तथ्य है जिसे अधिकांश देशवासी अभी समझ नहीं पाये हैं। राजनैतिक स्वाधीनता के पश्चात् आज की सबसे प्रमुख समस्या आर्थिक है। आर्थिक-क्षेत्र इतना व्यापक और विस्तृत हो गया है तथा उसकी समस्याएँ इतनी जटिल और पेचीदा हैं कि राजनैतिक समस्याओं से साधारण जानकारी रखने वाले सार्वजनिक कार्यकर्त्ता आर्थिक प्रश्नों पर कोई स्पष्ट दृष्टिकोण नहीं रख पाते। फिर जनसाधारण का तो कहना ही क्या है? इसका मुख्य कारण यह है कि अभी तक हमारे देश में राजनैतिक चैतन्य की भाँति आर्थिक चैतन्य न उत्पन्न हुआ है और न उसकी चेष्टा ही की गई है। आर्थिक समृद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि जनता में एक देशव्यापी भावना और चेतनता का संचार हो। सरकार के कितने ही प्रयत्न तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि जनता भी आर्थिक समस्याओं को भली भाँति समझ कर उनके प्रति सचेत न हो और फिर सरकार के साथ सहयोग न दे। आज से २० वर्ष पूर्व, जब रूस में पंचवर्षीय योजना का प्रारम्भ किया गया था, समस्त देश में उत्साह और आनन्द की एक नई लहर और नई उमंग पैदा हो गई थी। सारा देश 'पंचवर्षीय योजना चार वर्ष में पूरी करो' के नारे से गूँज उठा था। नर-नारी, छोटे-बड़े, आबाल वृद्ध—सभी उस योजना को पूर्ण करने में अपना-अपना योग देने लगे थे। अमेरिका में भी प्रेसीडेण्ट रूज़वेल्ट ने घोर आर्थिक संकट के दिनों में जब देश से अपील की थी कि "बैंकों में राशि जमा हो" तब समस्त देश में उत्साह की नई लहर दौड़ गई थी और देश ने आर्थिक संकट हँसते-हँसते पार कर लिया था। इसका एक-मात्र कारण था जनता का अर्थ-समस्याओं के प्रति सचेत होना और सरकार को योग देने में जागरूक रहना। अस्तु! देश की आर्थिक समृद्धि सरकारी क़ानूनों या योजनाओं पर ही निर्भर नहीं करती। वह करती है जनता के उत्साहपूर्ण सहयोग पर। परन्तु जनता का यह सहयोग तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि उसे आर्थिक समस्याओं की स्पष्ट जानकारी न हो।

हमारे देश में नित नई आर्थिक समस्याओं को समझने तथा उनके व्यावहारिक उपायों की खोज करने की बहुत आवश्यकता है। अर्थशास्त्र न उपन्यास कहानी की तरह रोचक विषय है और न राजनैतिक स्वराज्य की भाँति आवेशपूर्ण नारों का विषय है। यह तो एक गम्भीर विषय है और इसीलिए इसका महत्व कम नहीं है। प्रत्येक देशवासी को इस गम्भीर विषय में जानकारी रखकर देश की आर्थिक समस्याओं को समझना अनिवार्य है। इसी उद्देश्य को लेकर प्रस्तुत पुस्तक की रचना की गई है। विद्यार्थियों एवं जनसाधारण को देश की आर्थिक समस्याओं से परिचित कराने के लिए इस पुस्तक में पचास महत्वपूर्ण समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। मेरा विश्वास है कि जब तक जनता को समस्याओं से जानकारी नहीं होगी तब तक वह सरकार के साथ उनको सुलझाने में सहयोग कर ही नहीं सकती। इसी उद्देश्य से उन्हें इस पुस्तक के द्वारा हमारी आर्थिक समस्याओं से जानकारी कराने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक में वर्णित सभी समस्याएँ सामयिक हैं, गम्भीर हैं और आवश्यक भी हैं। आशा है विद्यार्थी और जन-साधारण—दोनों वर्ग इससे लाभ उठायेंगे।

मुझे यह मानने में तनिक भी संकोच नहीं कि पुस्तक का विषय कोई नवीन नहीं है। केवल समस्याओं को चुनकर जन साधारण की सूचनार्थ उनका विश्लेषण कर दिया गया है। अधिकांश निबन्ध लेखक के उन लेखों में से तैयार किए गए हैं जो समय समय पर दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। हाँ, समयानुकूल उनमें आवश्यक संशोधन अवश्य कर दिए गए हैं। मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक के द्वारा पाठकों को हमारी आर्थिक समस्याओं के प्रति कुछ जानकारी अवश्य होगी और वे उन्हें हल करने में व्यावहारिक सहयोग देने में समर्थ हो सकेंगे।

पुस्तक-लेखन में मुझे वाणिज्य विभाग के अध्यक्ष प्रो० रामशंकर याज्ञिक से पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता रहा है, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। पाण्डुलिपि तैयार करने में मुझे श्री रामनिवास जाजू व श्री नागरमल 'नागराज' से पर्याप्त सहयोग मिला है जिसके लिए वे दोनों धन्यवाद के पात्र हैं।

अगस्त १५, १९५२ गिरिराज प्रसाद गुप्त

विषय-क्रम

१—भारतीय कृषि की समस्याएँ

'भारत गाँवों में बसता है और कृषि भारत की आत्मा है' महात्मा गाँधी के इन शब्दों से हमारी कृषि का महत्व स्पष्ट होता है। भारत कृषि प्रधान देश है। उसकी ८० प्रतिशत जनता गाँवों में बसती है और ८० से ८५ प्रतिशत मनुष्य अपने जीविकोपार्जन के लिए कृषि पर निर्भर रहते हैं। कृषि ही हमारे समस्त आर्थिक जीवन में रक्त-सञ्चालित करती है। जिस गति से और जिस मात्रा में कृषि की उन्नति होगी, भारतीय जनता उतनी ही समृद्धिशाली और सुखी होती चली जाएगी। कृषि उन्नति के प्रश्न को औद्योगीकरण की आवश्यकता की दृष्टि से न देखकर केवल ग्रामोन्नति की दृष्टि से ही देखा जाय तो इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। वास्तव में यह राष्ट्र के जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता है। यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि न तो थोड़े से समय में विशाल उद्योग स्थापित किए जा सकते हैं और न तत्काल ही ग्रामीण उद्योग धन्धे पुनर्जीवित किए जा सकते हैं। कृषि ही ऐसा धन्धा है जिसके सुधार से बहुसंख्यक जनता को लाभ पहुँच सकता है। भारतीय जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए उसकी वास्तविक आय बढ़ाना आवश्यक है। तभी वह उपभोग्य पदार्थ खरीद सकती है और तभी उसकी आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं। कृषक की आय तब पूरी हो सकती है जब कृषि उत्पादन में भी वृद्धि हो। कृषि के उत्पादन की समस्या हमारे देश के सामने केवल पेट भरने तक ही सीमित नहीं रही है। कृषिजन्य वस्तुओं का उत्पादन बढ़ने से उद्योगों की समस्या, मजदूरों की समस्या, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इत्यादि—सभी एक साथ सुलझ सकती हैं। राष्ट्र के आर्थिक जीवन-रथ के कृषि और उद्योग दो पहिए हैं। आर्थिक-जीवन किसी एक के बिना अपूर्ण और पंगु रहता है। खनिज सम्बन्धी उद्योगों को छोड़कर अन्य सारे उद्योगों के लिए। कृषि ही कच्चे

माल की पूर्ति करती है। कपड़ा, पटसन, शक्कर, तेल इत्यादि उद्योग अधिकांश में कृषि द्वारा उत्पादित कच्चे माल पर निर्भर रहते हैं।

देश की अर्थ व्यवस्था में कृषि का इतना महत्व होते हुए भी, हमारा यह उद्योग निरंतर अवनति की ओर गिरता रहा है। पिछली दो शताब्दियों में कृषि-ह्रास का इतिहास वास्तव में भारत का आर्थिक इतिहास बन गया है। उद्योग-धन्धों के विकास के अभाव में जनसंख्या-वृद्धि का भार कृषि पर ही बढ़ता चला आ रहा है। ग्रामीण उद्योग धन्धों के ह्रास के कारण उनमें लगे हुए मनुष्यों को विवश होकर उदर पूर्ति के लिए कृषि कार्य अपनाना पड़ा। आज भी कृषि पर हमारा आर्थिक जीवन अवलम्बित है। वर्तमान् अन्न संकट ने हमारे समस्त आर्थिक कलेवर को विकृत बना रक्खा है। वर्तमान् आर्थिक संकट कृषि के प्रति हमारी उदासीनता का परिणाम है। हमारे देश में कृषि की अनेक समस्याएँ हैं जिनके कारण कृषि का समुचित विकास न हो पाया। प्रश्न होता है कि क्या हमारे देश में भूमि की कमी है? परन्तु यह बात नहीं है। हमारे देश में कुल २४ करोड़ एकड़ भूमि पर कृषि होती है। १७ प्रतिशत भूमि खेती के लिए प्राप्य नहीं है और १६ प्रतिशत पड़ती पड़ी है। इस प्रकार कोई १८ करोड़ एकड़ भूमि पड़ती पड़ी है। इसलिए यह विचार भ्रमात्मक है कि भारत में अभी और खेती का विस्तार सम्भव नहीं है और भारत की चप्पा-चप्पा भूमि जोत ली गई है। गंगा के खादर में तथा अन्य कई राज्यों में सरकार ने ट्रेक्टरों द्वारा खेती आरम्भ करके बता दिया है कि अभी पर्याप्त पड़ती जमीन पड़ी है जो किसानों और हलों की प्रतीक्षा कर रही है। सरकार ने कृषि की इस समस्या को हल करने के लिए नई भूमि को तोड़कर कृषि योग्य बनाने का काम अपने हाथ में ले लिया है। ट्रेक्टरों की सहायता से भूमि को कृषि योग्य बनाया जा रहा है। मध्य प्रान्त, मध्य भारत, भोपाल, उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में बंजर भूमि को तोड़ कर कृषि की जा रही है। योजना है कि ३० लाख एकड़ बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाकर १० लाख टन अन्न प्रति वर्ष बढ़ाया जा सकेगा। इस कार्य में सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से १ करोड़ डालर का ऋण लेकर ट्रेक्टर खरीदे हैं। यह काम केन्द्रीय ट्रेक्टर संघ के अधीन कर दिया गया है।

नई भूमि को कृषि योग्य बनाकर अन्न उत्पादन करने के अतिरिक्त कृषि की

पैदा बढ़ाने का प्रश्न भी हमारे सामने है। हमारे देश में कृषि की उपज अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। अधिक और उत्तम खाद, उत्तम और उन्नत बीज तथा सिंचाई का समुचित प्रबन्ध करके कृषि की उपज बढ़ाई जा सकती है। डाक्टर बर्न्स का मत है कि धान का उत्पादन ३० प्रतिशत बढ़ाया जा सकता है यदि बीज में ५ प्रतिशत और खाद में २० प्रतिशत सुधार किया जाय और रोग नष्ट करने में ५ प्रतिशत यत्न किया जाय। उनका विश्वास है कि बिना कठिनाई के ५० प्रतिशत धान का उत्पादन बढ़ सकता है। इसके लिए बीज में २० प्रतिशत और खाद में ४० प्रतिशत सुधार करने की आवश्यकता होगी। आपका यह भी मत है कि इस उपाय से गेहूँ की ३० से ७५ प्रतिशत और अन्य धान्यों की ६० प्रतिशत पैदावार बढ़ सकती है। परन्तु प्रश्न यह है कि बीज और खाद में सुधार कैसे हो? यूरोप, अमेरिका, चीन और जापान में *उत्तम खाद का अधिक उपयोग अच्छी उपज का मुख्य कारण है। हमारे देश में* प्राकृतिक खाद का बहुत अधिक परिमाण में उपयोग हो सकता है। इसमें संदेह नहीं कि पिछले कुछ वर्षों से कम्पोस्ट खाद बनाया जाने लगा है; परन्तु लगभग ६००० म्युनिसिपैलिटियों में अभी केवल ६५० म्युनिसिपैलिटियों ने ही कम्पोस्ट योजना को चालू किया है और वे प्रति वर्ष ५ लाख टन खाद बनाती हैं जो देश की क्षमता के लिए केवल ७ प्रतिशत ही है। भूमि से अन्न लेने के लिए हमें उसे खाद देना चाहिए। केन्द्रीय सरकार ने बिहार में सिंदरी नामक स्थान पर खाद बनाने की एक विशाल निर्माणी स्थापित की है जहाँ पर वैज्ञानिक रीति से खाद बनाया जाने लगा है। परन्तु सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि देशी खाद बनाने के कार्य को प्रोत्साहन दिया जाय। यह काम म्युनिसिपैलिटी, टाउन एरिया तथा ग्राम पंचायतों के द्वारा भली भाँति किया जा सकता है।

खाद के अतिरिक्त कृषि उत्पादन में उत्तम बीज की भी एक बड़ी समस्या है। आज जो बीज हमारे कृषकों को मिलता है वह न तो उत्तम प्रकार का ही होता है और न पर्याप्त ही होता है। आवश्यकता इस बात की हो चली है कि उचित परिमाण में देश के विभिन्न भागों में उन्नत एवं अच्छी धान तथा गेहूँ के बीज भंडार खोले जाएँ। हमारे देश में कोई ५८० लाख एकड़ भूमि में धान तथा २६० लाख एकड़ भूमि में गेहूँ की खेती होती है। इस सबके लिए १६ लाख

टन चावल तथा १० लाख टन गेहूँ के बीज की आवश्यकता है। इतना बीज तैयार करना कोई कठिन बात नहीं है। सरकार ने अच्छे बीजों की एक योजना बनाकर यह कार्य भारतीय कृषि अनुसंधानशाला को सौंप दिया है। स्थान-स्थान पर कृषि विभाग द्वारा शोध का कार्य चल रहा है। परन्तु सरकार का यह प्रयत्न है कि अच्छे बीजों के वितरण की वर्तमान योजनाओं के अतिरिक्त एक ऐसी योजना बनाई जाय जिससे कृषक स्वयं अच्छा बीज अपने आप पैदा कर सकें। इससे कृषि उत्पादन वृद्धि में पर्याप्त सहायता मिल सकेगी। भारतीय कृषि अनुसंधानशाला के आँकड़ों से ज्ञात होता है कि धान की अनेक ऐसी प्रकार है जिनके बोने से चावल की पैदावार १० प्रतिशत से १२ प्रतिशत तक बढ़ाई जा सकती है। देश में इसकी परीक्षा भी की गई है। १९४५-४६ में भारत संघ में चावल की कुल खेती के केवल १५ प्रतिशत में अच्छा और उत्तम बीज बोया गया था जिससे करीब १३ लाख टन अधिक चावल उत्पन्न हुआ। उत्तम बीज उत्पन्न करने की समस्या को हल करने के लिए एक देशव्यापी योजना की आवश्यकता है।

हमारी कृषि की एक मूल समस्या सिंचाई के उत्तम साधनों का अभाव रहा है। भारतीय कृषि सदैव मानसूनों की कृपा पर निर्भर रही है। परन्तु अब कृषि को मानसूनों की कृपा का पात्र नहीं रखना चाहिए। अब तक ऐसा देखने में आया है कि यदि वर्षा अधिक हुई तो खेत बह जाते हैं और यदि सूखा पड़ गया तो भी अकाल पड़ जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय कृषि के लिए सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध नहीं है। सिंचाई के साधन, जैसे, नल-कूप, नहरें, बिजली के कुएँ आदि बनाना आवश्यक है। सरकार अब इस ओर ध्यान देने लगी है। उत्तर प्रदेश, पूर्वी पंजाब तथा बिहार में कुएँ बनाने की योजना चल रही है। दीर्घ-कालीन योजना में सरकार ने नदियों की बहुमुखी योजनाएँ तैयार की हैं। कई योजनाओं का तो काम भी आरम्भ हो चुका है। इन बहुमुखी योजनाओं में नदियों के बहाव का नियन्त्रित करके बाँध बनाये जाएंगे जिससे सिंचाई हो सके, भयंकर बाढ़ रोकी जा सकें, जल-विद्युत बनाई जा सके नदियों को जहाजरानी के योग्य बनाया जा सके और जल विद्युत के द्वारा उद्योगों को

उन्नत किया जा सके। सिंचाई-सहकारी-समितियाँ भी बनाई गई हैं जो सिंचाई को विद्युत द्वारा प्रगति देंगी।

भारतीय कृषि की सबसे बड़ी समस्या हमारे देश की भूमि-व्यवस्था रही है। किसान अनेक यातनाएँ और कठिनाइयाँ उठा कर कृषि करता रहा है परन्तु वह अपने खेत का मालिक नहीं रहा। इस प्रकार भूमिपति और कृषक के बीच एक बड़ी गहरी खाई रही है। यह कार्यक्षमता और सामाजिक न्याय दोनों दृष्टि से न केवल अनुचित ही है वरन् अन्यायपूर्ण भी है। अन्य देशों में भूमिपति कृषक भी हैं। सन् १९३९ में, युद्ध के प्रथम वर्ष में, फ्रांस में ६० प्रतिशत, स्विटज़रलैण्ड में ८० प्रतिशत, जर्मनी में ८८ प्रतिशत और चैकोस्लोवाकिया में ६० प्रतिशत भूमिपति जमीन जोतनेवाले किसान थे। अब स्वतन्त्र भारत में कृषि की इस मूल समस्या को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। जमींदारी और जागीरदारी मिटाई जा रही है। किसानों को भूमि का अधिकार दिया जा रहा है। राज्य सरकारों ने जमींदारी और जागीरदारी उन्मूलन नियम पास कर लिए हैं। ग़ैर सरकारी तौर पर भी भूमिहीन किसानों को भूपतियों से भूमि लेकर दी जा रही है। आचार्य विनोबा भावे ने "भूदान यज्ञ" आन्दोलन उठाया है जिसके अन्तर्गत वे देश की पैदल यात्रा करके ५ करोड़ एकड़ भूमि भूपतियों से दान लेकर भूमि-हीन किसानों को देने का निश्चय कर चुके हैं। इस समस्या के हल होने पर सहकारिता के आधार पर यदि कृषि की जाय तो कृषि की एक बड़ी समस्या दूर हो सकेगी। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने सहकारी कृषि पर अन्य देशों से आँकड़े प्राप्त किए हैं और बताया है कि भारत में भी सहकारी कृषि करने के प्रचुर अवसर हैं।

किसान को भूमि का स्वामी मानने से भी हमारी समस्या सुलझती नहीं है, क्योंकि किसानों की अपेक्षा खेतिहर मजदूरों की संख्या यदि अधिक नहीं तो उनके बराबर अवश्य है। घरेलू व्यवसायों के नष्ट हो जाने से उनकी बराबर वृद्धि हो रही है। यह खेतिहर मजदूर संगठित नहीं हैं; इसलिए न्यूनतम मजदूरी का कानून बनाने पर भी इस अवस्था में विशेष लाभ न होगा। इनकी संख्या घटने के बजाय बढ़ ही रही है। मद्रास में सन् १९०१ में प्रति हजार ३४५

खेतिहर मजदूर थे पर सन् १९३१ मे प्रति हजार ४२६ हो गए। बगाल में भूमिहीन जनता १८ लाख (१९२१) से बढकर २७ लाख (१९३१) हो गई। सन् १९३१ की जनगणना की रिपोर्ट मे लिखा है कि सन् १८८२ में भूमिहीन दिन मे काम करनेवाले श्रमिकों की संख्या ७० लाख थी, जो १९२१ मे बढकर २१५ लाख हो गई और सन १९३१ में ३३० लाख तक पहुँच गई। १९५१ की जनगणना मे वह और भी बढी हुई मिले तो कोई आश्चर्य न होगा। १९४३ के बगाल के अकाल के समय कलकत्ता विश्वविद्यालय ने अकाल-पीड़ितों की जाँच की थी। इस जाँच से पता लगा कि अकाल पीड़ितोंमे ७२ प्रतिशत व्यक्ति खेतिहर मजदूर अथवा छोटे किसान थ। खेतिहर मजदूर साल मे ६ मास तक खाली रहता है। उसकी अवस्था दास के समान है। साधारणत. उनका वतन ४ से ८ रु० तक होता है। खेती के साथ इन खेतिहर मजदूरों की समस्या भी जुड़ी हुई है। इसको हल किए बिना भारतीय कृषि का हल नहीं ढूढा जा सकता।

हमारे देश में खेतों का क्षेत्रफल छोटा है और खेत छोटे और छिटके होते हैं। ये इतने छोटे होते हैं कि कभी कभी खेत जोतने मे बैलो को ठीक-ठीक घुमाया भी नहीं जा सकता। अमेरिका में खेतों का औसत क्षेत्रफल १४५ एकड़ है, डेनमार्क में ४० एकड़, स्वीडन में २५ एकड़, जर्मनी मे २२ एकड़, इङ्गलैंड मे २० एकड़ और भारत मे ५ एकड़ है। मद्रास में औसत जोत ४½ एकड़ है लेकिन कहीं कहीं इससे भी कम है। खेतों के छोटे और छिटके हाने से खेती मे रुकावट होती है, और खेती मे स्थायी सुधार भी नहीं हो सकते। फसलों की देख रेख भी ठीक नहीं हो सकती और सिंचाई का भी उत्तम प्रबन्ध नहीं हो सकता। इस समस्या को दूर करने के लिए खेतों की चकबन्दी होनी चाहिए। खेतों की चकबदी सहकारी समितियो और कानूनो द्वारा की जा सकती है। पंजाब में सबसे पहिले सहकारी समितियों द्वारा चकबदी का काम आरम्भ किया गया था। जुलाई सन् १९४३ में वहाँ १८०० समितियाँ थीं और लगभग ४५ लाख एकड़ भूमि मे चकबदी की गई थीं। सन् १९३६ मे एक कानून पास किया गया जिसके अनुसार दो तिहाई जमींदारों की इच्छा से चकबदी अनिवार्य

रूप से की जा सकती है। उत्तर प्रदेश में इसी प्रकार का कानून सन् १६३६ में बना जिसके अनुसार कार्य हो रहा है।

कृषि की एक और बड़ी समस्या मिट्टी के कटाव की है। नदियों के आस-पास बहुत-सी भूमि वर्षा के पानी की तीव्र गति से कट कर बह जाती है और बड़े गहरे गड्ढे हो जाते हैं। उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बंगाल में ऐसा बहुत होता रहता है। उत्तर प्रदेश में लगभग ८० लाख एकड़ भूमि इस प्रकार बेकार पड़ी हुई है। इस मिट्टी के कटाव को रोकने के उपाय करने चाहिए। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं पानी जमा होता रहता है जिससे मिट्टी उपजाऊ नहीं रहती। उत्तर प्रदेश में लगभग ४५ लाख एकड़ भूमि इस प्रकार बेकार हो गई है। इस बात को रोकने के उपाय किए जाने चाहिए। मिट्टी के कटाव को रोकने के मुख्य दो उपाय हैं। जिस जगह कटाव शुरू हो उससे कुछ ऊपर बाँध लगा कर पेड़ लगा दिये जाएँ। पेड़ उगाने से पानी की गति मंद हो जायगी और मिट्टी का कटाव बन्द हो सकेगा और धीरे धीरे भूमि समतल हो जायगी। पेड़ उगाने का यह काम केवल किसानों पर नहीं छोड़ा जा सकता। इस सम्बन्ध में सरकार को कार्य करना चाहिए। सरकार ने यह कार्य आरम्भ कर दिया है। प्रतिवर्ष "वन महोत्सव" मनाया जाता है जिसके अन्तर्गत सरकारी और गैर-सरकारी तौर पर वृक्ष लगाने का काम होता है।

केवल भूमि की समस्याओं का हल करने पर ही कृषि में सुधार नहीं हो सकता। किसानों की निपुणता बढ़ाने का भी प्रयत्न करना चाहिए। इस विषय में दो बातों पर ध्यान देना होगा—किसान की निपुणता और भूमि के साथ उसका सम्बन्ध। भारतीय किसान निर्धन और निरक्षर है। वह ऋण के भार से दबा हुआ है। उसके विषय में यह कहावत प्रसिद्ध है कि वह ऋण में ही जन्म लेता है और उसमें ही उसकी मृत्यु होती है। बंगाल प्रान्तीय बैंकिङ्ग जाँच कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार बंगाल के कृषकों पर सन् १६२६ में १०० करोड़ रुपये का ऋण था और वह १६३५ में बढ़कर २७५ करोड़ रुपया हो गया था। युद्ध-काल में इसमें कुछ कमी हुई है। कुछ लोगों का मत है कि बंगाल का किसान ऋणमुक्त ही हो गया है। किन्तु यह विचार और धारणा गलत है कि युद्ध-कालीन मँहगाई से केवल किसान को ही लाभ हुआ है। मँहगाई में लाभ अवश्य

हुआ है पर छोटे किसानो को उस मात्रा मे लाभ नहीं हुआ है जितना सोचा जाता है। दूसरी जीवनोपयोगी सारी वस्तुएँ उसे मँहगे दामों—चोर बाजार के दामों पर खरीदनी पड़ी हैं। भारतीय किसान आत्म-निर्भर नहीं हैं, इसलिए वह मँहगी का भी पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सकता। कृषि-ऋण की समस्या लगभग ज्यो की त्यों ही बनी रही। भारतीय किसान की निर्धनता के अनेक कारण हैं; जैसे एक मात्र भूमि पर ही जीविका के लिए निर्भर रहना, भूमि का छोटे छोटे अनुत्पादक टुकड़ों में बँट जाना, भूमि से पैदावार का कम होना, भूमि और अन्य श्रोतों से कम आय का होना, इत्यादि इत्यादि। आवश्यकता इस बात की है कि किसानों को उचित ब्याज पर ऋण दिए जाएँ। सहकारी समितियों की संख्या बढनी चाहिए और *ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि किसानों को अल्प-काल के लिए लगभग ६ प्रतिशत ब्याज पर ऋण मिल जाया करे। इंगलैंड में* किसानों को ६० वर्ष के लिए Agricultural Mortgage Corporation से ३$\frac{1}{2}$ प्रतिशत ब्याज दर पर ऋण मिलता है। हमारे देश में भी इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए। १९४६ में गाडगिल कमेटी ने सुझाव दिया था कि प्रत्येक प्रान्त में एक ऐसी संस्था स्थापित होनी चाहिए जो किसानों को थोड़े ब्याज पर ऋण दिया करे।

किसान अपनी वस्तुओं के उचित दाम भी प्राप्त नहीं कर पाते। वे ऐसे समय में अपनी फसल बेचते हैं जबकि कीमतें बहुत गिरी हुई होती हैं। उपभोक्ता जब एक रुपये का माल खरीदता है तो किसान को ८$\frac{1}{2}$ आने मिलते हैं। बाकी बीच के दलाल खा जाते हैं। *किसान अपने अन्न को मण्डियों में नहीं ले जा सकते क्योंकि उन्हें वहाँ के दिन प्रति दिन के भाव मालूम नहीं रहते।* यातायात के साधन भी नहीं है। इस सम्बन्ध में उचित सुधार होने चाहिएँ। माप और तौल निश्चित हो जानी चाहिए। यातायात के साधनों में उन्नति होनी चाहिए। पक्की खत्तियों का प्रबन्ध होना चाहिए। सहकारी समितियों की स्थापना होनी चाहिए जिनके द्वारा किसानों को अपना माल बेचने में सहायता मिले।

कृषि की दशा सुधारने में पशुधन की उन्नति भी आवश्यक है। हमारे देश में पशु बहुत निर्बल हैं और कृषि में काम आने वाले औजार भी प्रायः पुराने हैं। बैलों के निर्बल होने से खेतों की जुताई गहरी नहीं हो पाती।

पशुओं की नस्ल में सुधार होना चाहिए। चारे की उपज बढ़ानी चाहिए। पशु, औषधालय खुलने चाहिएं और खेती के यन्त्र भी नये ढङ्ग के होने चाहिएं। हाल ही में सरकार ने खेती के लिए नये यन्त्रों का उपयोग आरम्भ किया है। सरकार के कृषि विभाग वैज्ञानिक हल किसानों को उधार देने लगे हैं।

कृषि की स्थिति सुधारने में एक अड़चन यह भी है कि हमारे किसान निरक्षर और अज्ञान हैं और उनका दृष्टिकोण संकुचित रहता है। निरक्षर होने के कारण वे अपना और कृषि का भला बुरा नहीं सोच पाते। कृषि की उन्नति के लिए कृषकों की मानसिक उन्नति भी आवश्यक है। उनकी शिक्षा का भला पूरा प्रबन्ध हो, शिक्षालय खोले जाएँ, औषधालय बनाए जाएँ और स्वास्थ्य सम्बन्धी सुधार योजनाएँ बनाई जाएँ। कृषकों में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन करने की आवश्यकता है। कृषि समस्याओं को दूर करने में तो परिश्रम और लगन ही सफलता ला सकती है। कृषि उद्योग तो एक ऐसा व्यक्तिगत विकेन्द्रित धन्धा है जिसको उन्नत बनाने के लिए भूमि, पशु और कृषक, तीनों में सुधार करने होंगे। अनेक वर्षों से हमारे देश में जो अन्न संकट चल रहा है उसका मूल कारण कृषि सम्बन्धी समस्याओं के प्रति हमारी उदासीनता है। अब हम इन समस्याओं का महत्त्व समझने लगे हैं और यदि सरकार और जनता ने मिलकर काम किया तो देश की कृषि उन्नत होगी। योजना कमीशन ने भारत की कृषि की समस्याओं को न भुलाकर अपनी पाँच वर्षीय योजना में कृषि उन्नति के कार्यों को पर्याप्त स्थान दिया है। आशा है योजना कार्यान्वित होने के पश्चात् पाँच वर्षों में, कृषि की ये समस्याएं सुलझ सकेंगी।

२—भूमि का कृषीकरण

जैसे जैसे कृषि पर जनसंख्या का भार बढ़ता जाता है तैसे तैसे इस बात की आवश्यकता होने लगी है कि कृषि के लिए भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाया जाय। भारत जैसे विशाल देश में अब तक जितनी भूमि पर कृषि होती चली आ रही है उतनी भूमि ३५ करोड़ भारतीयों के लिए सर्वाङ्ग रूपेण पर्याप्त नहीं है। देश के विभाजन के फलस्वरूप हमारी कृषि भूमि का उपजाऊ भाग पाकिस्तान को चला गया है। इससे भारतीय जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भूमि का कृषीकरण और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है। भारत में लगभग ६ करोड़ ५० लाख एकड़ भूमि ऐसी है जिस पर कृषि की जा सकती है परन्तु जो कृषि के काम नहीं आ रही। इस भूमि पर या तो पहले कृषि की गई होगी या बिल्कुल नहीं। कहने का अर्थ यह है कि इस विशाल क्षेत्र को यदि समतल बनाकर कृषि के काम में लाया जाय तो अधिक अन्न उपजाया जा सकता है। खाद्यान्न नीति समिति ने सिफारिश की थी कि देश में कृषि योग्य बंजर भूमि का कृषीकरण करने से ३० लाख टन अधिक अन्न उपजाया जा सकता है। मध्य प्रदेश में इस प्रकार कृषि योग्य बंजर भूमि अधिक क्षेत्र में फैली हुई है जहाँ पर काँस, हारयाला या अन्य अनावश्यक प्राकृतिक घास उगती रहती है। भारत भर में ऐसी भूमि, जिस पर काँस उगती है और जो इसलिए कृषि के काम में नहीं आती, १ करोड़ एकड़ है। यह भूमि विशेषतः मध्य प्रदेश, मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में है। सरकार का अनुमान है कि यदि इसी भूमि का कृषीकरण किया जाय तो अन्न संकट को टालने में काफी सहायता मिल सकती है। केन्द्रीय सरकार के आँकड़ों के अनुसार मध्य प्रदेश में लगभग ६ लाख एकड़ ऐसी भूमि है जिस पर यन्त्रों द्वारा कृषि का श्री गणेश किया जा सकता है। आज से लगभग २२ साल पहिले भारतीय कृषि के शाही कमीशन ने भी सिफारिश की थी कि 'विशेषकर मध्य प्रान्त में यन्त्र एवं शक्ति की सहायता से कृषि करने की विशेष आवश्यकता प्रतीत होती

है। इस प्रान्त में विशाल भूमि क्षेत्र काँस आदि घास के उग आने से बंजर पड़े हैं, परन्तु यह सब बंजर भूमि यन्त्रों की सहायता से कृषकों को कृषि कार्य के लिए मिल सकेगी, ऐसी आशा है।"

शाही कमीशन की इस सिफारिश का महत्व अब पूर्ण रूपेण समझा जाने लगा है। मध्य प्रदेश ही नहीं भिन्न-भिन्न राज्यों में इस प्रकार की भूमि का कृषि-करण करने की योजनाएँ बन चुकी हैं, कार्य किया जा रहा है और कुछ भूमि का कृषीकरण किया भी गया है। भूमि को समतल तथा साफ करके कृषि योग्य बनाने के लिए ट्रेक्टरों का प्रयोग किया जा रहा है, परन्तु यह समझने की बात है कि इस विषय में भिन्न-भिन्न राज्यों की भिन्न भिन्न समस्याएँ हैं। मध्य प्रदेश के सागर और होशंगाबाद जिलों में बंजर भूमि को तोड़ कर कृषि योग्य बनाने की समस्या गंगा खादर की कृषीकरण समस्या से भिन्न है। गंगा खादर में न जंगल थे, न झाड़ियाँ थीं और न काँस जैसी अन्य कोई जंगली घास ही थी। यहाँ गंगा नदी द्वारा लाई हुई उपजाऊ मिट्टी थी। समस्या केवल यह थी कि मलेरिया आदि रोगों को नियन्त्रित करके भूमि पर कृषि की जाय। सिंचाई की भी यहाँ कोई समस्या नहीं थी, परन्तु मध्य प्रदेश में कृषीकरण की समस्या इससे बिल्कुल भिन्न है। यहाँ की बंजर भूमि सख्त है और उस पर विभिन्न प्रकार की जंगली घास उगती आई है। कहीं-कहीं भूमि ऊँची-नीची भी है। अतः यहाँ भूमि को तोड़ने का प्रश्न सबसे मुख्य रहा है; परन्तु सरकार ने १९४७-४८ में ही बंजर भूमि को तोड़ कर कृषि योग्य बनाने का काम आरम्भ कर दिया था और यह काम आज भी चल रहा है।

सबसे पहला प्रयत्न उत्तर प्रदेश में किया गया जहाँ २०० ट्रेक्टरों की सहायता से लगभग ४५ हजार एकड़ भूमि का कृषीकरण किया गया है। सम्पूर्ण कृषि योग्य बंजर भूमि के लगभग दसवें भाग को अर्थात् ६५ लाख एकड़ भूमि को कृषि योग्य बनाकर उस पर निकट भविष्य में ही कृषि कराने की अल्प-कालीन योजना भारत सरकार के सामने है। लगभग ४० लाख एकड़ भूमि मध्य प्रदेश, बम्बई, मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश तथा भोपाल में कृषि योग्य बनाई जाएगी। इसके अतिरिक्त २२ लाख एकड़ भूमि ऐसी है जिस पर कोई हानिकारक घास तो नहीं उगती परन्तु फिर भी कृषि के काम नहीं आती। इस

भूमि का भी कृषीकरण करने की योजना सरकार ने अपने हाथ में ले रक्खी है। इस प्रकार भारत सरकार की कृषीकरण योजना के अन्तर्गत ६२ लाख एकड़ भूमि का कृषीकरण निकट भविष्य में ही किया जा रहा है। इस भूमि को कृषि योग्य बनाने का कार्य केन्द्रीय ट्रेक्टर संघ के सुपुर्द कर दिया है। इस विभाग ने सम्पूर्ण देश में बंजर भूमि की जाँच-पड़ताल की है और पता लगाया है कि सभी राज्यों और राज्य संघों में भूमि का इस प्रकार कृषीकरण हो सकता है।

राज्य या राज्य संघ	लाख एकड़
मध्य भारत	१४
उत्तर प्रदेश	१०
मध्य प्रदेश	६
बम्बई	५
उड़ीसा	५
पूर्वी पंजाब	५
विन्ध्य प्रदेश	५
अन्य	४

मध्य प्रदेश में यह कार्य बहुत शीघ्रता से हो रहा है। बम्बई में भी सरकार ने पहले केवल चार ट्रेक्टरों की सहायता से कृषि के यन्त्रीकरण का विभाग खोला था, आज इस राज्य के पास १०० से भी अधिक ट्रेक्टर हैं जो १५ जिलों में काम कर रहे हैं और इन्होंने १ लाख एकड़ बंजर भूमि की जुताई की है। ट्रेक्टरों के चलाने के लिए कुशल व्यक्तियों के न मिलने के कारण कृषीकरण का कार्य उतना अधिक नहीं बढ़ सका है जितनी कि आवश्यकता थी। सरकार को चाहिए कि यातायात के साधनों में सुधार करे तथा कुशल व्यक्तियों को इन ट्रेक्टरों के चलाने की शिक्षा का भी प्रबन्ध करे।

गत महायुद्ध से पूर्व भारत के कृषि उद्योग में ट्रेक्टरों का इतना अधिक प्रयोग नहीं था जितना अब होने लगा है। अनुमान है कि युद्ध से पूर्व भारतीय कृषि में केवल २४८ ट्रेक्टर थे जब कि इंगलैंड जैसे छोटे देश में १५,००० ट्रेक्टरों से काम होता था। रूस में, जहाँ कृषि के यन्त्रीकरण का आदर्श उत्थान

हुआ तथा जिसके कारण उत्पादन में भारी क्रान्ति हुई, १६२८ में कोई ६ हजार सात सौ ट्रैक्टर खेतों में काम करते थ, परन्तु यही संख्या १९३७ में बढ़कर ४८४,५०० हो गई। इससे पता चलता है कि पाश्चात्य देशों में कृषी के यन्त्रीकरण पर कितना जोर दिया गया है और वहाँ ट्रैक्टरों ने कैसी काया पलट कर दी है। ट्रैक्टरों के प्रयोग से समय और शक्ति की बचत होती है और जिस एक हजार एकड़ भूमि पर जितने व्यक्तियों की आवश्यकता होती है उसी भूमि पर ट्रैक्टरों का प्रयोग करने से ५० या उससे भी कम व्यक्तियों की आवश्यकता होगी।

भूमि के कृषीकरण की एक सबसे बड़ी समस्या यह है कि भारत का निर्धन किसान बंजर भूमि को तोड़ने का व्यय कहाँ से उठावे, उसे ट्रैक्टर कहाँ से मिले ? इसके लिए दो मार्ग हो सकते हैं।

१ सरकार स्वयं सरकारी केन्द्र स्थापित करके अपने खर्चे पर बंजर भूमि को तोड़कर स्वयं खेती करे, परन्तु सरकार अभी इस कार्य को अपने हाथ में नहीं ले सकती। इस काम में सरकार कुशल कृषक की भांति कार्य नहीं कर सकेगी। तब तो यही ठीक होगा कि सरकार अपने व्यय पर बंजर भूमि को तोड़ कर कृषकों को दे दे जिस पर वे कृषि करते रहें। सरकार ऐसा ही कर भी रही है। मध्य भारत, दिल्ली, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में सरकार ने स्वयं बंजर भूमि को तोड़कर उस पर शरणार्थियों को बसा दिया है। इससे शरणार्थियों की समस्या भी हल होती जा रही है और भूमि का कृषीकरण भी होने लगा है।

२. दूसरा उपाय यह है कि कृषकों की सहकारी समितियाँ हों जो बंजर भूमि को तोड़कर कृषि के कार्य को प्रोत्साहन दें। किसी एक व्यक्ति विशेष को नई भूमि तोड़कर कृषि करने का भार सहन करना सम्भव नहीं होगा। अतः कृषकों की सहकारी समितियाँ बनें जो सम्मिलित रूप से सरकारी कृषि विभागों की देख-रेख में काम करें और कृषि विभाग उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहें। सहकारी समितियाँ बनाना इसलिए भी आवश्यक है कि जिससे छोटे और छिटके खेत सम्मिलित रूप से मिलकर इतने बड़े बन सकें कि उन पर यन्त्रों का प्रयोग अच्छी तरह से किया जा सके। प्रत्येक समिति को कुछ ट्रैक्टर और कुछ यन्त्र अपने निजी व्यय से रख लेने चाहिएँ और उनको चलाने के लिए

कुछ कुशल व्यक्ति भी रख लें। समिति अपने ट्रैक्टरों को सदस्यों के लिए किराए पर भी देती रहे।

इसके अतिरिक्त ट्रैक्टरों का प्रयोग सम्विदा प्रणाली पर भी बढ़ाया जा सकता है। कोई धनी कुशल कृषक कुछ ट्रैक्टर ले ले और सविदा की शर्तों के अनुसार कुछ धन राशि के बदले अन्य कृषकों को किराए पर दे दिया करे। इस प्रकार शनै शनै. जब ट्रैक्टरों का महत्व बढ़ता प्रतीत होगा और उनसे कुछ लाभ होता दिखाई देगा तो कृषक वर्ग स्वयं उनका प्रयोग आरम्भ करने लगेगा। सरकार इन ठेकेदारों को ट्रैक्टर खरीदने में सहायता कर सकती है तथा तैल शक्ति का भी प्रबन्ध सरकार को करना होगा। सरकारी कृषि विभाग भी कृषकों को ट्रैक्टर किराए पर देकर कृषकों की सहायता कर सकता है। सरकारी कृषि विभाग अब ऐसा करने लगे हैं।

कृषि यन्त्रों का प्रयोग सफल बनाने के लिए सरकार को कुछ और विशेष कार्य भी करने होंगे। जिन स्थानों पर बजर भूमि के तोड़ने का काम चल रहा हो वहाँ ट्रैक्टर केन्द्र स्थापित कर देने चाहिएँ जहाँ से कृषक तथा समितियाँ ट्रैक्टर प्राप्त कर सकें और अपने ट्रैक्टरों की टूट फूट की मरम्मत भी करा सकें। इन सरकारी केन्द्रों में कुशल कारीगर भी होने चाहिएँ जो समय पर कृषकों को यन्त्रों का प्रयोग समझा सकें और उनकी सहायता कर सकें। सरकार को यह भी चाहिए कि देश में ही ट्रैक्टर, हारवेस्टर तथा अन्य कृषि यन्त्र बनाने का प्रबन्ध करे। सरकार विदेशों से यह यन्त्र मँगाकर अधिक भला नहीं कर सकती। यद्यपि केन्द्रीय सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण लेकर अमेरिका से ट्रैक्टर मँगाये हैं परन्तु आवश्यकता यह है कि देश में ही इनके बनाने का प्रबन्ध हो। बम्बई राज्य में ट्रैक्टर बनाने का एक कारखाना खोला गया है परन्तु अभी ऐसे कारखानों की और आवश्यकता है।

भूमि के कृषीकरण में यन्त्रों का प्रयोग बढ़ाने के लिए भारतीय कृषकों के मनोविज्ञान में परिवर्तन करने की आवश्यकता है। भारतीय कृषक पुराने विचारों का व्यक्ति है जिसे पुराने रीति रिवाजों का तथा कृषि कार्य-शैली में परिवर्तन

करना सहज ही मे भला प्रतीत नहीं होता। इसके लिए शिक्षा की आवश्यकता है। स्कूलों और कॉलिजों मे कृषि के यन्त्रीकरण पर विशेष जोर देना चाहिए और यदि एक बार भारतीय कृषक भूमि का कृषीकरण करने और कृषि का यन्त्रीकरण करने को तैयार हो जाए तो उसे सब आवश्यक सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ। भूमि के कृषिकरण मे निम्न बातों की आवश्यकता है:—एक, पर्याप्त संख्या मे उचित ट्रैक्टरों की प्राप्ति; दूसरा, उन्हें चलाने के लिए कुशल मिस्त्रियों तथा तेल-शक्ति का प्रबन्ध; तीसरा, बंजर भूमि को तोड़कर समतल करना; चौथा, समतल बनानेके पश्चात् सहकारी सिद्धान्तों के अनुसार कृषि करना। यदि इस प्रकार देश की बंजर और निठल्ली भूमि को तोड़कर कृषि की जाती रही तो फिर देश को अन्न के लिए विदेशियों के सामने हाथ नहीं फैलाना पड़ेगा।

३—भारत में जल-सम्पत्ति का विदोहन
(नदियों की बहुमुखी योजनाएँ)

भारत के समस्त प्राकृतिक साधनों में नदियों का एक विशेष स्थान है जिनके द्वारा राष्ट्र के आर्थिक कलेवर को सुदृढ़ और संतुलित बनाने के लिए 'जल प्रदाय' (Water Supply) तथा 'जल-शक्ति' (Hydro-electricity) दोनों ही पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो सकते हैं। जल प्रदाय से कृषि की उन्नति करके अन्न उत्पादन बढ़ाया जा सकता है तथा जल विद्युत से औद्योगिक कारखानों का विकास करके औद्योगिक संगठन बलिष्ठ बनाया जा सकता है। हमारे देश में इन दोनों ही वस्तुओं का सर्वथा अभाव रहा है। परन्तु इसका कारण यह नहीं है कि हमारे देश में नदियों का अभाव अथवा नदियों में पर्याप्त जल का अभाव हो। देश में नदियों की संख्या किसी भी अन्य देश से कम नहीं और अनेक नदियाँ तो ऐसी हैं जिनमें वर्ष भर जल की पर्याप्त मात्रा रहती है। देश में नदियों का एक जाल सा बिछा हुआ है। यहाँ तक कि प्रत्येक राज्य में एक न एक नदी बहती ही है। अब तक इन नदियों का कोई ६ प्रतिशत जल सिंचाई के लिए उपयोग होता था और शेष ९४ प्रतिशत जल बहकर समुद्र में चला जाता था। इस प्रकार देश की अधिकांश जल सम्पत्ति मानवीय आवश्यकताओं के काम न आकर व्यर्थ ही नष्ट होती थी।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि देश की विदेशी सरकार ने इस जल सम्पत्ति का विदोहन करने के विषय में कभी सोचा भी नहीं। उन्होंने हमारी नदियों का मूल्य ही नहीं समझा। अंगरेजों के आने से पूर्व नदियों का उपयोग व्यापारिक जल-मार्गों के रूप में होता रहा था जिनके द्वारा नावों से माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाया जाता था। अंगरेजी राज्य काल में नदियों में से नहरें निकाल निकाल कर सिंचाई का कुछ काम होता रहा, परन्तु इनका पूरा-पूरा उपयोग करने के विषय में स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले कभी सोचा भी नहीं गया था। सरकार की इस उदासीनता का एकमात्र परिणाम यह हुआ कि

देश की जल सम्पत्ति का पूरा-पूरा उपयोग न हो सका और प्रति वर्ष देशवासियों को प्रकृति-कोप का शिकार बनना पड़ा। नदियों में भारी-भारी बाढ़ आती रहीं जिनसे सम्पत्ति और जीव दोनों की असीम हानि होती रही, प्रकृति की निधि—नदियों का जल—नष्ट होता रहा और देश में पर्याप्त प्राकृतिक सम्पत्ति के होते हुए भी राष्ट्र समृद्धिशाली न हो सका। सन् १६०१–२ में इस सम्पत्ति का विदोहन करने के लिए "भारतीय सिंचाई कमीशन" की नियुक्ति हुई जिसकी सिफारिशों के अनुसार देश में नहरें बनाने की नई-नई योजनाएँ बनाई गईं और नहरें बनाने का कार्य अधिक तेजी के साथ आरम्भ कर दिया गया। परन्तु अब नदोन्नति की योजनाओं का रूप बदल रहा है। सिंचाई ही नहीं, जल सम्पत्ति के विदोहन के लिए बहुमुखी योजनाएँ बनाई जा रही हैं। अब तक नदोन्नति की योजनाएं केवल सिंचाई तक ही सीमित थीं। कहीं-कहीं पर नदियों के प्रपातों से जल विद्युत भी तैयार की जाती थी; परन्तु साधारणतः जल विद्युत तैयार करने के लिए कोई विशेष योजनाएँ नहीं बनाई गईं। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि हमारे देश में विद्युत का उपयोग संसार के अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। देश की आर्थिक समृद्धि तथा देश निवासियों के रहन-सहन के स्तर का ज्ञान प्रायः इस बात से हुआ करता है कि उस देश में वहाँ के निवासी अपने उत्पादन तथा उपभोग सम्बन्धी कार्यों में बिजली का कितना प्रयोग करते हैं। इस मापदण्ड से हमारा देश पाश्चात्य देशों की अपेक्षा बहुत पिछड़ा हुआ है। अन्य देशों की समानता में प्रति वर्ष विद्युत का प्रति व्यक्ति उपभोग इस प्रकार है :—

देश	बिजली का उपभोग
कैनेडा	३५८० किलोवाट
नार्वे	३५७६ ,,
अमेरिका	१७७५ ,,
स्वीडन	१७४२ ,,
स्विटज़रलैण्ड	१७१७ ,,
इङ्गलैण्ड	८५५ ,,
भारत	१२ ,,

इससे स्पष्ट है कि हमारे देश में विद्युत का उपभोग कितना कम है। हमारे देश में वर्तमान विद्युत शक्ति लगभग २० लाख किलोवाट के बराबर आंकी गई है जिसमें से अभी तक कोई ५ लाख किलोवाट बिजली ही उत्पन्न की जाती है।

राष्ट्रीय सरकार ने देश की नदियों का विदोहन करने के लिए बहुमुखी योजनाएँ बनाकर कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। बहुमुखी योजनाओं का तात्पर्य यही है कि नदियों का इस प्रकार विदोहन हो जिससे उनसे एक नहीं अनेक लाभ मिलते रहें—भयंकर बाढ़ रोकी जा सके जो प्रति वर्ष देश की सम्पत्ति को नष्टप्राय कर देती हैं, सिंचाई की सुविधाएँ बढ़ाई जा सकें जिससे अन्न तथा अन्य कृषिजन्य कच्चा माल उत्पन्न किया जा सके, जल विद्युत बनाई जाय जिससे उद्योगों को उन्नत किया जा सके तथा आवागमन के लिए नदियों को जहाजरानी के योग्य बनाया जाय। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नदियों के प्रबल वेग को नियन्त्रित किया जा रहा है। राष्ट्रीय योजना समिति ने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर विशेष जोर दिया है कि नदोन्नति के प्रोग्राम में केवल सिंचाई तथा जल विद्युत का उत्पादन ही नहीं होना चाहिए वरन् जल सम्पत्ति का पूर्ण रूप से विदोहन होना चाहिए। योजना बहुमुखी होनी चाहिए। सिंचाई का प्रबन्ध भी किया जाय, नदियों को आवागमन के योग्य भी बनाया जाय, प्रति वर्ष आने वाली भयंकर बाढ़ों को रोक कर उनका सदुपयोग किया जाय, नदियों के प्रपातों से जल विद्युत भी तैयार की जाय तथा नदियों को सर्वाङ्ग रूप से राष्ट्र के हित के योग्य बनाया जाय। योजना कमीशन का भी मत है कि नदियों का ऐसा विदोहन एक राजनैतिक बुद्धिमानी ही नहीं वरन् अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी अच्छी बात है।

अमेरिका ने नदियों की बहुमुखी योजनाएँ सफल बनाने के लिए ऐसा कार्य किया है जिससे आज सारा संसार उसकी विद्वत्ता पर आश्चर्य करने लगा है। अबतक अमेरिका की सरकार ने नदी योजनाओं को पूरा करने में कोई ४७१८ मिलियन डालर खर्च किए हैं और अनेक ऐसी योजनाओं पर अभी काम हो रहा है जिनपर ४५६३ मिलियन डालर और खर्च होंगे। अमेरिका सरकार की

योजना है कि निकट भविष्य में ऐसी अनेक योजनाओं पर कार्य आरम्भ किया जाएगा और इन पर १८,६८१ मिलियन डालर खर्च होंगे। अमेरिका की सबसे प्रसिद्ध बहुमुखी योजना 'टैनेन्सी घाटी योजना' है जिसके अन्तर्गत टैनेन्सी नदी का जो पानी पहले इकट्ठा होकर खेती, घर-द्वार, स्कूलों और पुलों को नष्ट करता हुआ सर्वनाश का नंगा नाच किया करता था, उसी को आज २० बाँध बनाकर घेर लिया गया है और २० नालों में भर दिया गया है। इस योजना में कुल ८० करोड़ डालर की पूँजी लगाई गई है और यह योजना १४ वर्षों में तैयार हुई है। इस योजना के अन्तर्गत आज २५ लाख किलोवाट बिजली तैयार होती है जिससे अब तक कोई २ करोड़ ४० लाख डालर की आय हो चुकी है। सच तो यह है कि टैनेन्सी घाटी योजना ने लाखों व्यक्तियों के जीवन में विचित्र तब्दीली पैदा करदी है और देश को समृद्ध बना दिया है।

भारत सरकार ने भी अब देश की जल सम्पत्ति का विदोहन करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। देश के भिन्न-भिन्न भागों में कोई १३५ योजनाओं पर काम हो रहा है। इनके अतिरिक्त १२२ योजनाएं ऐसी हैं जिन पर या तो जाँच-पड़ताल हो रही है और या जो पूँजी के अभाव के कारण अधूरी पड़ी हैं। अनुमान है कि इन २५७ योजनाओं पर सरकार कोई १६०० करोड़ रुपया व्यय करेगी। उपर्युक्त १३५ योजनाओं में ११ बहुमुखी योजनाएं हैं, ६० योजनाएं ऐसी हैं जिनके अन्तर्गत केवल सिंचाई का कार्य पूरा होगा और ६४ योजनाएं जल विद्युत निर्माण करने की योजनाएं हैं। १३५ योजनाओं में १२ योजनाएँ ऐसी हैं जिनमें से प्रत्येक पर १० करोड़ रुपये से अधिक राशि व्यय होने की आशा है। १९४९-५० में नदियों की योजनाओं पर सरकार ने कोई ३६,४६,००,००० रु० व्यय किये थे। अब १९५०-५१ में कोई ७८,५६,००,००० रुपये व्यय होने का अनुमान है। १९५०-५१ में किए जाने वाले कुल खर्चे का ३७ प्रतिशत केन्द्रीय सरकार व्यय करेगी और शेष राशि १६ राज्य सरकारें देंगी। अनुमान है कि इसी वर्ष से इन योजनाओं से मिलने वाला लाभ मिलना आरम्भ हो जाएगा। परन्तु पूरा-पूरा लाभ तब तक नहीं मिल सकेगा जब तक कि ये योजनाएँ पूरी न हो जाएँ। उपरिलिखित १३५ योजनाओं से प्रति वर्ष देश को जो लाभ

होगा वह इस प्रकार है :—

वर्ष	सींचित भूमि में बढ़ोत्तरी (दस लाख एकड़)	खाद्यान्न मे बढ़ोत्तरी (दस लाख टन)	जल विद्युत में बढ़ोत्तरी (किलोवाट)
१९५१—५२	०·६	०·२	—
१९५२—५३	१·१	०·४	३५१०००
१९५३—५४	२·०	०·७	५५४०००
१९५४—५५	४·३	१·४	५६६०००
१९५५—५६	५·५	१·८	६३६०००
१९५६—५७	६·७	२·२	७०८०००
१९५७—५८	७·५	२·५	७९१०००
१९५८—५९	८·५	२·८	८१७०००
१९५९—६०	९·२	३·१	९१००००
अन्त में	१२·९	४·३	१९९६०००

इस प्रकार इन योजनाओं के द्वारा १९५१-५२ में २ लाख टन अधिक अन्न पैदा होगा और १९५४-५५ तक १४ लाख टन तथा १९५९-६० तक ३० लाख टन अन्न अधिक पैदा हो सकेगा। अनुमान है कि इन योजनाओं के द्वारा देश में ४३ लाख टन अधिक अन्न पैदा किया जा सकेगा। इसी प्रकार अनुमान है कि कुल २५७ योजनाओं के पूर्ण होने पर देश में ४२ मिलियन एकड़ अधिक भूमि पर सिंचाई हो सकेगी। इस प्रकार देश का वर्तमान खाद्य संकट ही नहीं दूर होगा वरन् देशवासियों के जीवनस्तर में भी उन्नति होगी। इन योजनाओं पर जो राशि व्यय होगी वह हमारी राष्ट्रीय पूँजी का एक ऐसा विनियोग (Investment) होगा जिससे आगे आनेवाली संतान को दीर्घ काल तक लाभ मिलता रहेगा। अगस्त १९४७ से १९५१ के अन्त तक अन्न आयात करने से ५४३ करोड़ रुपये का व्यय अनुमान किया गया है। यह हमारी विदेशी मुद्रा की कमाई का एक बहुत बड़ा भाग है जो हमारी आर्थिक विकास की किसी अन्य योजना पर व्यय करने से अधिक लाभदायक हो सकता था। परन्तु अन्न

आयात करने में ही यह राशि समाप्त हो गई। अब अनुमान है कि नदी घाटी विकास की १३५ योजनाओं पर लगभग ५६० करोड़ रुपये व्यय होंगे। यह व्यय एक प्रकार का दीर्घकालीन विनियोग होगा जिसका फल भविष्य में देश को मिलता रहेगा। यदि अब तक अन्न आयात पर व्यय की गई राशि इन योजनाओं में लगाई जाती तो देश का बहुत कुछ हित हो सकता था।

नदोन्नति की भिन्न-भिन्न योजनाएँ अब केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारों तथा राज्य संघ सरकारों के नियन्त्रण में चल रही हैं। कुछ बहुमुखी विशाल योजनाएँ, जिन पर हमारे देश की आशाएँ केन्द्रित हैं, इस प्रकार हैं :—

दामोदर घाटी योजना—दामोदर घाटी योजना अमेरिका की टेनेसी घाटी योजना के आधार पर कार्यान्वित की जा रही है। योजना का प्रधान उद्देश्य पश्चिमी बंगाल में दामोदर नदी की भयंकर बाढ़ों से दामोदर घाटी प्रदेश की रक्षा करना है। बाढ़ नियन्त्रण के अतिरिक्त इससे भूमि सिंचन का काम भी लिया जावेगा। इस योजना पर ५५ करोड़ रुपये खर्च होने का अनुमान है। इसमें से २८ करोड़ बिजली के उत्पादन के लिये, १३ करोड़ सिंचाई के लिए और १४ करोड़ बाढ़ नियन्त्रण पर खर्च होंगे। इस योजना से बर्दवान, पुरी व हावड़ा जिलों में कोई ७ लाख ६० हजार एकड़ भूमि में सिंचाई होने लगेगी। इससे दो लाख किलोवाट तक बिजली पैदा की जा सकेगी। योजना १० वर्षों में समाप्त होने का अनुमान है। योजना के अन्तर्गत दामोदर नदी पर आठ बाँध बनाये जाएँगे जिन पर जल विद्युत बनेगी। इसके दो सहायक केन्द्र ऐसे होंगे जिनमें २ लाख ४० हजार किलोवाट बिजली बनाने की शक्ति होगी। इसके अतिरिक्त एक थर्मल शक्ति केन्द्र भी होगा। इस केन्द्र को पूरा करने के लिए सरकार ने विश्व बैंक से १८·५ मिलियन डालर का एक ऋण लिया है। आशा है यह केन्द्र १९५२ के अन्त तक कार्य करने लगेगा। इस योजना को पूरा करने के लिये १९४८ में एक कानून बनाकर दामोदर घाटी कार्पोरेशन बना दिया गया है जिसके प्रबन्ध में यह काम हो रहा है। योजना पूरी होने पर दामोदर नदी में आने वाली बाढ़ को रोका जायगा और सिंचाई के लिए नहरें निकाली जा सकेंगी; जल विद्युत भी बनेगी और आने-जाने की सुविधाएँ भी मिल सकेंगी।

महानदी घाटी योजना—उड़ीसा म महानदी पर तीन बाँध बनाये जाएंगे । इनके तैयार होने पर लगभग ११ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाइ होगी और ३ लाख ५० हजार किलोवाट बिजली बनने लगेगी। तब इस नदी म नावें भी चलाई जा सकेंगी । इस योजना म इतनी अमित आशाएँ हैं कि लोग उड़ीसा को अभी से भारत का "यूक्रेन" कहने लगे हैं । अनुमान है कि इस योजना पर लगभग ४६ करोड़ रुपये व्यय होंगे । योजना समाप्त होन पर ३ लाख ४० हजार टन अन्न तथा ३४ हजार टन अन्य व्यापारिक कच्चा माल पैदा किया जा सकेगा ।

भाखरा नागल योजना—पूर्वी पंजाब की दो सम्मिलित योजनाएँ नागल बाँध योजना तथा भाखरा योजनाएँ हैं । नागल विद्युत योजना के अनुसार नागल स्थान पर सतलज नदी के आर पार एक बाँध बनाया जायगा और एक नहर निकालने की योजना भी है । इस नहर के किनारे चार बिजलीघर बनाये जायेंगे । अनुमान है कि इन योजनाओं से लगभग ३६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाइ होगी जिसमें ११ लाख ३० हजार टन अन्न और ८ लाख रुई की गाँठें अधिक उत्पन्न की जा सकेंगी । यह भी अनुमान है कि इस योजना म ४ लाख किलोवाट बिजली पैदा की जा सकेगी जिससे पंजाब, राजस्थान, देहली, उत्तर प्रदेश तथा पूर्वी पंजाब रियासती सघ को लाभ होगा ।

इन विशाल बहुमुखी योजनाओं के अतिरिक्त देश में ऐसी अनेक योजनाएँ हैं जो प्रान्तीय सरकारों के तत्वाधान में कार्यान्वित हो रही हैं । इन योजनाओं में प्रधान योजनाएँ इस प्रकार हैं :—बिहार में कोसी बाँध की योजना, मध्य प्रदेश तथा बम्बई में नर्वदा, ताप्ती, साबरमती तथा बाण गगा की योजनाएँ, उत्तर प्रदेश में चम्बल तथा सोन घाटी की योजना, रिहाण्ड नायर बाँध तथा गगा बाँध की योजनाएँ, मद्रास में रामपद सागर तुङ्गभद्रा की योजनाएँ, आदि, आदि ।

सतोष की बात यह है कि राष्ट्र इस समय बहुमुखी योजनाओं का जितना पक्षपाती है उतना कभी नहीं रहा । सरकार ने इन बहुमुखी योजनाओं का अनुसंधान करके केवल भयकर बाढ़ो से ही देश की रक्षा नहीं सोची है वरन् प्रति वर्ष बढ़ती हुई अन्न की कमी को समस्या का स्थायी उपाय भी सोच निकाला

है। जल सम्पत्ति का विदोहन तो होगा ही, भूमि उपजाऊ बनेगी, अधिक अन्न उत्पन्न होगा, बिजली बनने लगेगी और नए-नए औद्योगिक केन्द्र स्थापित होंगे। कुछ योजनाएँ दो या तीन वर्ष में समाप्त होंगी, कुछ ५ वर्ष तक पूरी हो सकेंगी तथा कुछ ऐसी दीर्घकालीन योजनाएँ हैं जिनको समाप्त होने में १०–१५ वर्ष लग जाएँगे। परन्तु योजनाएँ निश्चय ही सफल होंगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। सभी बहुमुखी योजनाओं के पूर्ण हो जाने पर दो करोड़ ५० लाख एकड़ अधिक भूमि पर सिंचाई होगी और ४० लाख किलोवाट बिजली अधिक तैयार की जाएगी। देश को इन योजनाओं से अपूर्व लाभ होगा और औद्योगिक ।रकाम की कठिनाई तथा अन्न की विकट समस्या स्थायी रूप से हल हो जायगी।

४—भारत में खेत-मजदूरों की समस्या

हमारे देश में अभी तक उन करोड़ों खेत मजदूरों की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने का प्रयत्न नहीं किया गया जिनके पास कृषि करने के लिए भूमि नहीं है और जो मजदूरी करके अपनी उदरपूर्ति करते हैं। आज जब कि देश में अन्न-सकट है, देश का विभाजन हो जाने के कारण खाद्य पदार्थों की दृष्टि से भारत की स्थिति और भी खराब हो गई है और पटसन तथा कपास जैसे आवश्यक औद्योगिक कच्चे माल का भी देश में टोटा है, तब हमें अपनी कृषि में समूल परिवर्तन करने होगे। यदि हमने अपने कृषि धन्धे में क्रान्तिकारी परिवर्तन न किये और अपने भारतीय किसान को पुराने ढंग से अवैज्ञानिक खेती करने दी तो न हम अपनी बढती हुई जनसख्या का जीवन निर्वाह ही कर सकेंगे और न अपने धन्धा को उन्नत बना सकेंगे। हमें अपनी कृषि में मूलभूत और क्रान्तिकारी परिवर्तन करने ही होंगे। शुद्ध आर्थिक दृष्टि से ही खेत-मजदूरों की आर्थिक व्यवस्था सुधारना आवश्यक है। आज जिस अवस्था मे खेत मजदूर रह रहा है उस अवस्था मे रहकर वह कभी भी वैज्ञानिक कृषि के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। मानवीय नीति और आर्थिक हित दोनों ही दृष्टिकोणों से हमारे खेत मजदूरों की समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण है।

खेत मजदूरों का एक बड़ा वर्ग, जो आज हम अपने गाँवों में देखते हैं, हमारी आर्थिक हीनता का परिणाम है। पिछले वर्षों में भारत की जनसख्या तेजी से बढती रही। ज्यों-ज्यों जनसख्या बढी त्यों त्यों विदेशी प्रतियोगिता के कारण देशी कुटीर धन्धों की अवनति होने लगी। आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योग इस तेजी से नहीं बढे कि उनमें देशी कुटीर धन्धों से निकाले गए कारीगर काम पा सकते। अत जनसंख्या का भार एकमात्र कृषि धन्धे पर ही पड़ता गया। जहाँ १६०१ म संगठित उद्योगों मे काम करने वाले मजदूरों की संख्या ५ लाख थी वहाँ ४० वर्ष के पश्चात् १६४१ मे वह बढकर केवल २२ लाख हो पाई। इसका अर्थ यह है कि सगठित उद्योगों में जनसख्या की

वृद्धि की तुलना में बहुत कम लोग काम पा सके। कुटीर-धन्धों के नष्ट हो जाने के कारण तथा जनसंख्या की वृद्धि के कारण कृषि पर निर्भर रहने वालों की संख्या शीघ्रगति से बढ़ने लगी। यह बात नीचे लिखी तालिका से स्पष्ट होती है:—

वर्ष	नगरों में रहने वाली जनसंख्या का प्रतिशत	कृषि में लगी हुई जनसंख्या का प्रतिशत	खेत-मजदूरों की संख्या
१९०१	९.९	६५.८	२०१ लाख
१९११	९.४	७१.१	२५९ ,,
१९२१	१०.२	७२	२१७ ,,
१९३१	११.१	७४.८	२४९ ,,
१९४१	१२.९	७८.६	२५८ ,,

कृषि पर निर्भर रहने वाली जनसंख्या की वृद्धि होने का परिणाम यह हुआ कि भूमि का अधिकाधिक बँटवारा होता गया और छोटे तथा छिटके खेतों की समस्या ने भीषण रूप धारण कर लिया। इन छोटे-छोटे खेतों पर न तो आधुनिक ढंग से ही खेती हो सकती है और न उन पर किसान को पूरा काम ही मिलता है। उसका बहुतसा समय बेकार रहता है। इस कारण कृषक की वार्षिक आय इतनी कम होती है कि उस आय पर उसके परिवार का जीवन निर्वाह नहीं हो पाता। उद्योग-धन्धों की कमी के कारण छोटे-छोटे जमींदार भी विवश होकर खेती करने लगे। १९०१में प्रति १०० किसानों के पीछे ५२ छोटे जमींदार स्वयं खेती करते थे। किन्तु १९३१ में १०० काश्तकारों के पीछे ७१ छोटे जमींदार स्वयं खेती करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि किसानों के हाथ से भूमि निकलती गई और उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ती गई और वे ऋणी बनते गये। १९३८-३९ में ग्रामीण ऋण कोई १८०० करोड़ से भी अधिक था। इस भीषण ऋण के परिणामस्वरूप किसान अपनी भूमि से हाथ धो बैठा और बहुत से छोटे-छोटे कृषक खेत-मजदूर बन गये। खेत-मजदूर नाम का एक वर्ग गाँवों में दिखाई पड़ने लगा।

इन खेतों-मजदूरों के पास खेती नहीं होती। यह लोग केवल जुताई, बुवाई तथा फसल काटने के समय, वर्ष में कुछ महीने, खेतों में काम करते हैं और शेष

दिनों में लकड़ी इकट्ठी करके, घास छीलकर, समीप के नगरों और कस्बों मे मजदूरी इत्यादि करके अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। उन्हें भर पेट अनाज तक नहीं मिल पाता। उनकी दशा बहुत शोचनीय होती है। ऐसा मालूम होता है कि संसार मे भारतीय खेत-मजदूर से अधिक निर्धन जीवन व्यतीत करनेवाला वर्ग शायद ही हो। खेत मजदूरों को उन छोटे-छोटे किसानो की प्रतिस्पर्धा का भी सामना करना पड़ता है जिनके पास ५–१० बीघा भूमि है किन्तु वह भूमि न तो उनका पालन कर सकती है और न उनको पूरा काम दे सकती है। अत अपने अवकाश के समय में ये लोग भी खेत मजदूरों की सख्या बढाते हैं। यदि इन अर्ध खेत-मजदूरो को भी सम्मिलित कर दिया जाय तो खेत-मजदूरो की सख्या देश मे सात करोड़ से कम न होगी।

१६३६ में जब द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ तो खेत मजदूरों के लिए एक नया अवसर आया। वे लोग सेना में भर्ती होने लगे तथा उन्हें युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री बनाने के उद्योग धन्धों मे काम मिलने लगा। परिणाम यह हुआ कि खेत-मजदूर वर्ग सेना और बड़े-बड़े उद्योग केन्द्रों की ओर दौड़ा। जैसे-जैसे युद्ध लम्बा होता गया, गाँवों मे खेत-मजदूरो की मजदूरी भी बढती गई। जहाँ युद्ध के पूर्व खेत-मजदूर को गाँव मे तीन आने या चार आने प्रति दिन मिलते थे वहाँ १६४६ में पुरुष को १ रुपया, स्त्री को १२ आना और बालकों को आठ आने प्रति दिन मिलने लगा। परन्तु खेत-मजदूरों की आर्थिक स्थिति मे इससे कोई विशेष अन्तर न पड़ा क्योंकि उन्हें अपने भोजन तथा कपड़े मोल लेने पड़ते थे और इनके मूल्य युद्धकाल मे आकाश को चढ गये थे। फिर भी युद्ध के कारण खेत-मजदूरो को काम की कमी नहीं रही। परन्तु युद्ध समाप्त होने के पश्चात फिर वही स्थिति सामने उठ खड़ी हुई है। हो सकता था कि देश में उद्योग धन्धों को उन्नति होती तो इन्हें वहाँ कुछ काम मिल जाता परन्तु ऐसा न हो सका। इसके अतिरिक्त बहुत बडी सख्या में शरणार्थी औद्योगिक तथा व्यापारिक केन्द्रो मे बेकार पड़े हैं। उनके रहते खेत-मजदूरो के लिए काम मिलने की अधिक सम्भावना नहीं। साथ ही साथ न तो कृषि-धन्धे की उन्नति की दृष्टि से और न राष्ट्र के हित मे यह बात ठीक जान पड़ती है कि इतनी बड़ी सख्या में

खेत-मजदूरों को गाँवों से धकेल कर औद्योगिक केन्द्रों मे लाया जाय।

जहाँ तक बड़े-बड़े कारखानों का प्रश्न है उनकी सख्या यदि तेजी से बढाई भी जाय तो भी वे देश की बहुत थोड़ी जनसंख्या को काम दे सकेंगे। आधुनिक विशाल कारखानो की स्थापना हमारे देश मे १८६० के पश्चात से आरम्भ हुई है। आज लगभग ६० वर्षों के पश्चात जितने भी कारखाने, रेलवे वर्कशाप, चाय, कहवा और रबर के बाग और कारखाने हैं उनमे देश की डेढ़ प्रतिशत जन-सख्या ही काम पा सकती है। ऐसी दशा मे यह आशा करना कि बड़े-बड़े कार-खानों मे खेत-मजदूरों को पर्याप्त कार्य दिया जा सकता है, दुराशा मात्र है। फिर आज तो बेकार शरणार्थियों को काम देने की समस्या भी हमारे सामने उठ खड़ी हुई है। अतएव खेत-मजदूरों को बड़े-बड़े कारखानों मे काम दिला सकने की न तो सम्भावना ही हो सकती है और न राष्ट्र के आर्थिक हित के दृष्टिकोण से कल्याणकारी ही है। ऐसी दशा में खेत-मजदूरों की समस्या का हल हमें गाँव के आर्थिक संगठन मे परिवर्तन करके ही निकालना होगा।

खेत-मजदूरों की स्थिति वास्तव मे दासों की भाँति है। उनमें से अनेक तो स्थायी रूप से जमींदारों के ऋणी रहते आये हैं और रात दिन उनकी हवेली या खेतों मे काम करते रहते हैं। अधिकाश खेत-मजदूर सम्पन्न किसानों तथा जमींदारों से ऋण ले लेते हैं और जुताई, बुवाई और फसल काटने के लिए अपने श्रम को बन्धक स्वरूप रख देते हैं। गाँवों मे यही समय ऐसा होता है जब श्रम की आवश्यकता होती है और मजदूरी अच्छी मिल सकती है। उस समय गाँवों मे मजदूरों की माँग होती है परन्तु उसी समय ऋणी खेत-मजदूर को नाम मात्र की मजदूरी पर अपने ऋणदाता के यहाँ काम करने पर विवश होना पड़ता है। इस विषय में जो कुछ भी खोज की गई है उससे पता चलता है कि लगभग ५० प्रतिशत खेत मजदूरों की यही दशा है। इनमें से १५ प्रतिशत मजदूरों को तो बोवाई और फसल कटने के अवसर पर केवल एक समय भोजन मिलता है, शेष ३५ प्रतिशत को भोजन के अतिरिक्त आना दो आना और दे दिया जाता है। कहने का अर्थ यह है कि इन खेत-मजदूरों को गाँव मे प्रचलित मजदूरी से बहुत कम मजदूरी मिलती है। जब खेतों मे काम नहीं होता तो बेचारे

मजदूर को यह मजदूरी भी नहीं मिलती और तब वह घास खोदकर, लकड़ी इकट्ठी करके, खाट बुनकर, डलिया बनाकर, आस-पास के नगरों में मजदूरी करके या भट्टों में काम करके अपना जीवन निर्वाह करता है। इन मजदूरों के पास इतना धन कभी नहीं इकट्ठा होता कि वे अपना ऋण चुका सकें। अत ऋण पर ब्याज इकट्ठा हो जाता है जिससे वे पीढी दर पीढी अपने मालिकों के दास बन कर जीवन यापन करते हैं। यह मजदूर केवल नाम मात्र को ही स्वतन्त्र होते हैं परन्तु इनकी अवस्था दासों से भी बुरी होती है। इन्हें गाँवों के सबसे गन्दे और बुरे स्थान पर बसाया जाता है। न इन मजदूरों का कोई सगठन होता है और न इनमें इतना ज्ञान ही होता है कि वे अपने अधिकारों की रक्षा कर सकें। परम्परा के अनुसार वह बिना विरोध किये ही अपने मालिकों की गुलामी करता रहता है। सगठित न होने के कारण वह कभी आर्थिक दशा को सुधारने का ध्यान भी नहीं करता। आज इस बात की आवश्यकता है कि सरकार इनकी आर्थिक स्थिति सुधारने की ओर ध्यान दे।

खेत-मजदूरों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए सबसे पहली आवश्यकता यह है कि इनकी न्यूनतम मजदूरी कानून द्वारा निर्धारित कर दी जाय जिससे इन्हें जीवन निर्वाह योग्य मजदूरी मिल सके। परन्तु जब तक हम कृषि पर निर्भर रहने वालों की सख्या कम नहीं कर देते, जब तक खेत मजदूरों को अन्य दूसरे काम दिलाने का प्रबन्ध नहीं होता और जब तक कृषि-धन्धा उन्नति करके लाभदायक नहीं बनता तब तक न्यूनतम मजदूरी कानून बनाने से कोई लाभ नहीं हो सकता। बात यह है कि यदि कृषि की अवस्था ऐसी ही गिरी रही तो कृषक न्यूनतम मजदूरी देने में असमर्थ रहेगा। साथ ही यदि खेत-मजदूर के लिए गाँवों में ही कोई अन्य काम न मिला तो वह कानून के द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी से कम मजदूरी पर ही काम करने को विवश हो जायगा। सरकार को यह भी देखना होगा कि कृषि की पैदावार का मूल्य एक साथ न गिरे। इस समय कृषि की पैदावार का मूल्य ऊँचा है अतएव सम्भव है किसान न्यूनतम मजदूरी दे भी सके परन्तु यदि कृषि की पैदावार का मूल्य एक साथ गिर गया तो किसान के लिए न्यूनतम मजदूरी देना असम्भव हो जायगा। हाँ, जब इस देश की कृषि में सुधार होगा, आधुनिक ढंग से कृषि होने लगेगी और कृषि का लागत व्यय

कम हो जायगा और लाभ अधिक होगा, उस समय किसान न्यूनतम मजदूरी देकर भी कृषि की पैदावार को सस्ते भावों पर बेच सकेगा। हर्ष की बात है कि सरकार ने न्यूनतम मजदूरी बिल पास कर दिया है, परन्तु केवल कानून बनाकर ही खेत-मजदूरों की दशा नहीं सुधारी जा सकती। इसके लिए तो हमें गांवों का संगठन ही बदलना होगा। यदि ऐसा न किया जा सका तो इन मजदूरों की दशा सुधारनी सम्भव नहीं हो सकती।

आवश्यकता से अधिक खेत-मजदूरों के लिए काम देने और दिलाने की पहली आवश्यकता है। इसके लिए राज्य सरकारों को चाहिए कि वे बंजर भूमि को तोड़कर कृषि योग्य बनाकर खेत मजदूरों को दें। उस भूमि की सिंचाई के साधन उपलब्ध करें और उस भूमि पर खेत-मजदूरों के सहकारी फार्म स्थापित करें। सरकार को इस नई भूमि को व्यक्तियों में बांटने की भूल नहीं करनी चाहिए। यदि छोटे छोटे खेत मजदूरों को मिल भी गए तो वे अन्य किसानों की ही भाँति पुराने ढंग की खेती करेंगे। आवश्यकता तो इस बात की है कि सरकार बंजर भूमि पर सहकारी फार्म स्थापित करके खेत-मजदूरों को उसका सदस्य बनाकर बसा दे। चूंकि खेत मजदूरों के पास आज भूमि नहीं है इसलिए वे सहकारी फार्मों के सदस्य बनने में कोई आपत्ति न करेंगे। राज्य सरकारों को कृषि यन्त्र तथा खाद इत्यादि उचित मूल्य पर देकर इन फार्मों की सहायता करनी चाहिए। इस प्रकार सहकारी फार्म बनने से दो लाभ होंगे; एक, फार्मों में वैज्ञानिक कृषि की जा सकेगी; दूसरे, खेत-मजदूरों को बसाया जा सकेगा। भविष्य में यदि ये सहकारी फार्म लाभदायक सिद्ध हुए तो अन्य किसानों को सहकारी फार्म स्थापित करने के लिए तैयार किया जा सकेगा। जो किसान सहकारी फार्म स्थापित करें उन्हें सरकार लगान तथा सिंचाई में छूट देकर तथा दस फार्मों के बीच एक बीज तथा खाद तथा यन्त्र गोदाम स्थापित करके उन्हें उचित मूल्य पर उत्तम बीज, खाद तथा आधुनिक यन्त्र किराये पर देकर उनकी सहायता कर सकती है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जब तक भारतीय किसान उसी प्रकार पुराने ढंग से छोटे और छिटके ढंग पर कृषि करता रहेगा तब तक न तो हम देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए यथेष्ट भोजन दे सकेंगे और न अपने उद्योगों के लिए आवश्यक मात्रा में कच्चा माल ही पैदा कर सकेंगे। केवल न्यूनतम मजदूरी

कानून बन जाने पर भी कृषि को उन्नत किए बिना खेत मजदूरों की अवस्था नहीं सुधारी जा सकती। सहकारी फार्मों द्वारा कृषि करने के लिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि बिखरे हुए खेतों की चकबन्दी की जाय और प्रत्येक किसान को कम से कम आर्थिक जोत दे दी जाय। बिना चकबन्दी किए और आर्थिक जोत किसानों को दिये खेतों की तनिक भी उन्नति नहीं हो सकती। अन्त में हमें सहकारी कृषि को ही अपनाना होगा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है खेत मजदूर की समस्या केवल बंजर भूमि पर बसा देने से हल नहीं की जा सकती। उसके लिए हमें सहायक और पूरक धन्धे स्थापित करने होंगे। उपभोग्य पदार्थों को उत्पन्न करने वाले धन्धों का विकेन्द्रीकरण करके उनको छोटा रूप देकर कुटीर धन्धों के रूप में उन्हें गाँवों में स्थापित करना होगा परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि आज की तरह वे धन्धे पुराने ढँग से ही चलते रहें। इसके लिए देश में जल विद्युत की उन्नति करनी होगी और बड़े-बड़े बिजलीघर स्थापित करके ग्रिड प्रणाली के अनुसार समस्त देश में बिजली की लाइनों का एक जाल-सा बिछा देना होगा और हलके छोटे यन्त्रों का निर्माण करा कर उनका गाँवों में प्रचार करना होगा। इन कुटीर-धन्धों का संगठन भी सहकारी समिति के आधार पर करना होगा और तभी यह सफल हो सकेंगे। सन्तोष की बात है कि सरकार जल विद्युत की ओर विशेष ध्यान दे रही है। जब ये योजनाएँ बनकर समाप्त होंगी तो इनकी बिजली से कुटीर धन्धों तथा कृषि की आशातीत उन्नति होगी जिससे खेत-मजदूरों और छोटे किसानों को जीवनयापन के पर्याप्त साधन मिल सकेंगे।

खेत-मजदूरों को काम दिलाने का एक यह भी ढङ्ग हो सकता है कि उनकी सहकारी श्रमिक समितियाँ बनाई जाएँ और जब खेती में बेकारी हो अर्थात खेत मजदूरों को खेतों पर काम न मिले उन महीनों में ये श्रमिक समितियाँ डिस्ट्रिक्ट बोर्डों, नहर विभाग तथा नगरपालिकाओं और अन्य विभागों से सड़क कूटने, मिट्टी खोदने तथा अन्य कार्यों के ठेके लें। ठेके देते समय सरकार इन समितियों का विशेष ध्यान रक्खे। इटली में ऐसी श्रमिक सहकारी समितियाँ हैं जो बड़े बड़े ठेके लेकर अपने सदस्यों को काम देती हैं। भारत में भी खेत मजदूरों को इस

प्रकार सहकारी समितियों में संगठित करने की आवश्यकता है जिससे बुवाई और फसल कट चुकने के पश्चात, जब खेत-मजदूरों को खेतों पर काम न मिलता हो, काम दिया जा सके।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय तक खेत मजदूरों की दयनीय दशा की ओर सरकार ने कभी ध्यान ही नहीं दिया परन्तु स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात राष्ट्रीय सरकार ने इन हतभागी मजदूरों की अवस्था सुधारने की ओर कुछ प्रयत्न किए हैं। १६४८ में न्यूनतम मजदूरी कानून पास कर दिया गया तथा देश भर में खेत-मजदूरों की आय-व्यय सम्बन्धी, जीवन-व्यय सम्बन्धी तथा मजदूरों के ऋण सम्बन्धी आँकड़े प्राप्त करने के लिए सरकार ने १६४६ में देश के विभिन्न राज्यों के २७ ग्रामों में खेत-मजदूरों की जाँच पड़ताल की। विभिन्न राज्यों में गांवों की जाँच पड़ताल इस प्रकार की गई :—

राज्य	गाँवों की संख्या	राज्य	गाँवों की संख्या
आसाम	२	उत्तर प्रदेश	८
पश्चिमी बंगाल	५	मध्य प्रदेश	२
बिहार	४	मद्रास	३
उड़ीसा	२	मैसूर	१

सरकार ने इन गाँवों में जाँच पड़ताल करके खेत-मजदूरों की वास्तविक अवस्था का पता लगा लिया है। सरकार का कहना है कि इस जाँच पड़ताल के आधार पर देश भर में कृषि-मजदूरों की आर्थिक स्थिति जानने के लिए एक वृहद योजना बनाएगी। आशा है इस योजना के बनने पर देश में खेत-मजदूरों की समस्या का हल निकाला जा सकेगा।

५—ग्रामों का पुनर्निर्माण

अज्ञान एवं दरिद्रता भारतीय ग्रामीण समाज के भीषण अभिशाप हैं। रोग, कलह, गन्दगी, विद्रोह एवं अशिक्षा भारतीय ग्रामों को ज्वर की भाँति जकड़े हुए हैं। इतिहास में जिन गाँवों में हम स्वर्ग के वातावरण का वर्णन पाते हैं वे ही ग्राम आज नरक बने हुए हैं। यदि ग्रामीण जनता के जीवन-स्तर का अध्ययन किया जाय तो एक बड़ी निराशा होती है। युद्ध पूर्व-काल में भारतीय ग्राम की प्रति व्यक्ति औसत आय ४० रु० वार्षिक से कुछ ही अधिक थी। यद्यपि युद्ध के पश्चात अब उनकी आय में कुछ वृद्धि की सम्भावना मालूम होती है परन्तु वस्तुओं के मूल्य की वृद्धि को ध्यान में रखते हुए उनकी आय में कोई विशेष बढ़ोत्तरी नहीं मालूम होती। मुद्रा स्फीति के कारण वस्तुओं के भाव पहले की अपेक्षा अब चौगुने पँचगुने हैं। अत. वस्तुओं के मान दंड से देखने पर आय म अधिक वृद्धि नहीं हुई। यद्यपि कुछ बड़े बड़े कृषकों को युद्ध काल में काफी आमदनी हुई है परन्तु अधिकांश कृषक एवं ग्रामीण मजदूर पहले की अपेक्षा और भी अधिक गए बीते हैं। हमारे देश की प्रति व्यक्ति वार्षिक औसत आय की तुलना यदि अन्य देशों की औसत आय से की जाय तो बड़ी निराशा होती है। युद्ध से पूर्व इंगलैण्ड और अमेरिका की औसत आय ९८० तथा १४०६ रुपये प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष थी। अत यह स्पष्ट है कि भारत के गाँवों का जीवन-स्तर बहुत गिरा हुआ है। अधिकांश ग्रामीण तो कभी भी भर पेट और पौष्टिक भोजन नहीं पाते। वे जेठ की चमकती दुपहरी में, भादों की गम्भीर वर्षा म तथा शिशिर की ठिठुर में तपस्वियों के भाँति अपनी जर्जरित झोपड़ियों में पड़े-पड़े जीवन के क्षणों को व्यतीत करते हैं। नंगे सिर, नंगे पैर लाखों यात्री जनवरी के भीषण शीत में गंगा में स्नान करते हुए देखे जाते हैं। इनमें अधिकांश ग्रामीण होते हैं। इतना कष्ट वे धार्मिक विश्वासों पर उठाते हैं। युग-युगों की दीनता में उनका संतोष निहित है।

हमारे गाँवों में शिक्षा का स्तर बहुत शोचनीय है। गाँव वालों को अपने पत्रों का हाल जानने के लिए मीलों जाना पड़ता है जहाँ वे शिक्षित व्यक्ति से अपने पत्रों को पढ़वा सकें। उन्हें पत्रों को लिखने तो कौन कहे, वे अपने हस्ताक्षर भी नहीं कर सकते। भारत की आत्मा गाँवों में है, अतः उन्हें इतनी पिछड़ी दशा में पड़े रहने देना अत्यन्त खेद और क्षोभ का विषय है। राष्ट्रीय जागरण के प्रभात में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राज्य तथा समाज सुधारकों का सबसे पहला कर्तव्य यह है कि भारतीय ग्रामों का पुनरुद्धार करें। हमारे देश की कुल जनसंख्या का अधिकांश भाग गाँवों में बसता है। अतः जब तक इन गाँवों की अवस्था नहीं सुधारी जायगी तब तक आर्थिक या सामाजिक पुनर्निर्माण की कोई भी योजना पूर्ण नहीं हो सकती। गाँवों की उपेक्षा करके राष्ट्र के औद्योगीकरण की बड़ी से बड़ी योजनाएं भी देश को उन्नत नहीं बना सकतीं। ग्रामीणों का प्रधान व्यवसाय कृषि है। अतः सरकार का पहला कर्तव्य कृषि में सुधार करना है। संसार के अन्य देशों की तुलना में भारत की प्रति एकड़ उपज बहुत कम है। उदाहरणार्थ, भारत में कपास १०० पौंड प्रति एकड़ पैदा होती है जब कि अमेरिका में २५० पौंड प्रति एकड़ तथा मिश्र में ४५० पौंड प्रति एकड़ पैदा होती है। इसके अतिरिक्त भारत में ईख १३ टन प्रति एकड़ पैदा होती है जब कि जावा में ईख की उपज ५० टन प्रति एकड़ है। क्या भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए, जहाँ प्रत्येक ४ व्यक्तियों में तीन व्यक्ति कृषि व्यवसाय में लगे हुए हैं, यह लज्जा और शोक का विषय नहीं है कि इतना विशाल देश पूरी जनसंख्या की अन्न समस्या को भी सुलझाने में सफल न हो सके? इस असफलता का रहस्य हमारी कृषि के कुछ भयानक दोषों में छुपा हुआ है। छोटे और छिटके खेत, विषम भूमि स्वामित्व, युगों का ऋण-भार, सिंचाई के साधनों का अभाव, भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए उपयोगी खादों की कमी, फसल नियन्त्रण तथा उचित रूप से विभिन्न प्रकार की फसलों को आवश्यकतानुसार उगाने की योजनाओं का अभाव, अस्वस्थ और रोगी पशु-धन तथा द्वेषपूर्ण ग्रामीण जीवन, गाँवों की जनता की गरीबी के कारणों में प्रधान हैं। दीन हीन और उपेक्षित गाँववासियों की जड़ में यह दोष घुन की तरह लगे हुए हैं जो उनके जीवन स्तर एवं आर्थिक स्थिति को खोखला बना

रहे हैं। जब तक भारतीय कृषि इन दोषों से मुक्त नहीं होती तथा सहकारी कृषि का प्रचलन नहीं होता तब तक जनता की दीन हीन दशा नहीं सुधारी जा सकती।

जहाँ तक भूमि-स्वामित्व का प्रश्न है हमारा विश्वास है कि कृषकों को भी यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए। परन्तु केवल जमींदारी समाप्त करके ही हम समस्या हल नहीं कर सकते। युग की पुकार है कि छोटे और छिटके खेतों की चकबन्दी करके सामूहिक या सहकारी ढंग पर खेती की जाय। ऐसी बंजर भूमि जिस पर खेती की जा सकती है वैज्ञानिक साधनों के बिना उपजाऊ नहीं बनाई जा सकती। सहकारी समितियों द्वारा सामूहिक ढंग पर कृषि करने की व्यवस्था करना तथा वैज्ञानिक साधनों एवं उचित मात्रा में खाद का प्रबन्ध करना सरकार का ही काम है।

विदेशों के आँकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि जिस देश में जनसंख्या का अधिकांश भाग केवल कृषि व्यवसाय पर ही निर्भर रहेगा वहाँ की औसत आय नीची रहेगी। इसके विपरीत जहाँ सम्पूर्ण जनसंख्या का कुछ भाग कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योग धन्धों में लगा रहेगा उस देश की औसत आय कृषि प्रधान देश की अपेक्षा कुछ अधिक रहेगी। प्रो० लुई एचरोन ने लिखा है "चीन की प्रति व्यक्ति औसत आय दूनी की जा सकती है यदि कार्यशील जन-संख्या का १५ प्रतिशत भाग कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योग धन्धों में लगा दिया जाय। इसके अतिरिक्त यदि १० प्रतिशत जनसंख्या अन्य पेशों में और लगा दी जाय तो औसत आय प्रति व्यक्ति तिगुनी की जा सकती है।" अतः राष्ट्र की बेकार जनसंख्या को उद्योग-धन्धों में लगाने की व्यवस्था करना सरकार का मुख्य कर्तव्य है। इस समय सारे देश में जल विद्युत शक्ति की योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। अतः घरेलू उद्योगों तथा अन्य प्रकार के उद्योग-धन्धों के प्रचार के लिए इस समय अच्छा अवसर और क्षेत्र प्राप्त है। घरेलू उद्योग-धन्धों की जड़ मजबूत करने के लिए सरकार को विद्युत शक्ति, कच्चा सामान, अर्थ व्यवस्था, विक्रय व्यवस्था आदि का प्रबन्ध करना आवश्यक है। सहकारी समितियों द्वारा यह कार्य बड़ी सरलता से हो सकता है। घरेलू उद्योग-धन्धों के द्वारा कृषि व्यवसाय पर निर्भर रहने वाली एक बहुत बड़ी जनसंख्या को काम मिल सकेगा।

गाँवों की सड़कों तथा नालियों की ओर ध्यान देना सरकार का मुख्य कर्तव्य है। इनके सुधार के लिए सरकार को आवश्यक अर्थ व्यवस्था करनी चाहिए। जब तक गाँवों की सड़कों का समुचित सुधार नहीं हो जाता तब तक भारतीय कृषि की उपज की बिक्री की समुचित व्यवस्था नहीं की जा सकती। यह काम भी सहकारी समितियों द्वारा सम्भव हो सकता है। सरकार को आदर्श ग्रामों, स्वच्छ नालियों तथा अच्छी सड़कों से पूर्ण आदर्श ग्रामों का निर्माण करना चाहिए। जिला बोर्ड के इन्जीनीयर की सेवाएँ ग्राम निवासियों को प्राप्त होती रहें। प्रत्येक गाँव में सर्व साधारण के उपयोग के लिए चरागाहों की व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें गाँव भर के पशु स्वतन्त्रता से चर सकें।

प्रत्येक गाँव में एक सहकारी समिति, पंचायत, प्राथमिक पाठशाला, वाचनालय तथा औषधालय होना अत्यावश्यक है। अँगरेजी राज्य काल में सारे शासन का केन्द्रीकरण हो गया था। अब उसके विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। गाँव-पंचायतों में गाँव के सभी लोगों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए और सभी कामों की देख-भाल करने का इन्हें अधिकार होना चाहिए। पारस्परिक मतभेदों एवं झगड़ों को सुलझाना, प्रत्येक वर्ग के सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों का आयोजन करना, गाँवों की सहकारी समिति का संचालन करना, प्रारम्भिक पाठशाला, वाचनालय तथा औषधालय का प्रबन्ध करना पंचायतों का मुख्य कर्तव्य होना चाहिए। ये पंचायतें गाँव की गलियों, सड़कों और नालियों की मरम्मत कराने में सहायता करें। गाँवों की सहकारी समितियाँ बहुमुखी सहकारी समितियों के आधार पर होनी चाहिएँ। बहुमुखी सहकारी समितियाँ ही हमारे लिए उपयोगी होंगी जहाँ ऋण का लेन-देन, वस्तु-विक्रय, बीज-वितरण आदि काम एक ही सहकारी समिति कर सके। गृह निर्माण तथा खेतों की चकबन्दी के लिए विशेष प्रकार की सहकारी समितियाँ बननी चाहिएँ। कृषक को अल्प-कालीन तथा दीर्घ-कालीन दोनों प्रकार के ऋण की आवश्यकता होती है। दीर्घ-कालीन ऋणों की पूर्ति के लिए भूमि बन्धक बैंक स्थापित होने चाहिएँ। प्रान्तीय सहकारी बैंकों का केन्द्रीकरण करके उन्हें रिजर्व बैंक से मिला देना चाहिए। इस प्रकार की योजनाओं से ग्रामीण जनता की अर्थ समस्याएँ बहुत कुछ हल हो सकेंगी।

प्राय ऐसा देखने म आता है कि राज्य सरकारा के तत्वाधान म राष्ट्र विकास सम्बन्धी अनेक विभाग काम करत है। उदाहरणार्थ, कृषि विभाग तथा सहकारी विभाग दोनों ही बीज गोदामो का प्रबन्ध प्रत्यक जिल म करते है। इनके अफसरा तथा निरीक्षकों के कार्यो का सम्बन्धीकरण करना परम आवश्यक है। यह अक्सर गाँवा की कृषि, जन्ममरण सम्बन्धी आँकड़े, कृषि पर निभर घरेलू उद्योग धन्धा, पानी के विकास की व्यवस्था, सड़कें और गलियो का प्रवन्ध, सिंचाई तथा पशुओं की समस्या तथा अन्य प्रकार की ग्राम समस्याओं को हल करने म उपयोगी और सहायक सिद्ध हो सकते हैं। ग्राम की पाठशाला का शिक्षक गाँव के पुनर्निर्माण म उपयोगी सिद्ध हो सकता है परन्तु अत्यन्त कम वेतन होने के कारण वह अन्य साधनो से अपनी जीविका कमाने का प्रबन्ध करता है और अपने कार्यों को भी ठीक प्रकार नहीं निभा पाता। सरकार को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

गाँवों के पुनर्निर्माण मे एक बड़ा कठिनाइ यह है कि गाँवो का शिक्षित और जाग्रत समाज गाँवों से दूर होता जा रहा है। उदाहरणार्थ, गाँव का जमादार गाँव म न बसकर शहरो की ओर दौड़ता है तथा शिक्षित लोग भी प्राय गाँवों को छोड़ शहरो म बसने लगे हैं। ऐसी दशा म गाँवों का पुनर्निमाण कौन करेगा? आज युग की पुकार है एक आवश्यकता है कि 'पुन गाँवों की ओर लौटो' आन्दोलन प्रारम्भ किया जाय, परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि गाँवो को शिक्षित समुदाय के रहने योग्य बनाया जाय। उन्हें गाँवो म स्वच्छता, प्रेम, चिकित्सा सम्बन्धी व्यवस्था तथा वाचनालय आदि की सुविधाएँ प्राप्त हो। गाँवो के पुनर्निर्माण म ये शिक्षित लोग बहुत सहायक सिद्ध हो सकते हैं। यदि ऐसा हुआ तो हम अपने गाँवो का पुनर्निर्माण कर गाँधी के रामराज्य की कल्पना को साकार बना सकेंगे।

६—देश की खाद्य-समस्या

गत अनेक वर्षों से हमारे देश में खाद्य-समस्या बनी हुई है। वैसे तो युद्ध-काल में भी सारे देश में अन्न की भारी कमी रही। बंगाल के अकाल को सहज ही नहीं भुलाया जा सकेगा। परन्तु वह सब उस समय की विदेशी सरकार की युद्धजनित राजनीति का परिणाम था। आज युद्ध समाप्त हुए कई वर्ष बीत गए, परन्तु अन्न का अभाव ज्यों का त्यों बना हुआ है। 'भारत कृषि-प्रधान देश है' 'भारत के साधन असीम हैं', 'भारत की भूमि सोना उगलती है' आदि सभी कुछ होते हुए भी देश में देशवासियों को खाने भर को अन्न नहीं मिल रहा तथा अन्य देशों पर आश्रित रहना पड़ रहा है। पिछले वर्षों में अन्न-उत्पादन की भारी कमी रही। मानसूनों के अभाव तथा नदियों की विकराल बाढ़ों ने तैयार फसलों को नष्ट कर दिया यह सत्य है; किन्तु इसके अतिरिक्त देश में भूमि की उत्पादनशक्ति भी क्षीण होती जा रही है। सिंचाई के उपयुक्त साधन न होने के कारण तथा वैज्ञानिक खाद एवं कृषि-यन्त्रों के अभाव के कारण कृषि की अवस्था गिरती ही जा रही है। देश के विभाजन से भी भारत संघ की खाद्य स्थिति पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। पाकिस्तान बन जाने के पश्चात् भी भारत को अविभाजित-भारत की लगभग ८० प्रतिशत जनसंख्या का पेट भरने का प्रबन्ध करना पड़ रहा है परन्तु उत्पादन की दृष्टि से भारत के हिस्से में केवल थोड़ा सा उपजाऊ भाग ही आया है जो इस भूमि पर निर्भर जनसंख्या को अपर्याप्त ही है। गेहूँ उपजाने-वाले क्षेत्र का केवल ६५ प्रतिशत तथा चावल उपजाने वाली भूमि का ६६ प्रतिशत भाग भारत की सीमा में है। विभाजन के फलस्वरूप समस्त सिंचित क्षेत्र का ६६ प्रतिशत भाग भारत के हिस्से में आया जिसमें से गेहूँ पैदा करने वाला भूमि-क्षेत्र तो केवल ५४ प्रतिशत ही रह गया है। इससे स्पष्ट होता है कि देश में खानेवाले व्यक्ति अधिक संख्या में हैं और अन्न उत्पन्न करने वाली भूमि थोड़ी मात्रा में है। फिर भी जो कुछ कृषि-योग्य भूमि है उसका पूरा विदोहन नहीं किया जाता। न खाद है, न अच्छे और उत्तम बीज हैं, न सिंचाई

के पर्याप्त साधन हैं और न कृषि-यन्त्रों का प्रयोग हो रहा है। भारत में अन्न उत्पादन मानसूनों की कृपा का पात्र रहा है। एक ओर तो अन्न की कमी बनी रही है और दूसरी ओर जन संख्या में वृद्धि होती रही है। आज परिस्थिति यह है कि देश की ४१ प्रतिशत जनता को निम्न तथा २० प्रतिशत जनता को निम्नतर श्रेणी का आहार मिलता है। सम्पूर्ण देश में केवल ३६ प्रतिशत ऐसे लोग हैं जिन्हें आवश्यक मात्रा में पेट भर खाना मिल पाता है। यही नहीं, हमारे देश में दूध का उपभोग औसतन प्रति दिन ७ औंस प्रति व्यक्ति है जब कि इंगलैंड में ३६ औंस प्रति व्यक्ति, डेनमार्क में ४० औंस प्रति व्यक्ति, न्यूजीलैंड में ५७ औंस प्रति व्यक्ति तथा फिन्लैंड में ६३ औंस प्रति व्यक्ति प्रति दिवस का औसत आता है।

अन्न की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए भारत सरकार ने पिछले वर्षों में हजारों टन अनाज विदेशों से आयात किया है। गत वर्षों में अन्न का आयात इस प्रकार रहा है —

वर्ष	अन्न का आयात (हजार टनों में)	मूल्य (करोड़ रुपयों में)
१९४४	६४९	१३·०
१९४५	८५०	२०·६
१९४६	२,२५०	७६·१
१९४७	२,३३०	९८·७
१९४८	२,८४०	१२९·५
१९४९	३,७००	१४८·०
१९५०	४,२००	१६८·५
१९५१	४,७००	१७५·९
१९५२ (अनुमान)	५,०००	—

अधिकांश अन्न दुर्लभ-चलार्थ वाले देशों से आयात किया गया जिससे भारत का दुर्लभ चलार्थ जो पूँजी-वस्तुओं तथा यन्त्रादि पर व्यय करने पर सोचा गया था, खाने में ही समाप्त हो गया। पौण्ड पावना, जिस पर युद्धोत्तर

भारत के कृषि-पुनर्निर्माण तथा औद्योगिक-संगठन की आधार-शिलाएँ अवलम्बित थीं, पेट भरने में ही समाप्त होता जा रहा है। नदियों में बाढ़ आने से, भयंकर तूफान के कारण तथा कई स्थानों पर अधिक वर्षा और कहीं कहीं पर कम वर्षा के कारण अन्न का उत्पादन और भी कम होता गया। १९४७-४८ में इस संकट को टालने के लिये 'कण्ट्रोल तथा राशन' की नीति का पुनः पालन करना आरम्भ किया गया; परन्तु कोई सन्तोषजनक परिणाम न निकला। आस्ट्रेलिया, अमेरिका, अर्जेनटाइना, ब्रह्मा, चीन, हिन्दचीन, रूस, टर्की, इराक आदि देशों से भारी-भारी मात्रा में खाद्यान्न तथा अन्य खाद्य सामग्री आयात होती रही। इस संकट के स्थायी निवारण तथा कृषि की उन्नति के लिए योजनाएँ बनाने के लिए अनेक सम्मेलन किए गए। देश व्यापी 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना बनाकर कार्यान्वित की गई। इस योजना के अनुसार लगभग ६,००,००० टन अनाज उत्पन्न करने की बात सोची गई थी परन्तु केवल ७,००,००० टन अनाज ही उत्पन्न किया जा सका जब कि इस योजना पर लगभग ५ करोड़ रुपये व्यय हुए। ज्ञात होता है कि सरकार की यह योजना अधिक सफल न हो सकी। सरकार ने इस योजना को प्रान्तों के कृषि विभागों के नियन्त्रण में दिया और इन विभागों के कर्मचारियों ने केवल अपने-अपने कार्यालयों में बैठे-बैठे ही इसे सफल बनाना चाहा। परन्तु इस योजना को सफलीभूत बनाने के लिए कृषकों के साथ मिलकर काम करने की आवश्यकता थी, उनके साथ खेतों पर जाकर इसका महत्व समझा कर, सुविधाएँ देकर अन्न का उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता थी। कार्य ठीक इसके विपरीत हुआ। कार्यालयों का काम तो बढ़ता गया परन्तु अन्न उत्पादन का काम उसी अनुपात में न बढ़ सका। परिणामतः 'अधिक अन्न उपजाने' के स्थान पर 'अधिक पत्र' उपजाए गए और कार्यालयों में मोटी-मोटी फाइलें बन गई।

सितम्बर १९४९ में रुपये के अवमूल्यन के पश्चात् एक और नई समस्या देश के सामने आगई। पाकिस्तान द्वारा पाक-रुपये का अवमूल्यन न करने से हमारे देश में पाकिस्तान से आयात की जाने वाली वस्तुओं का मूल्य ४४ प्रतिशत अधिक बढ़ गया। अतः भारत ने रूई और पटसन पाकिस्तान से न मँगाकर अपने देश में ही उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया। इसके लिए अन्न

के लिए काम आने वाली भूमि पर अन्न न उपजा कर रुई और पटसन उगाए जाने लगे। इससे अन्न का उत्पादन और भी कम होता गया। इसके अतिरिक्त अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि के कारण भी अन्न उत्पादन में कमी होती गई। दिसम्बर १९५० में होने वाले खाद्य मंत्रियों के सम्मेलन में अनुमान लगाया गया था कि यदि यही स्थिति चलती रही तो १९५०-५१ में कोई ५५ लाख टन अनाज की कमी रहेगी। ठीक ऐसा ही हुआ। अन्न का संकट प्रचण्ड होता गया और गत वर्ष भारत सरकार ने अमरीका से विशेष कानून पास कराके अन्न का ऋण लिया। प्रतिज्ञा की गई कि दिसम्बर १९५१ तक देश को अन्न के मामले में आत्म निर्भर बना लिया जायगा, परन्तु यह प्रतिज्ञा पूर्ण न हो सकी और यह तिथि मार्च १९५२ तक टाल दी गई। परन्तु अब भी समस्या विकट है और मार्च तक अन्न में आत्मनिर्भर बनने के कोई आसार नहीं दीख पड़ते। खाद्य मंत्री ने स्वयं घोषित किया है कि १९५२-५३ में कम से कम ५० लाख टन अन्न आयात करने की आवश्यकता होगी। भारत सरकार आयात किए गए अन्न पर आर्थिक सहायता देकर सस्ते मूल्यों पर बेचने का प्रयत्न करती रही है। जैसा कि पहिले बताया जा चुका है १९४८ में सरकार ने अन्न के आयात पर कोई १३० करोड़ रुपये व्यय किए थे जो देश के कुल आयात का १८ प्रतिशत था। १९४८-४९ में भारत सरकार ने आयात किए गए अन्न पर ३३ करोड़ रुपये की आर्थिक सहायता दी थी और १९४९-५० में लगभग २५ करोड़ रुपये की सहायता सरकार ने राज्य सरकारों को दी। अब इस वर्ष से भारत सरकार ने यह आर्थिक सहायता न देने का निश्चय कर लिया है।

खाद्य समस्या को टालने के लिए सरकार ने बहुमुखी योजना बनाई है जिसके अनुसार अनाज का उत्पादन बढ़ाने के लिए कृषि का पुनरुद्धार किया जायगा। प्रस्तुत कृषि भूमि पर अधिक अन्न उगाया जायगा तथा बंजर भूमि को जो निठल्ली पड़ी है, कृषि योग्य बनाया जायगा जिससे कृषि-भूमि का क्षेत्रफल विस्तृत हो और अधिक मात्रा में अन्न पैदा किया जा सके। इस योजना के प्रमुख अंग निम्न हैं :—

(१) लगभग ६०,००,००० एकड़ भूमि को, जो बंजर पड़ी है परन्तु जो कृषि के काम आ सकती है, समतल करके कृषि योग्य बनाया जायगा। इसके लिए सरकार ने विश्व बैंक से १ करोड़ डालर का ऋण लेकर ट्रैक्टर मंगाए हैं जिनकी सहायता से यह काम पूरा किया जा रहा है। भिन्न-भिन्न राज्य सरकारों के नियन्त्रण में भूमि का ट्रैक्टरों तथा हारवेस्टरों द्वारा कृषिकरण किया जा रहा है। १९४८ से ४,६६,६०४ एकड़ भूमि का पुनः कृषिकरण किया गया था। इस योजना में लगभग १३६.९५ करोड़ रुपये का व्यय आंका गया है। इसका विस्तृत वृत्तान्त 'भूमि का कृषीकरण' निबन्ध में पढ़िए।

(२) खाद्य समस्या को हल करने के लिए कृषि में सिंचाई का भी महत्व सरकार ने समझा है। इसके लिए दीर्घकालीन बाँध योजना तैयार की गई हैं जिनमें विशाल नदियों के बाँध बनाकर बिजली की उत्पत्ति का साधन तथा साथ ही साथ पानी एकत्र करके बाढ़ों को रोका जायगा और सिंचाई भी की जा सकेगी। ऐसा अनुमान है कि बांध-योजनाओं के पूर्ण हो जाने के पश्चात् लगभग २,५०,००,००० एकड़ अधिक भूमि पर सिंचाई हो सकेगी और ८५ लाख किलोवाट जल-विद्युत तैयार होगी जो कृषि तथा उद्योग दोनों के लिए काम आ सकेगी। प्रत्येक राज्य में ऐसी योजनाएं बन चुकी हैं और कई राज्यों में तो काम भी आरम्भ हो चुका है। इसके अतिरिक्त बिजली के कुएं बनाने की भी योजना सरकार के सामने एक महत्वपूर्ण कार्य है। भिन्न-भिन्न राज्यों, जैसे पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में आगामी तीन वर्षों में करीब ४,७५८ बिजली के कुएं बनाए जायेंगे। इस पर कुल व्यय १६ करोड़ रुपये आंका गया है। इसी के साथ साथ कृषि का यन्त्रीकरण भी हो रहा है। विदेशों से कृषि यन्त्र मंगाकर उनकी सहायता से कृषि कार्य सम्पन्न किया जाने लगा है। कृषि के यन्त्रीकरण से थोड़े समय में अधिक मात्रा में अन्न उपजाया जा सकेगा।

*(३) खाद्य-संकट-निवारण योजना में सरकार ने यह निश्चय किया है कि १९५२-५३ तक १५,२२,००० टन रासायनिक खाद की प्रदाय बढ़ाई जाय। इस काम के लिए ७१.५७ करोड़ रुपये का बजट किया गया है। कृषि-भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़ाने के लिए वैज्ञानिक ढंग से खाद बनाने की संस्थाएँ

खाली जा रही हैं। बिहार में ३० करोड़ रुपये की लागत से खाद बनाने का एक विशाल कारखाना खोला गया है। पूना में भी वैज्ञानिक रीति से खाद बनाई जाती है। उत्तर प्रदेश के ग्राम्य क्षेत्रों में ४२ लाख टन कम्पोस्ट तैयार किया गया था जिससे आशा है कि ४४ लाख मन अधिक अन्न पैदा किया जा सकेगा।

(४) खाद्यान्न की कमी को पूरा करने के लिए अन्न के स्थान पर, उन भागों में जहाँ मछली का उपभोग किया जाता है, मछली निकालने की वृहद् योजनाएँ बनाई गई हैं। इससे अन्न का अभियाचन कम होगा और मछली का प्रयोग भी हो सकेगा। केन्द्रीय सरकार ने देश के प्रमुख बन्दरगाहों पर, जहाँ पर प्राकृतिक दृष्टि से मछली का आहार है, मछली पकड़ने की सुविधाएं दे रक्खी हैं। इन स्थानों पर मछली पकड़ने के केन्द्र बनाए जा रहे हैं। प्रारम्भ में बम्बई, कोचीन, विजगापत्तम, चन्दबलि तथा कलकत्ता में मछली पकड़ने के केन्द्र खोले गए हैं। इनका व्यय लगभग ६ करोड़ बजट किया गया है।

मछली उद्योग को छोड़ अन्य सभी काम राज्य सरकारों को सौंप दिए गए हैं। राज्य सरकारें ही भूमि का कृषिकरण, कृषि का यन्त्रीकरण तथा कुँए आदि बनाने का प्रबन्ध कर रही हैं। प्रश्न राजस्व का है। इस विषय में यह निश्चय किया गया है कि राज्य सरकारें कुल आनुमानिक व्यय में से देश में खर्च होने वाली वह धन-राशि का, जो उक्त योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए अपने देश में ही व्यय करनी होगी, प्रबन्ध करेंगी तथा केन्द्रीय सरकार इन योजनाओं को सफल बनाने के लिए उन आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध करेगी जिनकी बाह्य देशों से आयात करने की आवश्यकता होगी। सूचना के लिए हम यहाँ पर उक्त योजनाओं पर बजट किए गए धन का विवरण देते हैं जो भारत के अन्दर तथा विदेशों में व्यय करने होंगे और जिनका दबाव राज्य तथा केन्द्रीय सरकारों पर पड़ेगा।

(करोड़ रुपयों में)

	भारत में व्यय	स्टर्लिंग क्षेत्र	डालर क्षेत्र	योग
भूमि का कृषीकरण	८२·७६	२१·९७	३१·६२	१३६·३५
विद्युत-कूप निर्माण	३३·९५	१६·६२	२१·०८	६८·६५

(करोड़ रुपयों में)

	भारत में व्यय	स्टर्लिंग क्षेत्र	डालर-क्षेत्र	जोग
रसायनिक खाद	२५·८९	१०·४६	१५·२२	५१·५७
मछली-उद्योग का विकास	३·४५	·५८	१·१६	५·१९

उक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि राज्य-सरकारों को भी खाद्य-संकट निवारण योजना में अधिक राजस्व सहायता देनी होगी परन्तु इस समय क्या यह सम्भव है कि राज्य-सरकारों के राजस्व-विभाग यह सब कुछ कर सकेंगे। इस विषय में यह उचित होगा कि तात्कालिक कार्य को आरम्भ करने के लिए केन्द्रीय सरकार राज्य-सरकारों को राजस्व सहायता दे और यह सहायता तब तक मिलती रहे जब तक ये योजनाएँ कार्यान्वित न हो जाएँ। भारत सरकार ने कई राज्यों को ऐसी सहायता दी है परन्तु इससे भी अधिक सहायता की आवश्यकता है।

निस्सन्देह, वर्तमान सरकार ने इस सङ्कट को दूर करने के लिए अनेक प्रयत्न किए हैं। जैसे भी सम्भव हो सका है दुर्लभ-मुद्रा प्राप्त करके विदेशों से अन्न मँगाया है। समस्या का स्थायी हल निकालने के लिए बाढ़ों को रोकने की योजनाएँ हैं तो, साथ ही साथ सिंचाई भी होगी। नई भूमि कृषि के लिए तोड़ी जा रही है, यन्त्रीकरण हो रहा है। परन्तु इसी के साथ-साथ कृषिशोध की भी आवश्यकता है। खेती करने की नई-नई विधियाँ हों, नए-नए यन्त्रों का प्रयोग हो, उच्च प्रकार के बीजों का अनुसन्धान हो तथा वैज्ञानिक खाद हो। शोध के परिणाम कृषकों को बतलाए जाएँ जिससे वे उनके अनुसार काम कर सकें। गत २० वर्षों में कृषि-शोध पर केवल २३ करोड़ रुपया व्यय हुआ। इससे हमें तनिक भी सन्तोष नहीं। शोध कृषि का एक आवश्यक अंग होना चाहिए। संतोष की बात है कि अब भारतीय-कृषि-शोध-परिषद् ने कृषि सम्बन्धी कार्यों की शोध करने के लिए सम्पूर्ण देश को समान भूमि तथा जलवायु के दृष्टि-कोण से भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बाँट लिया है जिनमें समान जलवायु तथा उपज को दृष्टि में रखते हुए शोध की जायगी और प्रयत्न किया जायगा कि देश में अन्न की वृद्धि हो। ये प्रदेश इस प्रकार हैं :—

(१) गेहूँ प्रदेश, जिसमें पूर्वी पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पश्चिमी मध्य प्रदेश तथा बरार और राजस्थान-सघ का गेहूँ उपजाने वाला कुछ भाग होगा।

(२) चावल-प्रदेश, जिसमें आसाम, बगाल, बिहार, उड़ीसा, पूर्वी मध्य-प्रदेश, पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पूर्वी मद्रास सम्मिलित किए गए हैं। इस प्रदेश में चावल की फसलों का अनुसन्धान होगा।

(३) मालाबार प्रदेश, जिसम बम्बई, मद्रास, पश्चिमी घाट, मैसूर कुर्ग, ट्रावनकोर तथा कोचीन हैं।

(४) तट प्रदेश, जिसम झाँसी, मध्य प्रदेश तथा बरार, मध्य भारत की रियासतें, हैदराबाद रियासत का पश्चिमी भाग, पश्चिमी मद्रास, पूर्वी बबई का प्रदेश, बरौदा तथा मैसूर का कुछ भाग है।

(५) हिमालय प्रदेश, जिसमें कुमायूँ, गढवाल, नैपाल, भूटान, शिमला की पहाड़ियाँ, कुल्लू, चम्बा तथा काश्मीर राज्य सम्मिलित हैं।

इन प्रदेशों में कृषि की विशेष परिस्थितियों तथा कृषि क्रियाओं पर शोध की जायगी। इस प्रकार देश का कृषि विभाजन करने से कृषि-शोध पर ठोस कार्य हो सकेगा। परिषद् ने पशुपर्यवेक्षण तथा निरीक्षण और शोध की दृष्टि से भी देश का विभाजन किया है परन्तु उसका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। कृषि शोध से हाल ही में तो नहीं वरन् दूर भविष्य में खाद्य समस्या का एक मात्र स्थायी उपाय निहित है।

केन्द्रीय सरकार के प्रयत्नों के अतिरिक्त राज्य-सरकारों ने भी इस समस्या को हल करने के लिए अपनी अपनी अलग-अलग योजनाएं बनाकर कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। उत्तर प्रदेशीय सरकार ने सिंचाई सम्बन्धी एक पंचवर्षीय योजना तैयार की है जिसके अनुसार पाँच वर्ष में १६,६०,००० एकड़ अधिक भूमि पर सिंचाई की जायगी। इस योजना में ७६०० मील लम्बी नहरें बनाई जाएँगी। अब तक सिंचाई सम्बन्धी जो काम किया गया है उससे राज्य को २५,००० टन अधिक अन्न मिलने लगा है। राज्य में अब कुल मिलाकर १६५६ नल कूप हैं 'परन्तु अधिक अन्न उपजाओ योजना' के अन्तर्गत ६०० और नल कूप बनाए जा रहे हैं। इनसे २,४०,००० एकड़ अधिक भूमि पर सिंचाई होगी जिसमें ५४,००० टन अधिक अन्न उपजाया जा सकेगा। सरकार ने तकावी ऋण देकर तथा उत्तम बीज तथा खाद वितरण करके अन्न का उत्पादन

ये भी प्रयत्न किए हैं। अन्य राज्यों में भी ऐसा किया जा रहा है और परिणाम भी सन्तोषजनक मिले हैं।

प्रस्तुत समस्या यह है कि वर्तमान खाद्य संकट को टाल कर अभी देश को अन्न के मामले में आत्म-निर्भर कैसे बनाया जाय? वास्तव में देखा जाय तो हमारा खाद्य-संकट केवल उत्पादनकी समस्या ही नहीं है वरन अन्न संग्रह और वितरण की समस्या भी है। अन्न के भाव ऊँचे होने के कारण सरकार आवश्यक मात्रा में उत्पादकों से अन्न-वसूली (Procurement) नहीं कर पाती। ऊँचे भाव होने से उत्पादक सरकार को अन्न न देकर चोरी से बेचने लगे हैं जिससे सरकार की राशन-पद्धति सफल न हो सकी। आवश्यकता इस बात की है कि अन्न का उत्पादन भी बढ़े और वितरण की विषमता भी भी दूर हो। अन्न सम्बन्धी आंकड़े प्राप्त करने के लिए सुचारु और उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए जिससे विश्वसनीय अंक प्राप्त किए जाकर उत्पादन तथा वितरण सम्बन्धी कोई योजना बनाई जा सके। जनता को भी चाहिए कि वह अन्न का उपभोग सीमित करे और अन्न नष्ट होने से बचावे। कहा गया है कि देश में १० प्रतिशत अन्न की कमी है। इसे पूर्ण करना कोई अधिक कठिन काम नहीं। अधिक अन्न उपजाकर, वितरण की विषमता दूर करके, अन्न को नष्ट होने से बचाकर तथा आवश्यकताओं का सीमित करके इस कमी को सरलता से दूर किया जा सकता है। हमें अपनी सब शक्तियों को इस बात में जुटा देना चाहिए कि अन्न के मामले में देश विदेशों पर आश्रित न रह कर आत्मनिर्भर हो जाय। जब तक देश में अन्न का अभाव है राशन तथा मूल्य-नियंत्रण रहना आवश्यक है परन्तु राशन पद्धति का प्रबन्ध ईमानदारी तथा सन्तोषजनक रीति से चलना चाहिए। भारत जैसे देश में, जहाँ की अधिकांश जनता अशिक्षित है राशन पद्धति में कठिनाइयाँ होना स्वाभाविक है। परन्तु तो भी इस बात का प्रयत्न होना चाहिए कि चोर बाजारी, संग्रह तथा बेईमानी न हो। इसके लिए सरकार और जनता की सहयोग की आवश्यकता है—बिना दोनों के पारस्परिक सहयोग के यह काम सफल नहीं हो सकता। अन्न संग्रह करने की सुविधाएँ बढ़ानी चाहिए जिससे अन्न सुरक्षित रक्खा जा सके। हमारी उपभोग सम्बन्धी क्रियाओं में भी फेर-बदल की आवश्यकता है। हमें चाहिए कि हम कम से कम

अन्न व्यय करें और सम्भवत उत्सवों पर अधिक अन्न काम म न लावें। प्रत्येक कार्य सरकार का ही करने का नहीं है। हम भी अपने कर्तव्य को समझें। सरकार कानून बना सकती है परन्तु उसको पालन करके सफल बनाना जनता का ही कार्य है। हम हर प्रकार से देश को अन्न में स्वावलम्बी बनाना वाञ्छनीय है।

७—'अधिक अन्न उपजाओ' योजना

समस्या एवं समाधान

पिछले कई वर्षों से केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें "अधिक अन्न उपजाओ" के नाम पर भारी-भारी धन राशि व्यय करती रही हैं, परन्तु परिणाम अधिक संतोषजनक नहीं रहे हैं। १९४९-५० में इस योजना पर केन्द्रीय सरकार ने ११'५२ करोड़ रुपये स्वीकृत किए तथा उसमें अगले वर्ष ३१'७६ करोड़ रुपये स्वीकृत किए गए। इसी प्रकार १९४३ से लेकर अब तक भारी-भारी राशि व्यय होती रही परन्तु अन्न उत्पादन में अपेक्षाकृत वृद्धि नहीं हुई। कृषि-भूमि का क्षेत्रफल तो बढ़ता रहा परन्तु अन्न की मात्रा न बढ़ी वरन् कभी-कभी कम भी होती गई। योजना के अन्तर्गत कृषि भूमि के क्षेत्रफल, प्रति एकड़ उपज तथा कुल उत्पादन की स्थिति इस प्रकार रही :—

(१००,०००)

	कृषि-भूमि का क्षेत्रफल (एकड़)	उत्पादन (टन)	प्रति एकड़ उपज (पौण्ड)
१९३६-३७ से १९३८-३९ की औसत	१५८'८	४०'९	५७७
१९४२-४३	१६४'०	४४'०	६०३
१९४३-४४	१६६'०	४५'०	६१२
१९४४-४५	१८३'०	४६'०	५६४
१९४८-४९	१८९'६	४४'०	५२१
१९४९-५०	१९५'६	४५'९	५२५

इन आँकड़ों से ज्ञात होता है कि इस योजना के अन्तर्गत कृषि भूमि का क्षेत्रफल तो बढ़ता गया परन्तु उत्पादन उस गति से न बढ़ा—इसका स्पष्ट अर्थ है कि प्रति एकड़ उपज कम होती गई। इसका भेद जानने के लिए रिज़र्व बैंक के कृषि विभाग ने बम्बई राज्य की 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना की जाँच-

पडताल करके एक रिपोर्ट प्रकाशित की जिससे योजना सम्बन्धी निम्न बातें ज्ञात होती हैं —

(१) योजना के अन्तर्गत कृषि योग्य बंजर या पड़ती भूमि पर कृषि करने का प्रयत्न नहीं किया गया। जितनी भूमि पर युद्धपूर्व काल में कृषि होती थी उतनी ही भूमि पर कृषि होती रही।

(२) कुछ प्रदेशों में विस्तृत-कृषि अवश्य की गई परन्तु ऐसा करने के लिए अधिकारियों ने रूई की खेती की जाने वाली भूमि पर अन्न उपजाना आरम्भ कर दिया था। इससे रूई की खेती पर उल्टा प्रभाव पड़ा।

(३) योजना के अधीन कृषि-भूमि का क्षेत्रफल तो बढ़ता गया परन्तु प्रति एकड़ उपज कम होती गई जिससे इस आन्दोलन में खर्च किये गए धन के अनुपात में उत्पादन न बढ़ाया जा सका। व्यय राशि के अनुपात में वाञ्छनीय परिणाम न मिलने के निम्न कारण रहे :—

प्रथम तो बात यह थी कि इस विशाल योजना के लिए सरकार के पास साधन सीमित थे और जो कुछ भी थे उनका सुचारु ढङ्ग से सचालन करके महत्तम उपयोग नहीं किया जा सका। क्षेत्र विशाल था जिसके अन्तर्गत भूमि की उत्पादन क्षमता के अनुसार साधनों का उपयोग न किया जा सका। कृषकों को सहायता देने के लिए सरकार के पास आवश्यक साधन न थे जिससे सभी लोगों को उन साधनों का लाभ नहीं मिल पाता था।

योजना के अधीन काम करनेवाले तथा काम करानेवाले प्रबन्धकों की संख्या कम थी और जो कुछ भी लोग थे वे लगन के साथ काम नहीं करते थे। अधिकांश लोग कार्यालयों में बैठे-बैठे काम करते थे जबकि उन्हें कृषकों के साथ मिलकर काम करने की आवश्यकता थी। ये लोग कार्यालयों में बैठे बैठे फाइलों की संख्या बढ़ाते रहे, परन्तु उत्पादन की ओर कोई ध्यान न दिया। बहुत से लोग तो अन्न को छोड़ अन्य सामग्री उपजाते रहे और उनकी अधिकांश शक्ति चोर-बाजारी आदि कार्यों में लगी रही।

सरकार के पास कोई ऐसा साधन न था जिससे उस समय यह पता लगाया जा सकता कि व्यय राशि के अनुकूल उत्पादन भी मिल रहा है या नहीं। सरकार यह भी नहीं जान पाती थी कि वे कृषक, जो सरकार से इस योजना के

अधीन सहायता ले रहे हैं, उचित मात्रा में और उचित ढङ्ग का माल उत्पन्न भी कर रहे हैं या नहीं। इस प्रकार सरकार की अधिकांश शक्ति वृथा नष्ट होती रही।

सरकार की अधिकांश शक्ति इस योजना के विज्ञापन मात्र में ही समाप्त होती रही। सरकारी कर्मचारियों को औचित्य-अनौचित्य का बिलकुल ज्ञान न था। सरकार एक ओर तो नए-नए कुँए बनाने को ऋण देती जा रही थी और दूसरी ओर पुराने कुओं की मरम्मत की ओर बिलकुल ध्यान न था। इसी भाँति अनेक बातें होती रहीं जिनसे अधिकांश साधन नष्ट होते रहे।

समुचित आयोजन एवं प्रबन्ध सम्बन्धी दोषों के कारण यह आन्दोलन सफल न हो सका। योजना सम्बन्धी अन्य उप-योजनाओं का सामूहिक क्रम भली प्रकार न बनाया गया। सरकारी विभागों में न पारस्परिक सहयोग था और न आवश्यक ज्ञान ही—प्रत्येक विभाग अपनी-अपनी अलग-अलग नीति बनाकर काम करता रहा जिससे अच्छे परिणाम न निकले।

इन दोषों के अतिरिक्त कुछ वित्त-सम्बन्धी कठिनाइयाँ भी थीं। कृषकों को आवश्यकता पड़ने पर पर्याप्त धन-राशि नहीं मिल पाती थी। कृषकों के पास पशुओं का अभाव था। वित्त सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण वे अच्छे और उपयोगी पशु नहीं खरीद पाते थे। इसके अतिरिक्त उनके पास हल तथा कृषि सम्बन्धी अन्य औजारों का भी अभाव था। ये वस्तुएं उन्हें ऊँचे-ऊँचे दामों पर खरीदना पड़ती थीं और वह भी आवश्यकता के समय नहीं मिल पाती थीं।

इन कठिनाइयों के अतिरिक्त अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूमि का कटाव, अपर्याप्त यातायात के साधन आदि अनेक ऐसी कठिनाइयाँ थीं जिनके कारण इस आंदोलन के अन्तर्गत अधिक अन्न न उपजाया जा सका।

इस योजना के अन्तर्गत अधिक अन्न उपजाने के लिए हमारे पास कुछ सुझाव हैं जो यहाँ दिए जाते हैं:—

१ यह योजना केवल उन्हीं प्रदेशों में कार्यान्वित की जाय जहाँ पर्याप्त मात्रा में वर्षा होती हो या सिंचाई के अच्छे और उत्तम साधन उपलब्ध हों। सिंचाई के साधन मिलने से अधिक अन्न उपजाने में काफी सहायता मिल सकती है। जिन स्थानों में यह योजना लागू की जाय वहाँ की आर्थिक, सामाजिक और भौगोलिक परिस्थितियों का भली प्रकार अध्ययन करके एक समुचित

योजना और अन्य उप-योजनाएँ बना ली जाएँ। इन उप-योजनाओं को भिन्न-भिन्न विभागों के अधीन कर दिया जाय। इन सब विभागों में पारस्परिक सहयोग और सम्मेल रहे और सभी योजनाओं का एक सामूहिक क्रम बना दिया जाय। कृषकों को सहायता देने के लिए शिक्षित और समझदार शिक्षक रक्खे जाएँ जो प्रस्तुत साधनों का उपयोग करने में उनकी सहायता करें। फसल बोने तथा काटने का काम वैज्ञानिक ढंग पर किया जाय। कई-कई गाँवों को मिलाकर एक इकाई निर्धारित कर दी जाय और इस इकाई को सामूहिक सहायता देकर सामूहिक तथा व्यक्तिगत उत्तरदायित्व सौंप दिया जाय।

२ सरकार छोटे छोटे कृषकों को साख पर धन देकर अथवा अन्य आवश्यक वस्तुएँ देकर सहायता करे। इनका भुगतान लेने में सरकार किसी प्रकार की जार-जबरदस्ती न करे वरन् फसल के समय अन्न-वसूली करते समय भुगतान चुकले।

३. अन्न की उपज बढाने के हेतु कृषि सुधार तथा कृषि के पुनर्निर्माण सम्बन्धी एक समुचित योजना तैयार की जाय। नई भूमि को तोड़कर कृषि के काम में लाया जाय। सिंचाई के साधन बढाए जाएं और बीज तथा खाद के वितरण का समुचित प्रबन्ध हो। खेतों की चकबन्दी की जाय तथा कृषि साख संगठन को बल दिया जाय।

अन्न उत्पादन बढाने के लिए अन्य वस्तुओं की कृषि बन्द करके उस भूमि पर अन्न कदापि भी न पैदा किया जाय क्योंकि तब अन्य वस्तुओं की कमी होने लगेगी। इसके लिए तो यह आवश्यक है कि नई भूमि का ही कृषिकरण किया जाय। इन सुझावों से अन्न की पैदा बढाने में पर्याप्त सहायता मिलेगी। ऐसा करने से पहिले सरकार को चाहिए कि वह देश के भिन्न भिन्न भागों में इस आन्दोलन सम्बन्धी जाँच-पड़ताल करके यह मालूम करले कि वहाँ मानवीय और भौतिक शक्तियाँ किस प्रकार मिलकर काम कर रही हैं। ऐसा करने से सरकार को यह ज्ञात हो जायगा कि वहाँ किन किन बातों का अभाव है और उस अभाव को पूरा करने के लिए क्या-क्या करना चाहिए। यदि ऐसा करके एक सगठित योजना बनाई गई तो अवश्य ही इस योजना द्वारा अधिक अन्न उपजाया जा सकेगा।

८—कृषि का यन्त्रीकरण

हमारे देश में कृषि-उत्पादन कम होने का एक मुख्य कारण यह है कि भारतीय कृषक कृषि कार्यों में प्राचीन, भद्दे और अयोग्य यन्त्रों का प्रयोग करते हैं। यह ठीक है कि ये यन्त्र उनके जीवन-स्तर के अनुकूल हैं परन्तु उत्पादन बढ़ाने में ये नितान्त निरर्थक ही हैं। आज भी, जब कि संसार में विज्ञान और यन्त्र-विद्या ने इतनी प्रगति कर ली है, भारतीय किसान खेत जोतने के लिए पुराने हलों पर, फसल काटने के लिए दरांती पर और जल बरसाने के लिए प्राकृतिक वायु पर आश्रित बना हुआ है। इसके विपरीत संसार के अन्य प्रगतिशील देशों में, विशेषकर अमरीका और रूस में, कृषि कार्यों के लिए यन्त्रों का अधिक से अधिक उपयोग किया जाता है। इनके द्वारा उन देशों की कृषि में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। उन्नत यन्त्रों का प्रयोग करके उन देशों की कृषि-उपज में आशातीत वृद्धि हुई है। भूमि का समीकरण करने से तथा खाद आदि से अन्त तक सभी कृषि-क्रियाओं में उन्नत और उत्तम यन्त्रों का प्रयोग होता है जिससे वहाँ का उत्पादन-व्यय भी कम हो गया है तथा समय और मानव-शक्ति की भी बचत होती है। यन्त्रीकरण ने वहाँ के सामाजिक और आर्थिक जीवन में एक भारी परिवर्तन करके वहाँ के निवासियों का जीवन स्तर ऊँचा बना दिया है।

भारतीय कृषि के यन्त्रीकरण के विषय में प्रकार-प्रकार के मत व्यक्त किए जाते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि भारतीय कृषि में उन्नत यन्त्रों का प्रयोग वांछनीय और आवश्यक है। उनका कहना है कि विज्ञान के युग में यन्त्रों का प्रयोग न करके देश की सम्पत्ति का पूरा दोहन सम्भव नहीं क्योंकि इन यन्त्रों के प्रयोग द्वारा ही देश का उत्पादन बढ़ाकर जनता का जीवन-स्तर उठाया जा सकता है। इसके विपरीत कुछ लोगों का विचार है कि हमें अपने पुरातन हल-बैल को त्याग कर आधुनिक यन्त्रों का प्रयोग कदापि न करना चाहिए। ये लोग यन्त्रों के नाम-मात्र से ही डरने लगे हैं। उनके विचार में हमारे देश में कृषि का यन्त्रीकरण न आवश्यक है और न वांछनीय है। ये सोचते हैं कि कृषि में

यन्त्रों के प्रयोग से मानव शक्ति का ह्रास होता है और बेकारी फैलती है। इस प्रकार के विपरीत विचारों से इस विषय में निर्णय करना कुछ कठिन ही है परन्तु फिर भी देश की उर्वर भूमि को देखते हुए, कृषकों की गरीबी को देखते हुए तथा देश की खाद्य समस्या को देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि इस विषय में कोई न कोई स्थायी मत निर्धारित किया जाय। इसके लिए पहिले हमें यह समझ लेना चाहिए कि क्या हमारे देश में कृषि के यन्त्रीकरण के लिए आवश्यक साधन और सुविधाएँ उपलब्ध हैं? प्रधानतः कृषि के यन्त्रीकरण में हमें निम्नलिखित असुविधाएं हैं —

(१) हमारे देश में खेत छोटे और छिटके हैं जिससे उनमें यन्त्रों का प्रयोग सम्भव नहीं हो सकता।

(२) कृषि में यन्त्रों का प्रयोग करने से कृषि पर आधारित मजदूर-वर्ग विचलित होकर बेकार हो जायगा जिससे देश में एक और समस्या उठ खड़ी हो जायगी। दूसरे, जब तक देश में पर्याप्त मात्रा में मजदूर मिल सकते हैं और उनकी मजदूरी की दर कम है तब तक यन्त्रों का प्रयोग करके इन्हें बेकार बनाने से कोई लाभ नहीं।

(३) भूमि के यन्त्रीकरण के लिए यन्त्र खरीदने में जितनी पूँजी की आवश्यकता होगी उतनी पूँजी हमारे देश में उपलब्ध नहीं है।

(४) यदि यन्त्रों का प्रयोग आरम्भ भी कर दिया जाय तो समस्या यह है कि उनके लिए तेल शक्ति कहाँ से प्राप्त की जाय। इसके लिए फिर देश को विदेशी आयात पर निर्भर रहना पड़ेगा।

(५) देश में कुशल कारीगरों और मिस्त्रियों का भी अभाव है जो इन यन्त्रों का प्रयोग कर सकें और उनका प्रयोग कृषकों को समझा सकें। यन्त्रों की टूट फूट की मरम्मत कराने की सुविधाएँ हमारे पास प्राप्त नहीं हैं।

जहाँ तक खेतों के क्षेत्रफल का सम्बन्ध है यह ठीक ही है कि हमारे यहाँ खेतों का क्षेत्रफल छोटा है और इन खेतों में यन्त्रों का प्रयोग नहीं हो सकता। रूस में, जहाँ कृषि का यन्त्रीकरण शिखर पर माना जाता है, खेतों का औसत क्षेत्रफल १६०० एकड़ है। इसी प्रकार अमरीका के खेतों का औसत क्षेत्रफल १५६ एकड़ और कैनेडा में २३४ एकड़ है। इसके विपरीत हमारे खेतों का

औसत क्षेत्रफल तीन एकड़ है। ऐसी स्थिति में यन्त्रीकरण करना कैसे सम्भव हो सकता है? परन्तु फिर भी, चाहे हम यन्त्रीकरण करें या न करें, हमें अपने खेतों की चकबन्दी करके उनका क्षेत्रफल तो विस्तृत बनाना ही है क्योंकि ये खेत हमारे किसी भी काम के लिए अनार्थिक हैं। इसका उपाय यह है कि सम्मिलित और सहकारी कृषि की प्रथा का पालन किया जाय। यदि छोटे छोटे कृषक अपने-अपने खेतों को मिला कर मिलकर कृषि करें तो यन्त्रीकरण की यह कठिनाई सहज ही में स्वतः ही हल हो जायगी। तब कृषि में यन्त्रों का प्रयोग सरल ही नहीं वरन् आवश्यक हो जायगा। इस कार्य में यद्यपि कुछ समय लगेगा परन्तु भविष्य के लिए यह एक नीति बन जायगी। निश्चय ही, यन्त्रीकरण का प्रश्न हँसकर टालने का नहीं है, वरन् यह वह प्रश्न है जिस पर भावी भारत की भावी कृषि नीति अवलम्बित होगी। इस समय भी देश में कुछ ऐसे स्थान हैं जहाँ यन्त्रों का सफल प्रयोग हो सकता है। ऐसे प्रदेशों में यन्त्रों का प्रयोग कर देना चाहिये। जमीन तोड़ने के लिये तो ट्रैक्टरों का प्रयोग आरम्भ हो ही चुका है। अब इस बात की आवश्यकता है कि कृषि के हर एक पहलू में यन्त्रों का भरपूर प्रयोग किया जाय।

कृषि में यन्त्रों के प्रयोग को इसलिए ठुकराया जाता है कि इनसे खेतों में काम करनेवाले लोग बेकार हो जाएँगे और देश में बेकारी फैल जायगी। यदि यह मानकर चलें कि यंत्रीकरण के पश्चात् ४ व्यक्तियों का काम एक ही व्यक्ति कर लिया करेगा तो अनुमान है कि कोई ६,७०,००,००० व्यक्ति बेकार हो जाएँगे और तब इतनी बड़ी जन-संख्या के लिए कोई काम देना असम्भव रहेगा। विशाल उद्योगों में, जिन्होंने गत २० वर्षों में इतनी प्रगति की है केवल ३०,००,००० व्यक्ति ही काम पा सके हैं। अतः यदि यन्त्रीकरण के पश्चात् भारी जन-संख्या बेकार हो गई तो समाज का क्या हाल होगा! अमरीका और रूस में तो कृषि के यन्त्रीकरण की इसलिए आवश्यकता हुई कि वहाँ काम करने वाले लोगों की कमी थी। परन्तु हमारे देश की परिस्थिति बिलकुल भिन्न है। हमारे यहाँ श्रमिकों की कोई कमी नहीं तो फिर उन्हें बेकार क्यों किया जाय? अतः कहा जाता है कि जब तक देश में काम करनेवालों की कमी नहीं तब तक कृषि का यन्त्रीकरण करना अवाञ्छनीय है। परन्तु समस्या पर यदि गम्भीरता

से सोचा जाय तो वस्तुस्थिति सरलता से समझी जा सकती है। यन्त्रीकरण से बेकारी फैलने का भय नितान्त भ्रमात्मक है। कृषि के यन्त्रीकरण से देश का आर्थिक विकास होगा जिसमे उत्पादन और वस्तु निर्माण के नए नए साधन निकल पड़ेंगे और इन्हीं उद्योगों मे कृषि से विचलित जन-संख्या को रोजगार मिलता रहेगा। इसके अतिरिक्त यह भी याद रखना चाहिए कि कृषि पर जन संख्या का भारी दबाव है। यद्यपि लोगों को कृषि पर काम मिला हुआ है परन्तु उनकी उत्पादन शक्ति बहुत नगण्य है। ऐसी स्थिति में ऐसे रोजगार से क्या लाभ जिसमे भरा पूरा उत्पादन न मिल सके। हमें केवल रोजगार पाने के उद्देश्य को लेकर ही रोजगार नहीं लेना है वरन् अपने जीवन-स्तर को बढ़ाने तथा सम्पत्ति मे वृद्धि करने के लिए रोजगार लेना है। इस दृष्टिकोण से तो आज भी परोक्ष रूप मे बेकारी है। यन्त्रीकरण से यह बेकारी दूर होकर जनसंख्या अन्य साधनों मे जुट जायगी। इसी के साथ साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि कृषि सम्बन्धी अनेक काम ऐसे हैं जिनसे कृषकों के स्वास्थ्य पर बहुत दबाव पड़ता है। कभी कभी तो कृषकों को दिन रात काम करना पड़ता है। यन्त्रीकरण से यह दोष दूर हो जायगा और कृषकों को अपने हास परिहास के लिए तथा स्वास्थ्य वृद्धि के लिए पर्याप्त समय भी मिलता रहेगा। बहुत सी स्त्रियाँ और बच्चे भी कृषि कार्यों से छुट्टी पा जाएँगे। अतः किसी भी प्रकार से यन्त्रीकरण द्वारा बेकारी की समस्या से डरना निर्मूल है। एक बात और है। कृषि मे काम करने वाले पशु कृषि में उत्पादित बहुत सी सामग्री स्वयं खा जाते हैं जिससे मानवी आवश्यकताओं के लिए माल की कमी हो सकती है। यदि ट्रैक्टरों तथा अन्य मशीनों का प्रयोग किया जाय तो यह सामग्री मानवी आवश्यकताओं के लिए प्राप्त हो सकती है। अनुमान है कि अमरीका में कोई १,२०,००,००० घोड़े और खच्चर हटाकर ट्रैक्टरों से काम लिया गया जिससे लगभग ३,३०,००,००० एकड़ भूमि की बचत हुई जिस पर इनके लिए घास-चारा उपजाया जाता था।

कुछ लोगों का मत है कि यन्त्रीकरण से भूमि की उत्पादन शक्ति नहीं बढ़ती। उनका कहना है कि एक बार तो गहरी जोत से उत्पादन बढ़ जाता है परन्तु यन्त्रों के द्वारा बार बार गहरी जोत करने से उत्पादन-शक्ति नहीं बढ़ती।

अत: यन्त्रीकरण के द्वारा अन्न का उत्पादन नहीं बढ़ाया जा सकता जबकि इसी की हमें सबसे अधिक आवश्यकता है। परन्तु यह बात भ्रमात्मक प्रतीत होती है। वास्तव में देखा जाए तो भूमि की उत्पादन-शक्ति केवल गहरी जोत पर ही निर्भर न होकर अन्य अनेक कारणों पर निर्भर होती है। मिट्टी, जलवायु, सिंचाई, बीज, खाद, कृषकों के काम करने की योग्यता और चतुराई, कृषि का आयोजन आदि अनेक ऐसी बातें हैं जिन पर कृषि-भूमि की उर्वरता निर्भर रहती है। इन सब बातों का एक दूसरे के साथ भूमि पर प्रभाव पड़ता है और तभी उर्वरा शक्ति घटती बढ़ती है। अगर किसी देश में, जहाँ यन्त्रों का प्रयोग होता हो, उत्पादन अधिक हो और अन्य देश में, जहाँ यन्त्रीकरण न हो, उत्पादन कम हो, तो इसका अर्थ यह नहीं कि पहिले देश का उत्पादन केवल यन्त्रों के प्रयोग के कारण ही अधिक है। अन्य अनेक कारण होते हैं जिनकी वजह से उत्पादन घटता-बढ़ता है। रूस में यन्त्रीकरण के पश्चात् कृषि की प्रति एकड़ उपज में काफी वृद्धि हो गई है जो निम्न अङ्कों से स्पष्ट होती है—

प्रति एकड़ उपज

	१९१३	१९३७
चना	६ ८ हंडरवेट	७ ४ हंडरवेट
कपास	८६ ,,	९८ ,,
चुकन्दर	६·७ ,,	७·३ ,,
रुई	२३·२ बुशल	३५·२ बुशल
जौ	१७·८ ,,	२१·२ ,,

इससे ज्ञात होता है कि यन्त्रीकरण से उत्पादन में वृद्धि होती है। किन्तु फिर भी उत्पादन-वृद्धि और यन्त्रीकरण का अकेला कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहिए। तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि यन्त्रीकरण विस्तृत खेती के साथ ही सम्भव हो सकता है और विस्तृत खेती में साधारणतः उत्पादन अधिक होता है और उत्पादन व्यय कम होता है। यही कारण है कि हमारे देश में स्थान स्थान पर लोग कृषि-यन्त्रों का प्रयोग करने लगे हैं क्योंकि इस प्रकार उनका उत्पादन व्यय कम होता है। दूसरे, यन्त्रों की सहायता से काम शीघ्र ही पूरा किया जा सकता है। विशेषतः उन देशों में जहाँ की ऋतुएँ जल्दी-जल्दी

बदलती हैं समय की बचत का बहुत महत्त्व है। हमारे देश में ऋतु परिवर्तन के कारण यन्त्रीकरण का महत्व और भी अधिक बढ जाता है।

कृषि के यन्त्रीकरण में पूँजी की बहुत आवश्यकता होती है जिसकी सहायता से कृषि यन्त्रादि खरीदे जा सकें। भारतीय कृषक के पास इतनी पूँजी कहाँ कि वह इतने महगे यन्त्र खरीद सके। वह तो स्वयं ऋण में जन्म लेता, ऋण में पलता है, और ऋणी ही मर जाता है। परन्तु यह कोई ऐसी कठिनाई नहीं है जिसके कारण यन्त्रीकरण की लाभप्रद योजना को ही टाल दिया जाय। आजकल भारतवासी एक प्रकार के दूषित चक्र से घिरे जान पड़ते हैं। हमारी आर्थिक स्थिति पिछड़ी हुई है और इसलिए हम बचत नहीं कर सकते, और चूँकि हमारे पास पूँजी नहीं है इसलिए हमारी आर्थिक अवस्था हीन है। हमें किसी प्रकार से इस दूषित चक्र को तोड़ना चाहिए। इसका एक उपाय यह है कि कृषक उपभोग्य वस्तुएँ न उपजा कर पूँजीगत माल भी पैदा करें। रूस और जापान ने इसी प्रकार अपनी आर्थिक कठिनाई पार की थी। वहाँ अनिवार्य बचत योजनाएँ लागू की गई थीं तथा पूँजीगत माल उत्पादन करने पर कृषकों को बाध्य किया गया था। परन्तु कहा गया है कि ऐसा काम अपने देश में सम्भव नहीं हो सकता। यहाँ के निवासियों को अनिवार्य बचत करने को बाध्य करना ठीक न होगा। तो दूसरा उपाय यह है कि विदेशों से ऋण लेकर यन्त्रादि खरीदे जाएँ। भारत सरकार ने विदेशों से ऋण लेकर यन्त्र खरीदना आरम्भ कर दिया है। आशा है इस काम को और अधिक प्रगति मिलेगी।

यन्त्रीकरण में हमारे लिए एक कठिनाई यह होगी कि यन्त्रों को चलाने के लिए तैल शक्ति प्राप्त करने में हमें विदेशों पर आश्रित रहना पड़ेगा। परन्तु यह कोई ऐसी कठिनाई नहीं है जिसे सुलझाया न जा सके। तैल के स्थान पर अन्य प्रकार के डालकल तैल द्वारा यन्त्र चलाए जा सकते हैं। चीनी की मिलों में शीरा से स्प्रिट बनाकर भी मशीनों को चालू रक्खा जा सकता है। कुछ चीनी की मिलों ने स्प्रिट बनाकर ट्रेक्टरों का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया है। इससे हमारी कृषि के यन्त्रीकरण में काफी सहायता मिलती रहेगी।

प्राय कहा जाता है कि हमारे कृषक अशिक्षित हैं। वे कृषि कार्यों में यन्त्रों का समुचित प्रयोग करना नहीं जानते। दूसरे, हमारे यहाँ यन्त्रों को चलाने तथा

उनको मरम्मत करनेवाले मिस्त्रियों की भी कमी है। अतः यंत्रीकरण सरलता पूर्वक नहीं निभाया जा सकेगा। किन्तु यह बात भी निर्मूल है। यद्यपि हमारे कृषकों ने यंत्रों का प्रयोग नहीं किया है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे आरम्भ में सीख भी नहीं सकते। यदि योजना बनाकर उन्हें इस काम की शिक्षा दी जाय तो यह प्रश्न हल हो सकता है। आरम्भ में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को इस कार्य में सहायता करनी चाहिए। सरकारों को चाहिए कि वे विदेशी फर्मों से सहयोग करके कृषि यंत्र केन्द्र स्थापित करें जहाँ कृषकों को यन्त्रों का बोध कराया जाय तथा उन्हें इस बात की शिक्षा भी दी जाय। सरकार ने हाल ही में ट्रैक्टर बनाने का कारखाना खोला है जहाँ से देश की ट्रैक्टरों की आवश्यकताएँ पूर्ण होंगी।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि भारतीय कृषि का यंत्रीकरण करने के मार्ग में जो कठिनाइयाँ कही जाती हैं वे निर्मूल और निरर्थक हैं। ठीक है कि पहिले कुछ असुविधाएं होंगी परन्तु उनको सरलता और आसानी से पार किया जा सकता है। छोटे-छोटे खेतों की सबसे बड़ी कठिनाई है। फिर कुछ लोगों को, जो बेकार होंगे काम भी तलाश करना पड़ेगा। पूँजी की भी आवश्यकता होगी। इन सब कठिनाइयों से यंत्रीकरण के काम में कुछ विलम्ब हो सकता है परन्तु थोड़े-से आयोजन और प्रयत्नों से यह काम सभी भाँति सम्पन्न होने लगेगा। यह निश्चित है कि कृषि का यन्त्रीकरण किए बिना देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को पर्याप्त भोजन नहीं उपजाया जा सकता। आज देश में भयंकर खाद्य संकट है तथा कच्चे माल की भी कमी है। यंत्रीकरण के द्वारा इन दोनों अभावों को दूर किया जा सकेगा। कृषकों की आय बढ़ जायगी तथा उनका सामाजिक जीवन-स्तर भी ऊँचा उठ जायगा। कृषि के यंत्रीकरण से हमारा तात्पर्य केवल ट्रैक्टरों के प्रयोग से ही नहीं होना चाहिए परन्तु खेत बोने में, फसल काटने में, सिंचाई करने में, यातायात आदि सभी कृषि क्रियाओं में आधुनिक यंत्रों का भरपूर प्रयोग होना चाहिए। यद्यपि इस समय इस विषय में तत्काल ही कोई विशेष उन्नति सम्भव नहीं हो सकती परन्तु यह निश्चित है कि दीर्घकालीन योजना में कृषि का यंत्रीकरण आवश्यक है

और आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। परन्तु यंत्रों का वास्तविक प्रयोग करने से पहिले हमें कुछ और काम करने होंगे—जैसे यंत्रों की कार्यशैली को समझाने का प्रबन्ध करना होगा तथा कृषकों के मनोविज्ञान में परिवर्तन करना होगा जिसमें वह अपने पुरातन हल-बैल को छोड़ यंत्रों का प्रयोग करने लगें। इसके अतिरिक्त यंत्रीकरण के कुछ प्रयोग भी करने होंगे अन्यथा नासमझी से काम करने पर यंत्र हमारी कृषि को घातक भी सिद्ध हो सकते हैं।[१]

---

[१] *"Modern agricultural machines are very powerful tools which can either bring great benefits by appropriate and timely use, or if applied improperly and untimely, may cause irreparable danger to the soil."*

६—कृषि की वित्त-समस्या

भारत में कृषि के पुनर्निर्माण के लिए सुसंगठित वित्त-व्यवस्था एक अनिवार्य आवश्यकता है। भारतीय कृषक को कृषि-ऋण के गहन भार से इतना मुक्त कर देना होगा कि वह अपने जीवन-स्तर को उच्च बनाकर कृषि-कार्यों के लिए उचित तथा आवश्यक धन-राशि प्राप्त कर सके। परन्तु दुर्भाग्य है कि अब तक हमारे देश में इस विषय की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। यहाँ हम इस समस्या की वर्तमान स्थिति पर विचार करते हुए यह निश्चय करेंगे कि इस समस्या को किस प्रकार हल किया जाना चाहिए।

कृषि में वित्त की आवश्यकता दो अवसरों पर होती है। एक, उस समय होती है जब भूमि में कृषि-उत्पादन का कार्य आरम्भ किया जाय। उस समय कृषि-औजार, बीज एवं खाद खरीदने तथा भूमि में आवश्यक सुधार करने के लिए धन-राशि की आवश्यकता होती है। दूसरे, उस समय होती है जब फसल को काटने के पश्चात् बेचने के लिए मण्डियों में ले जाया जाय। कृषि के लिए वित्त की आवश्यकताएँ प्रायः अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन होती हैं। बीज एवं खाद खरीदने के लिए तथा फसल काटने के लिए और लगानादि भुगतान करने के लिए धन की जो आवश्यकताएं होती हैं वे अल्पकालीन कहलाती हैं। इन कामों के लिए कृषक जो ऋण लेता है वह माल बिकते ही तुरन्त लौटा देता है। कभी-कभी कृषक को कृषि-औजार खरीदने तथा अपनी भूमि में छोटे-मोटे सुधार कराने के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है। इन कामों के लिए वह जो ऋण लेता है वह अपेक्षाकृत कुछ लम्बे काल के पश्चात् चुकाया जाता है। इस ऋण को मध्यकालीन ऋण कहते हैं। कभी-कभी कृषक को अपनी कृषि-भूमि में स्थायी सुधार कराने के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता होती है। इसके लिए वह अपनी जमीन को आड़ रख कर लम्बे काल के लिए ऋण लेता है, जिसे शनैः शनैः वार्षिक किस्तों में चुकाता रहता है। यह दीर्घकालीन ऋण कहलाता है।

जहाँ तक व्यापारिक बैंकों का प्रश्न है ये बैंक तो कृषकों को सीधा ऋण देकर सहायता करते ही नहीं हैं। ये बैंक कृषि उपज की जमानत पर केवल अल्पकालीन ऋण देते हैं और वह भी फसल के अवसर पर, अन्य अवसरों पर नहीं। इन बैंकों का कृषकों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। ये बैंक स्वदेशी बैंकरों को ऋण देते हैं और स्वदेशी बैंकर इस ऋण से कृषकों की सहायता करते हैं। इस प्रकार व्यापारिक बैंक कृषकों की परोक्ष रूप से सहायता करते हैं। यदि हम यह चाहते हैं कि ये बैंक कृषकों की सीधी सहायता करने लगें तो इसके लिए हमें कुछ विशेष परिस्थिति बनानी होगी। हुण्डी बाजार को सगठित करना पड़ेगा जिससे हुण्डियों की जमानत पर ये बैंक राशि उधार दे सकें। साथ ही साथ बाजारों में माल के नाप-तौल के साधनों में भी सुधार करने होंगे, उपज का संग्रह करने के लिए गोदाम बनवाने होंगे, और उपज की किस्म में भी उन्नति करनी होगी। तभी ये बैंक कृषकों की वित्त सहायता दे सकती हैं।

रिजर्व बैंक बनने के पश्चात् कुछ लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित होने लगा है कि इस बैंक को भी कृषि की वित्त सहायता में कुछ काम करना चाहिए। अतः हम यहाँ देखें कि रिजर्व बैंक ने इस विषय में क्या-क्या प्रयत्न किए हैं। हमारे देश में रिजर्व बैंक ने कृषि साख को सगठित करने के लिए जो काम किए उनका विचार तो हमें देश की विशेष परिस्थितियों को तथा अन्य ऐसे ही कृषि प्रधान देशों में केन्द्रीय बैंक की क्रियाओं को दृष्टि में रखकर करना होगा। रिजर्व बैंक को स्थापित करते समय निस्सन्देह यह बात सोची गई थी कि देश के केन्द्रीय बैंक को कृषि साख में विशेष कार्य करना होगा और इसी लिए इस बैंक में कृषि साख विभाग का निर्माण किया गया। कृषि साख विभाग का मुख्य कार्य कृषि साख सम्बन्धी प्रश्नों का अध्ययन करके कृषि संस्थाओं को समय समय पर मार्ग प्रदर्शित करना है। इसके अतिरिक्त यह विभाग अपनी क्रियाओं द्वारा प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा अन्य बैंकिंग संस्थाओं में कार्य-संगठन भी करता है। सन् १९३५ में इस विभाग को स्थापित करते समय यह बात सुझाई गई कि यह विभाग ३१ दिसम्बर १९३७ तक रिजर्व बैंक के सचालक-मण्डल के सामने कुछ ऐसे प्रस्ताव उपस्थित करे, जिससे किस प्रकार कृषि साख पद्धति को उन्नत करने के लिए कानून की धाराएँ साहूकार, महाजन तथा

अन्य ऐसे ही लोगों पर लागू की जा सकती हैं। स्मरण रहे कि यह विभाग केवल कृषि सम्बन्धी कार्यों की शोध करने तथा कृषि-संस्थाओं को नए नए सुभाव देने के लिए ही बनाया गया था। आस्ट्रेलिया की केन्द्रीय बैंक की भाँति इसको कृषकों को धन-राशि देने के लिए कोई वित्त-कोष नहीं सौंपा गया था। इसके बिना रिजर्व बैंक अन्य देशों की भाँति कृषि-साख-क्षेत्र में अधिक महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता। यह हमारे देश का दुर्भाग्य ही है। इस विभाग ने भारत तथा अन्य देशों की कृषि-साख सम्बन्धी सामग्री इकट्ठा कर ली है। समय समय पर प्रकाशित होने वाली रिपोर्टों में कृषि विभाग ने सरकार के सामने सुझाव रक्खे हैं कि कृषकों को साख-सुविधाएँ देने के लिए साहूकारों और महाजनों, को, जो हमारे देश में कृषि-साख के सबसे बड़े प्रदाता हैं, नियमबद्ध करना होगा और सहकारी साख आंदोलन का पुनर्निर्माण भी करना होगा। हमें देखना यह है कि इस विभाग ने क्या क्या काम किए हैं :—

सबसे पहिले अगस्त सन १९३७ में एक योजना तैयार की गई जिसमें भारतीय-केन्द्रीय-बैंकिंग-जाँच-समिति के प्रस्तावों पर आधारित नये सुभाव रखे गए कि अन्य बैंकों की भाँति महाजनों को भी रिजर्व बैंक द्वारा विपत्रों की कटौती की सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ। परन्तु ये महाजन भारतीय-कम्पनी कानून के अनुसार अपना कार्यक्षेत्र सीमित रखेंगे। महाजनों को कहा गया कि वे सुचारु लेखा-विधि का पालन करें तथा लेखा पुस्तकों की जाँच समय-समय पर रिजर्व बैंक के अधिकारियों से करावें। योजना के अनुसार रिजर्व बैंक को उनके बैंकिंग कार्य की निरीक्षण करने का भी अधिकार मिलना था और महाजनों को भी अधिकार मिला कि उनका नाम रिजर्व बैंक की बैंक-पुस्तक में स्वीकार होने के पाँच वर्ष तक वे अपना लेखा रिजर्व बैंक में खोल सकते हैं। परन्तु उनको रिज़र्व बैंक में पूँजी जमा करने को तब तक बाध्य नहीं किया जा सकता तब तक कि उनका अवधि-देय तथा अभियाचन-देय दोनों मिलाकर उनकी व्यापार में लगी पूँजी से पाँच गुना या उससे अधिक न हो। योजना के अनुसार केवल उन्हीं महाजनों के नाम रिजर्व बैंक की बैंक-पुस्तक पर लिखना निश्चित् किया गया जिनकी पूँजी कम से कम १२ लाख रुपये हो। यह योजना

केवल पाँच साल के लिए निश्चित् की गई। इस योजना के अनुसार इन महाजनों को विपत्रों के कटौती की वे सब सुविधाएं प्राप्त होनी थीं, जो रिज़र्व बैंक के तालिका बद्ध बैंकों को प्राप्त हैं। इस योजना का एक मात्र उद्देश्य यही था कि कृषि-साख का सबसे भारी दुरग—महाजन—को कानून में बाँध दिया जाय जिससे महाजन मनमानी ब्याज-दर पर रुपया उधार दे-दे कर कृषकों का शोषण न कर सकें। परन्तु महाजनों ने इस योजना की सभी शर्तों को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने परिकल्पना-व्यापार को तो छोड़ने का निश्चय किया परन्तु केवल बैंकिंग व्यापार तक ही सीमित रहने का स्वीकार न किया। सन् १६४१ में रिज़र्व बैंक ने फिर 'बम्बई शराफ एसोसिएशन' से प्रश्न किया कि बैंकिंग-व्यापार के अतिरिक्त अन्य प्रकार के व्यापार को छोड़ कर रिजर्व बैंक से सम्बन्ध रखने के लिए कितने महाजन तैयार हो सकते हैं। 'शराफ एसोसिएशन' ने यह सुझाव रक्खा कि अगले पाँच वर्षों में शनैः शनैः बैंकिंग तथा गैर-बैंकिंग व्यापार अलग-अलग किए जा सकेंगे और उक्त योजनानुसार लेखा-कर्म भी रखकर लेखा पुस्तकों का निरीक्षण रिज़र्व बैंक द्वारा कराया जा सकेगा; परन्तु एसोसिएशन ने ऐसे महाजनों की संख्या के ठीक-ठीक आँकड़े रिजर्व बैंक के सामने प्रस्तुत नहीं किए। बैंक ने इस योजना को कार्यान्वित करना ठीक न समझा क्योंकि कृषकों के हित में यह बैंक तत्काल ही बैंकिंग तथा गैर-बैंकिंग व्यापार महाजनों द्वारा अलग कराना चाहता था। साथ ही साथ यह भी आवश्यक था कि महाजनों की अधिकांश संख्या इस योजना को स्वीकार करे। परन्तु सभी महाजन ऐसा करने को तैयार न थे और अधिकांश महाजनों को नियमबद्ध किए बिना योजना के सही और वांछित परिणाम सम्भव नहीं थे। इस प्रकार महाजनों को कानून में न बाँधा जा सका। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि महाजनों को किसी प्रकार नियमबद्ध किया जाय और तभी कृषि साख-क्षेत्र में आवश्यक सुधार हो सकेंगे।

दूसरा प्रयत्न जो रिज़र्व बैंक ने किया वह है महाजन द्वारा कृषि-उपज के विक्रय करने के लिए वित्त-सहायता देने का। १६३८ में बैंक ने स्वीकृत महाजनों के द्वारा कृषकों को उनकी कृषि-उपज की साख पर अग्रिम राशि उधार देने के लिए लिखे गए कृषि-बिलों को तालिका-बद्ध बैंकों के द्वारा थोड़ी कटौती-

दर पर ही कटौती करना स्वीकार किया जिससे कटौती की बचत का लाभ कृषकों को मिल सके और वे अपना माल बेचने तक आवश्यक धन-राशि प्राप्त कर सकें। अब तक कृषक को महाजन से अत्यधिक ब्याज-दर पर रुपया उधार लेकर अपनी उपज को विवश होकर महाजन के हाथ बेचना ही पड़ता था क्योंकि महाजन इस प्रकार अपने ऋण की वसूली भी कर लेता था। बेचारे कृषकों का माल महाजन मन-माने भाव पर खरीद लेते थे। परन्तु रिज़र्व बैंक ने यह निश्चय किया कि तालिका-बद्ध बैंक रिज़र्व बैंक की कटौती दर से २% अधिक लिया करेंगे और महाजन २ प्रतिशत अधिक मिलाकर धन राशि कृषकों को दिया करेंगे। इसका अर्थ यह होता कि कृषकों को रिज़र्व बैंक की कटौती-दर से केवल ४ प्रतिशत अधिक ब्याज-दर पर धन मिल सकता था और वे महाजनों के चंगुलसे बच सकते थे। परन्तु तालिका-बद्ध बैंकोंने इसका विरोध किया क्योंकि वे महाजनों को कृषकों के लिए निश्चित दर पर ऋण देने के लिए बाध्य नहीं कर सकते थे। इस असुविधा के कारण रिज़र्व बैंकने इस योजना को स्थगित कर दिया। कृषकों को वित्त-सहायता देने में रिज़र्व बैंक का अगला क़दम सहकारिता-आन्दोलन में रहा। १४ मई १९३८ को रिज़र्व बैंक ने एक नई योजना बनाई जिसके द्वारा सहकारी बैंकों को, जो कृषि-साख का काम करते थे, रिज़र्व बैंक से रुपया उधार लेकर कृषकों को बाँटने की सुविधा दी गई, परन्तु केवल एकही प्रान्तीय सहकारी बैंक ने इस योजना के अनुसार लाभ उठाया। २ जनवरी सन १९४२ को रिज़र्व बैंक ने दूसरी योजना बनाई जिसमें रिज़र्व बैंक के कानून की धारा ११ (२) (ब) और ११ (४) (स) के अनुसार बैंक ने कृषि-उपज के विपणन के लिए कटौती-दर से १% कम पर सहकारी बैंकों को धन देना निश्चित किया जिससे वे कम ब्याज-दर पर रुपया उधार दे सकें। परन्तु बैंकों ने इससे पूरा-पूरा लाभ न उठाया और केवल एक ही प्रान्तीय सहकारी बैंक ने २% पर रिज़र्व बैंक से धन लिया और फिर ५% पर गरीब कृषकों को उधार दिया। सन् १९४४ में रिज़र्व बैंक ने कृषि की वित्त-समस्या को भली भाँति समझा और कृषकों को फसल के समय में आवश्यक धन-राशि देने के लिए ऋण प्रण-पत्रों तथा व्यापार-पत्रों को विशेष अपहार (कटौती) देकर स्वीकृत करना निश्चय किया। परन्तु सहकारी बैंकों ने इस योजना से भी कोई लाभ न उठाया और केवल निम्न धन-

राशि ही कुछ प्रान्तीय सहकारी बैंकों ने प्राप्त की और यह धन राशि कृषि-हित के लिए बहुत कम रही।

वर्ष	धन-राशि (लाखों में)
१९४१ ४२	६६'६
१९४२ ४३	२७५ २५
१९४३-४४	३१७·१५

मार्च १९४६ तक रिजर्व बैंक ने उत्तर-प्रदेशीय सहकारी बैंक को तो १½% की एक विशेष छूट देकर ऋण देना स्वीकृत किया था।

रिजर्व बैंक कानून की धारा ११ (४) (द) अभी तक कृषि साख के हित में कार्यान्वित ही नहीं हो सकी है। इस धारा का नियमानुसार उपयोग तब तक नहीं हो सकता जब तक कि देश में रजिस्टर्ड-गोदाम न हों। इस अभाव की पूर्ति करने के लिए नवम्बर १९४४ म रिजर्व बैंक ने एक आज्ञा पत्र निकाला कि देश में रजिस्टर्ड गोदाम स्थापित किए जाएँ जहाँ कृषि उपज इकट्ठी की जाय, इसका ग्रेडर (Gradation) किया जाय तथा उनका समय समय पर निरीक्षण भी किया जाय। यह सोचा गया कि रजिस्टर्ड-गोदाम होने से बैंक कृषि को वित्त सहायता देने मे अधिक काम कर सकेगा। परन्तु अभी तक हमारे देश में इस प्रकार के गोदाम नहीं बन सके हैं।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि हमारे देश में कृषि के लिए वित्त-सहायता का कोई उचित और संगठित प्रबन्ध नहीं है। आवश्यकता के समय कृषक विवश होकर महाजन की ओर ही देखता है और वही उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाता है। परन्तु अब तरह तरह के कानून बनने से साहूकारों और महाजनों की शक्ति कम होती जा रही है। सहकारिता आन्दोलन की अभी भी कोई अच्छी स्थिति नहीं है। इसके द्वारा कृषकों की वित्त-सम्बन्धी सभी आवश्यकताएँ अच्छी तरह पूर्ण नहीं हो पातीं। व्यापारिक बैंक केवल अल्पकालीन ऋण ही दे पाते हैं और वह भी बहुत कम।

रिजर्व बैंक भी जैसा कि अभी कहा गया है, कृषि के लिए बहुत सीमित सहायता कर पाता है। अत कृषि की वित्त समस्या एक बहुत बड़ा प्रश्न है जिसे हल किए बिना कृषि और कृषक की उन्नति सम्भव नहीं। इस विषय में

सरकार को आगे बढ़ कर काम करना चाहिए। औद्योगिक वित्त कॉर्पोरेशन की भाँति कृषि-वित्त कार्पोरेशन स्थापित करने चाहिएँ जो स्वयं कृषकों को ऋण दें तथा ऋण देनेवाली अन्य संस्थाओं को भी संगठित करें। गाँवों में ग्रामीण बैंक स्थापित करने चाहिएँ जो लोगों से रुपया जमा लेकर उन्हें बचत करना सिखाएँ तथा उनको ऋण देकर सहायता भी करें। सन्तोष की बात है कि ग्रामीण बैंक स्थापित करने के विषय में जाँच-पड़ताल करने के लिए सरकार ने ग्रामीण बैंकिंग-जाँच-कमेटी नियुक्त की थी। कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है परन्तु खेद है कि इस कमेटी ने अपनी सिफारिशों में बैंक स्थापित करने के प्रस्ताव तो रक्खे हैं परन्तु उनका उद्देश्य लोगों को केवल बचत सिखाना ही आँका गया है, ग्रामीणों को ऋण देना नहीं। कहने का अर्थ यह है कि कमेटी ने बचत-योजना पर अधिक ध्यान दिया है परन्तु वित्त-समस्या को सुलझाने के कोई ठोस प्रस्ताव नहीं रक्खे हैं। कमेटी का कहना है कि "कृषि की वित्त समस्या को सुलझाने में काफी प्रयत्न करने की आवश्यकता है। इसमें समय लगेगा और दीर्घकालीन योजना बनाने की आवश्यकता होगी।" वास्तव में बात तो ठीक है परन्तु केवल इतना कहने से सन्तोष नहीं हो सकता। करने की बात यह है कि कृषि को वित्त सहायता देनेवाली भिन्न-भिन्न संस्थाओं को संगठित किया जाय तथा उनका कार्य-क्षेत्र भी बढ़ाया जाय। इसके लिए निम्न उपाय अधिक हितकर सिद्ध हो सकते हैं :—

१. कृषि-वित्त-कॉर्पोरेशन स्थापित किए जाएँ। एक अखिल भारतीय कॉर्पोरेशन हो तथा राज्यों में भी अलग-अलग कॉर्पोरेशन बनाए जाएँ।

२. सहकारी आन्दोलन की स्थिति सुधार कर उन्हें कृषकों के अधिक समीप लाया जाय। सहकारी समितियों की संख्या बढ़ाई जाय तथा उनके साधनों में भी कुछ बढ़ोत्तरी की जाय।

३. साहूकार और महाजनों पर कुछ प्रतिबन्ध लगा कर उन्हें केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण में लाया जाय जिससे वे मनमानी ब्याज-दर वसूल न कर सकें। उनकी कार्यप्रणाली सीधी और सरल बनाई जाय।

४. रजिस्टर्ड गोदाम स्थापित किए जाएँ तथा नाप-तौल का एकमा

प्रबन्ध हो। यदि ऐसा होगा तो व्यापारिक बैंक अधिक मात्रा में कृषि की सहायता करने लगेंगे।

५. ग्रामीण बैंक स्थापित किए जाएँ, जो न केवल लोगों से राशि ही जमा करें वरन् उनकी सहायता भी करें।

६. रिजर्व बैंक के कृषि विभाग को धन-राशि देकर एक कोष बनाया जाय जिससे वे वह कृषि की सहायता कर सकें।

यदि ये सुधार काम में लाये जाएँ तो कृषि की अवस्था बहुत कुछ सुधर सकेगी।

१०—भारत की पशु-समस्या

हमारे कृषि-प्रधान देश में पशुओं की उन्नति एक ऐसा महत्वपूर्ण विषय है जिस पर कृषि और कृषक की उन्नति ही नहीं वरन् सम्पूर्ण देश-वासियों का जीवन-स्तर तथा देश भर की भावी उन्नति निर्भर है। भारतीय कृषि आदि-काल से बैलों पर आश्रित रही है—बैलों की सहायता से खेतों की जुताई, बुवाई तथा फसल काटने का काम होता है। कुओं से पानी निकालकर सिंचाई करने के काम में बैल ही काम आते हैं। दूध घी का व्यापार पशुओं के स्वास्थ्य तथा उनके रहन-सहन के स्तर पर निर्भर है। ऊन के लिए भेड़-बकरी राष्ट्र की सम्पत्ति कही जाती हैं। इस प्रकार कृषि, उद्योग एवं व्यापार तीनों की समृद्धि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में पशुओं की उन्नति पर ही निर्भर है। परन्तु खेद का विषय है कि हमारे देश में इस समस्या की ओर अभी तक आवश्यक ध्यान नहीं दिया गया है। पिछले दस-बारह वर्षों में तो सरकार ने कभी देश में पशुओं की गणना भी नहीं की जिससे वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त किया जा सके। पशु-गणना के अभाव में यह कहना असम्भव है कि हमारे देश में पशुओं की संख्या क्या है; उनका रहन-सहन कैसा है? सामान्यतः पशु दुर्बल और रोगी क्यों हैं? आदि, आदि। १९४० में एक बार एक छोटे पैमाने पर पशु-गणना करने का प्रयत्न किया गया था परन्तु उस समय भी देश भर की पशु-गणना न की जा सकी। उत्तर प्रदेश और उड़ीसा राज्यों में उस समय पशु-गणना न हो सकी। अतः किसी भी प्रकार से सम्पूर्ण देश की पशु-संख्या के विषय में जानना दुर्लभ है। एक विशेषज्ञ ने अपनी एक पुस्तक में १९४० और १९३५ की पशु-गणना के आधार पर लिखा है कि उस समय देश भर में कुल मिलाकर लगभग १८,९०,००,००० पशु थे। उन्होंने उनका यह ब्यौरा दिया है।

भैंस-गाय	४,५०,००,०००	घोड़े-खच्चर	२२,००,०००
भेड़	४,७०,००,०००	सूअर	२७,००,०००
बकरी	४,८०,००,०००		

इन आँकड़ों के आधार पर अनुमान लगाया गया था कि कृषि के काम मे आने वाली भूमि के प्रति १०० एकड़ के क्षेत्रफल में पशुओं का घनत्व इस प्रकार था।

बैल	२२·१	भैंस	७
गाय	६७	सूअर	६
मुर्गी	२६·३		

अन्य देशों को देखते हुए पशुओं का घनत्व हमारे देश में बहुत अधिक है और चिन्ता का विषय भी है। गत वर्ष में लखनऊ में आयोजित संयुक्त राष्ट्र की खाद्य और कृषि कान्फ्रेंस में भाषण देते हुए सरदार दातारसिंह ने स्पष्ट किया था कि देश भर में पशुओं की कुल सख्या लगभग १७,६०,००,००० है। इन आँकड़ों के आधार पर प्रति १०० एकड़ कृषि भूमि (जो प्रति वर्ष कृषि के लिए बोई जाती है) के हिस्से में लगभग ७५ पशु आते हैं जबकि हालैण्ड में प्रति १०० एकड़ के क्षेत्रफल में ३८ पशु तथा मिश्र में २५ पशु हैं। हमारे देश में पशु संख्या जन संख्या का कोई ५५% है। इस प्रकार भोजन के लिए जन और पशु—दोनों बुरी तरह से आश्रित हैं। जन, पशु तथा भूमि में एक प्रकार का संघर्ष सा चल रहा है और आज, जबकि हमारे देश में खाद्य संकट है, इस समस्या का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। जन संख्या तो पेट भर भोजन पाती ही नहीं, पशु भी भूखे और प्यासे रहते हैं। वर्तमान परिस्थिति में पशुओं को पेटभर चारा नहीं मिलता और देश के अनेक भागों से चारे के अकाल के समाचार प्रति दिन मिलते रहते हैं। गत वर्ष गुजरात और राजस्थान के कुछ भागों में चारे का बहुत अभाव रहा जिससे सैकड़ों पशु मर गए। आज भी राजस्थान में चारे की कमी है। इससे पशुओं को निम्न श्रेणी के आहार पर जीवन बिताना पड़ता है जिससे पशुओं में रोग फैलते हैं और उनकी नस्ल गिरती जाती है। न वे कृषि के उपयोग के रहते हैं और न उनसे आहार प्राप्त किया जा सकता है। आज भी हमारे देश में सैकड़ों की संख्या में पशु तपेदिक, कोढ़ तथा अन्य रोगों में फँसे हुए हैं। कानूर इन्स्टीट्यूट में शोध करके बतलाया गया है कि पशुओं के दुर्बल और रोगी होने का मुख्य कारण उन्हें भोजन की कमी तथा पौष्टिक आहार का अभाव है। परन्तु जैसे-जैसे पशुओं की

नस्ल बिगड़ती जाती है तैसे ही तैसे कृषकों को अधिक संख्या में पशु रखने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार पशु-समस्या एक कुचक्र में फँसती चली जा रही है। आज से लगभग २० वर्ष पहिले कृषि के शाही कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में व्यक्त किया था :—

"किसी भी जिले में पशुओं की संख्या बैलों की स्थानीय आवश्यकताओं पर निर्भर रही है। कुशल पशुओं के पालन-पोषण की परिस्थितियाँ जितनी खराब होती हैं उतनी ही अधिक संख्या में पशु रखने की आवश्यकता होती जाती है। और जैसे-जैसे पशुओं की संख्या बढ़ती है तैसे-तैसे उनका स्वास्थ्य, नस्ल तथा कार्यक्षमता कम होती जाती है।"

इस प्रकार यह निश्चित है कि जैसे जैसे पशुओं की संख्या बढ़ती जाती है तैसे-तैसे उनकी कार्यक्षमता कम होती है और उनकी नस्ल बिगड़ती है। कृषि-भूमि पर दबाव पड़ने के कारण अन्न के अभाव में चारे की भी कमी होती है और चारे की कमी के कारण पशु हल्के, छोटे तथा रोगी हो जाते हैं। पशुओं की संख्या बढ़ने से खाद्य वस्तुओं की कमी होने लगी है क्योंकि जनसंख्या के साथ-साथ पशु-संख्या का दबाव भी भूमि पर बढ़ गया है। सूखा के समय में पशुओं को जंगलों में चराया जाता है जिससे जंगलों की उपज भी कम होती जाती है। जैसे-जैसे पशु निर्बल तथा रोगी होते गए हैं तैसे-तैसे वे कृषि कार्य को कुशलता से नहीं कर पाते और कृषि की उपज कम होती जाती है।

हमारे देश की पशु-संख्या आवश्यकता से बहुत अधिक है। बिहार-उड़ीसा, उत्तर प्रदेश तथा मद्रास में प्रति १०० एकड़ भूमि क्षेत्र में क्रमानुसार ८६, ४२ तथा ७५ पशु हैं जबकि हालैण्ड, मिश्र, चीन तथा जापान में क्रमानुसार ३८, २५, १५ और ६ हैं। इससे ज्ञात होता है कि हमारे यहाँ पशु संख्या का अन्तर कितना अधिक है। हमें ६ एकड़ भूमि पर एक जोड़ी बैल रखने पड़ते हैं जबकि मिश्र में प्रति १०० एकड़ पर ३ बैलों को रखना पड़ता है। १९३८-३९ में पंजाब में अनुमान लगाया गया था कि एक महीने में औसतन १७ दिन बैलों को कोई काम नहीं रहता और वे निठल्ले रहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि देश के उत्पादन-स्तर को कम किए बिना तथा ग्राम्य-यातायात के साधनों को भंग किए बिना आवश्यकता से अधिक पशुओं को कम करके

कृषि भूमि के सतुलन म ले आना चाहिए। परन्तु जब तक देश भर म पशु-गणना न हो यह कहना कठिन है कि कितने पशु अनावश्यक हैं। देश के विभाजन स पहिले अनुमान लगाया गया था कि ⅔ पशु अनावश्यक हैं। यह बात पशुगणना करके निश्चित कर लेना चाहिए। पशु समस्या का हल करने के निम्न उपाय हो सकते हैं —

१ देश भर की पशु गणना करके पता लगाया जाय कि भिन्न भिन्न प्रकार के कितने पशु देश म हैं। उनमें स कितने असमर्थ हैं और कितनों को विशेष रोग आदि हैं। इस गणना स यह पता लगाया जा सकेगा कि साधना की दृष्टि स कितने पशु देश म आवश्यक हैं।

२ पशुओं का श्रेणीकरण (Gradation) किया जाय जिससे उनकी नस्ल सुधारने की कोई योजना बनाई जा सके।

३ पशुओं की नस्ल सुधारी जाय। इस काम में सरकार को आगे बढ कर काम करना चाहिए। जितने भी बुरे, रोगी तथा खराब नस्ल के पशु हों उनको लिंग हीन कर देना चाहिए। बूचड़खाना में भी यह देखना चाहिए कि अच्छे और स्वस्थ पशु न काटे जाएँ परन्तु साथ ही साथ अपने चर्म-व्यापार को दृष्टि म रखना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि देश का चर्म व्यापार कम हो जाय। सरकार ऐसे पशुशाला बनाए जहाँ असमर्थ तथा रोगी पशु रह सकें। अन्य पशुओं के साथ इन्हें न छोड़ा जाय।

४ भिन्न भिन्न प्रकार के दो नर और मादा पशुओं को पशु सख्या बढाने से रोका जाय। इस प्रकार नस्ल बिगड़ने का भय रहता है। परन्तु इसमें कठिनाई हो सकती है क्योंकि हमारे देश में अच्छे सॉड़ नहीं हैं। सरदार दातारसिंह ने लखनऊ कान्फ्रेंस में कहा था कि हमें १०,००,००० सॉड़ों की आवश्यकता है जबकि हमारे पास केवल १०,००० सॉड़ हैं। क्रॉस ब्रीडिंग को रोकना चाहिए। उत्तर प्रदेश के कृषि-मंत्री एम० ए० शेरवानी ने लखनऊ में कहा था कि Cross breeding हमारे लिए उपयोगी नहीं होगा। दूसरे, यह खर्चीला भी बहुत है। इससे जानवरों का स्वास्थ्य गिरता है तथा उनमें रोग फैलते हैं। तीसरे, क्रॉस ब्रीड करने वाले पशुओं को जितना अच्छा

आहार चाहिए वह हमारे देश में उपलब्ध नहीं है। अतः क्रास ब्रीडिंग को, जहाँ तक हो सके, रोकना चाहिए।

५. हमारे देश में पशुओं की एक बड़ी समस्या उनके लिए चारे का अभाव रहता है। हम, अगर वास्तव में देखा जाय तो, आवश्यक चारे का ½ भाग भी अच्छी तरह नहीं पैदा करते। इस कठिनाई को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि भूमि की कृषिकरण योजना में नई भूमि को तोड़कर चारा पैदा किया जाय। चारागाहों को सुरक्षित रखने का प्रबन्ध हो। चारे को संग्रह करके रखने की सुविधाएँ हों तथा साल में दो बार चारे की फसल की जाय। चारा उगाने का काम गाँवों की पंचायतों को सौंपा जा सकता है। ये पंचायत गाँव के आस-पास की बेकार भूमि पर चारा पैदा करने का प्रबन्ध करें। यदि यह प्रश्न हल हो गया तो पशुओं का स्वास्थ्य और कार्यक्षमता में आवश्यक वृद्धि होगी।

६. पशु चिकित्सा का भी प्रबन्ध हो। इसके लिए गाँवों में पशु-चिकित्सालय हों जहाँ पशुपतियों को चिकित्सा का लाभ मिल सके। पशु-रोगों की शोध के लिए विशेषज्ञों का प्रबन्ध करके शोध-केन्द्र खोले जाएँ।

७. पशु-संख्या के घनत्व को संतुलन में लाया जाय। अधिक घनत्व वाले प्रदेशों से कम घनत्व वाले क्षेत्रों में पशुओं को भेजा जाय। इस के लिए सरकार पशुशालाएं तथा डेरी फार्म खोलने का प्रबन्ध करे।

८. सरकारी साँड-घर खोले जाएँ। इनमें अच्छी-अच्छी नस्ल के साँड हों और ये साँड आवश्यकता के समय पशुओं की संख्या बढ़ाने में योग दें।

यदि ऐसा किया गया तो देश की पशु-समस्या हल हो जायगी और कृषि, कृषक तथा जनता को भी आवश्यक लाभ होगा। कृषि-प्रधान देश की समृद्धि पशु-सम्पत्ति पर निर्भर होती है। अतः कृषि को उन्नत बनाने के लिए कृषक को सुखी करना होगा और कृषक का सुख पशु-सम्पत्ति पर निर्भर है।

———

११—कृषि-आयोजन की आवश्यकता ?

भारतीय कृषि की नई पुरानी समस्याओं का वर्णन पीछे किया जा चुका है। हमारी कृषि में कुछ ऐसी असुविधाएँ, अड़चनें तथा कठिनाइयाँ हैं जिन्हें दूर करना इतना सरल नहीं है जितना प्राय समझा जाता है। इन कठिनाइयों के कारण ही देश के कृषि साधना का पूरा पूरा दिदोहन नहीं किया जा सका है जिससे भूमि की उत्पादन शक्ति कम हो गई है तथा उत्पादन व्यय बहुत बढ़ गया है। इन दोनों कारणों से हमारे कृषक तथा समूचा ग्रामीण जनता गरीबी मे ग्रसित होती जा रही है। अस्तु ! कृषि सम्बन्धी समस्याओं को अलग अलग करके नहीं सुलझाया जा सकता। इसके लिए तो सर्वाङ्ग पूर्ण कृषि योजना की आवश्यकता है जिसके अनुसार काम करते हुए कृषि साधनों का पूरा-पूरा दिदोहन किया जा सके तथा उत्पादन व्यय कम करके कृषकों की आय बढ़ाई जा सके और इस प्रकार उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठाया जा सके। राष्ट्रीय आर्थिक आयोजन के किसी भी प्रोग्राम में कृषि-उन्नति तथा कृषि सम्बन्धी उद्योग धन्धों के विकास को सबसे पहिला स्थान मिलना चाहिए। आर्थिक आयोजन का अर्थ यह है कि देश की उत्पादक शक्तियों का इस प्रकार प्रयोग किया जाय कि जिससे सम्पत्ति का उत्पादन बढ़े, वितरण में सुधार हो तथा जिसमें सामान्य जनता का जीवन स्तर ऊँचा बनाया जा सके। यही नहीं, आयोजन करते समय ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि प्रत्येक देशवासी को काम करने के समान अवसर मिल सकें और सभ्य समाज के अन्तर्गत उसकी न्यूनातिन्यून आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। राष्ट्रीय आयोजन-समिति ने अपनी योजना में देश की कृषि और कृषक को मुख्य स्थान दिया था। आयोजन करते समय केवल आर्थिक जीवन-स्तर के विषय में नहीं वरन् सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा मानवीय पक्ष की ओर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। योजना के लक्ष्य और उद्देश्य योजना कार्यान्वित करने से पहिले ही निर्धारित कर लेने चाहिएँ। हमारे देश के कृषि-आयोजन में निम्नलिखित बातों को अवश्य ध्यान में रखना पड़ेगा :—

१. कृषि हमारे देश का मुख्य व्यवसाय है और रहेगा। अतः इसको विशेष स्थान देना चाहिए। आयोजकों को देश की ग्रामीण जनता के आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। कृषि के साथ-साथ तत्सम्बन्धी उद्योग-धन्धों को उन्नत करने का प्रयत्न भी करना चाहिए जिससे कृषक अपने खाली समय में इन उद्योगों में काम करके अपना आय बढ़ा सकें।

२. कृषि व्यवसाय में पूँजी की व्यवस्था होनी चाहिए। कृषकों को बचत करना सिखाने के लिए सहकारी बैंक होने चाहिएँ और यदि आवश्यकता पड़े तो विशेष प्रकार की साख-संस्थाएँ भी स्थापित करनी चाहिएँ जहाँ लोग अपनी बचत जमा कर सकें तथा जहाँ से वे ऋण भी ले सकें। कृषकों को दिए जाने-वाले दीर्घकालीन ऋणों पर ४ प्रतिशत से अधिक तथा अन्य ऋणों पर ६½ प्रतिशत से अधिक ब्याज नहीं होना चाहिए। रिजर्व बैंक का कृषि और कृषकों से सीधा सम्पर्क स्थापित करना चाहिए।

३. कृषि-योजना में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि जिससे देश में आर्थिक विषमता दूर होकर सन्तुलन उत्पन्न हो। हमारे देश के वर्तमान आर्थिक-संगठन में अधिकांश जनता कृषि पर अवलम्बित है और बहुत कम लोग उद्योगों, यातायात तथा अन्य व्यवसायों पर आश्रित हैं। योजना ऐसी होनी चाहिए जिससे कृषि पर पड़ा हुआ भार कम हो। कृषि-क्रियाओं में ऐसे सुधार होने चाहिएँ कि जिससे जन-वृद्धि के साथ-साथ कृषि-उत्पादन भी बढ़ता जाय। सहायक उद्योग धन्धे भी स्थापित होने चाहिएँ जहाँ कृषि पर आश्रित लोग काम कर सकें।

४. नई भूमि को तोड़कर उसे कृषि के काम में लाना चाहिए। बिना भूमि का कृषिकरण किए खाद्य तथा अन्य पदार्थों का उत्पादन नहीं बढ़ाया जा सकता। सरकार यह काम कर रही है परन्तु इसमें भी अधिक काम की आवश्यकता है।

५. सिंचाई की सुविधाएँ बढ़ाने की व्यवस्था करनी चाहिए। इसके लिए एक ऐसी योजना बनानी चाहिए जिसके अन्तर्गत सिंचाई के नए-नए साधन बनाए जाएँ तथा पुराने साधनों को विकसित किया जाय। सरकार को इस विषय में कृषकों के लिए सिंचाई के साधन बढ़ाने में धन तथा यान्त्रिक सहायता देने की व्यवस्था करनी चाहिए।

६ भूमि-व्यवस्था तथा कृषि क्रियाओं में ऐसे परिवर्तन किए जाने चाहिएँ जिससे कृषक स्वतन्त्रता पूर्वक काम कर सके। उसे किसी बाह्य शक्ति पर आश्रित न रहना पड़े। इसका अर्थ यह है कि जिस वायु मण्डल में आज हमारे कृषक जीवनयापन करते हैं उस वायु मण्डल में ही सुधार कर देना चाहिए।

७ कृषि भूमि का इस प्रकार वितरण होना चाहिए कि जिससे खाद्य-पदार्थ तथा अन्य कच्चा माल सतुलन के साथ आवश्यकतानुसार उत्पन्न किया जा सके। देश के विभाजन से उपजाऊ भूमि का एक बहुत बड़ा हिस्सा पाकिस्तान में चले जाने से हमें कच्चे माल की बहुत कमी हो गई है। कृषि योजना में कच्चे माल के मामले में देश को स्वतन्त्र बनाने का आयोजन होना चाहिए। गहरी खेती करने के साधनों का प्रयोग किया जाय। आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रों का प्रयोग किया जाय। उत्तम प्रकार के बीजों का प्रयोग हो तथा पर्याप्त और रासायनिक खाद लगाई जाय। इन उपायों से कृषि की उपज बढ़ने लगेगी। सरकार को कृषक के लिए इन सब वस्तुओं की सुविधाएँ देकर उसके हाथ मज-बूत करने चाहिए।

८. कृषि आयोजन में सिंचाई के लिए पानी प्राप्त करने के प्रयत्न तथा शीघ्र होने चाहिएँ। जिन स्थानों में सिंचाई आवश्यक है वहाँ जल-साधनों को नियन्त्रित करके उचित रूप से काम में लाने का प्रबन्ध करना आवश्यक है। देश में अनेक ऐसे प्रदेश हैं जहाँ पानी के अभाव के कारण भूमि से बिल्कुल काम ही नहीं लिया गया है। राजस्थान में यदि सिंचाई का प्रबन्ध किया जाय तो वहाँ की भूमि सचमुच ही सोना उगल सकती है, परन्तु सरकार ने इस ओर प्रभावशाली कदम नहीं उठाया है। यदि योजना बनाकर नल कूप बनाए जाएँ और किसी भी प्रकार एक नहर का प्रबन्ध किया जा सके तो राजस्थान की भूमि देश के अधिकांश भाग को अन्न दे सकती है। बहुमुखी जल-योजनाएँ तो कार्यान्वित हो रही हैं परन्तु छोटी-छोटी योजनाओं को भी कार्यान्वित करना चाहिए। स्थानीय और छोटी छोटी सिंचाई की योजनाएँ गाँव पचायतों को सौंप दी जानी चाहिएँ जिससे वे स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार उनका प्रबन्ध कर सकें।

६. भूमि स्तर तथा जगलों को सुरक्षित रखने का दायित्व सरकार को

अपने ऊपर लेना चाहिए। देश भर की भूमि की जाँच पड़ताल करके यह पता लगाना चाहिए कि कितनी भूमि कृषि-योग्य होते हुए भी कृषि के काम में नहीं आती। ऐसी भूमि को कृषि के काम में लाने का काम बहुत आवश्यक है। जंगलों का विदोहन करके उन्हें सुरक्षित रखना भी आवश्यक है। जितने भी व्यक्तिगत जंगल हो उन सबको सरकार को अपने अधीन कर लेना चाहिए। सरकार ऐसी वन-नीति बनाएँ जिससे जंगलों का अधिकाधिक उपयोग हो सके।

१०. कृषि-मजदूरों की स्थिति सुधारने की भी व्यवस्था होनी चाहिए। इन मजदूरों का शोषण बन्द करके इन्हें सामाजिक-सुरक्षा-योजना का लाभ देना आज बहुत आवश्यक है। न्यूनातिन्यून मजदूरी का प्रबन्ध करके इनके जीवन-स्तर को उठाने का प्रश्न आज बहुत महत्त्वपूर्ण है।

११. कृषि जन्य वस्तुओं के यातायात की सुविधाएँ देकर उन्हें मण्डियों में बेचने का प्रबन्ध करने की व्यवस्था कृषि-योजना में अवश्य होनी चाहिए। आजकल इन बातों की बहुत असुविधाएँ हैं। इसके लिए योजना में संचालित-बाजार (Regulated Markets) स्थापित करने चाहिए। कृषकों को मण्डियों के भाव समय-समय पर मिलते रहें। इसकी भी व्यवस्था योजना में करनी चाहिए।

१२. योजना-अधिकारियों को एक निश्चित मूल्य-नीति निर्धारित करनी चाहिए जिससे कृषक न्यूनातिन्यून तथा अधिकाधिक मूल्यों की सीमाएँ जानता रहे। सरकार को चाहिए कि वह कृषि पदार्थों का मूल्य स्थायी बनाने का प्रयत्न करे। न्यूनातिन्यून तथा अधिकाधिक सीमाएँ निश्चित की जाए और फिर सरकार देखे कि इन सीमाओं से नीचे या ऊपर मूल्यों का उच्चावचन न हो। कृषि की उन्नति के लिए मूल्यों का संचालन एक नितान्त आवश्यकता है। मूल्य इस प्रकार निर्धारित किए जाएँ कि जिससे कृषक खाद्यान्न तथा अन्य कच्चा माल सभी वस्तुएँ उपजाता रहे। कहीं ऐसा न हो कि खाद्यान्न के भाव अपेक्षाकृत ऊँचे हो या अन्य वस्तुओं के भाव ही ऊँचे हों। यदि ऐसा हुआ तो कृषि-उत्पादन अधूरा रहकर एक-पक्षी बन जायगा। कृषि उत्पादन में संतुलन होना चाहिए।

१३. योजना में एक ऐसी व्यवस्था भी होना चाहिए कि जिसके अनुसार

ग्रामीण जनता को शिक्षा तथा संस्कृति सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त होती रहें। योजना के अंतर्गत शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक लक्ष्य अवश्य होने चाहिएँ। गाँवों में अनिवार्य शिक्षा प्रणाली आरम्भ हो और आवश्यकतानुसार माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा का भी प्रबन्ध किया जाय। ग्रामीण शिक्षा का आयोजन इस प्रकार हो कि उसमें शारीरिक श्रम का यथेष्ट स्थान मिले और विद्यार्थी प्रत्येक शारीरिक श्रम के योग्य बन सकें। इसके लिए विश्वविद्यालय कमीशन के सुझाव बहुत उपयोगी हैं कि देश में ग्राम्य-विश्वविद्यालय खोले जाएं। सरकार को इस ओर ढील नहीं करनी चाहिए। कहने का अर्थ यह है कि शिक्षा द्वारा देशवासियों के दृष्टिकोण में मूल परिवर्तन करके ही कृषि को उन्नत बनाना सम्भव है। इसके लिए एक बृहद् योजना बननी चाहिए।

कृषि आयोजन का लक्ष्य ऐसा होना चाहिए कि जिससे कृषि और उद्योग दोनों में संतुलन उत्पन्न करके देश के मानवीय और भौतिक साधनों का अधिक से अधिक विदोहन किया जा सके। कृषि के विकास के साथ साथ छोटे और बड़े दोनों प्रकार के उद्योगों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कृषि और उद्योग एक दूसरे के पूरक व्यवसाय हैं और एक की उन्नति दूसरे के विकास पर आश्रित है। कभी कभी कहा जाता है कि कृषि और उद्योग दोनों में से किसी एक का ही उन्नत किया जा सकता है और किसी एक के विकास को ही पर्याप्त पूँजी मिल सकती है इसलिए किसी एक का ही विकास होना चाहिए। परन्तु यह दृष्टिकोण बिल्कुल गलत है। दोनों का ही विकास आवश्यक है परन्तु यह तभी हो सकता है जब कि कोई संगठित योजना बने। कृषि और उद्योगों में होने वाली प्रतियोगिता को रोक कर ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि जिसमें उत्पादन, उपभोग, पूँजी, विनियोग आदि सभी के लक्ष्य निर्धारित करके उन्हें प्राप्त करने की दीर्घकालीन और अल्पकालीन योजनाएं बनाई जा सकें। लक्ष्य बनाकर निश्चित समय में उन्हें प्राप्त करने के पूरे-पूरे प्रयत्न होने चाहिएँ। इस ओर रूस का उदाहरण हमारे सामने है जहाँ पंच-वर्षीय योजनाएं बनाकर विकास होता रहा है। योजना सरकार बनाये परन्तु उस योजना के साथ जनता की स्वीकृति तथा सहयोग होना चाहिए क्योंकि बिना जन सहयोग के कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती।

१२—पंचवर्षीय-योजना में कृषि का स्थान

योजना कमीशन ने हमारी कृषि का महत्व समझ कर अपनी 'पंचवर्षीय योजना' में इसको विशेष स्थान दिया है। कमीशन ने शीघ्रगति से बढ़ने वाली हमारी जनसंख्या को दृष्टि में रखते हुए ऐसी व्यवस्था की है कि जिससे खाद्यान्न तथा कच्चे माल की माँग और पूर्ति में संतुलन बनाया जा सके। गत कुछ वर्षों से हम अन्न के मामले में विदेशों पर निर्भर रहे हैं परन्तु इस प्रकार किसी देश का काम सदैव नहीं चल सकता। अतः योजना के अन्तर्गत देश को आत्मनिर्भर बनाने की व्यवस्था की गई है। योजना के अनुसार कृषि-विकास पर अगले पाँच वर्षों में इस प्रकार राशि व्यय की जायगी :—

(करोड़ रुपयों में)

	दो वर्षों में मिलाकर (१९५१–५३)	पाँच वर्षों में मिलाकर (१९५१–५६)
कृषि	६०·८	१३६·९
पशु व्यवस्था, पशु चिकित्सा तथा डेरी-स्थापन	६·७	२२·५
वन	३ २	१० १
सहकारिता-विकास	३	७·२
मछली उद्योग	१·४	४·४
ग्राम्य विकास	४·०	१०·६
योग	७९ १	१९१·७

योजना के अन्तर्गत कमीशन ने अपने लक्ष्य इस प्रकार निर्धारित किए हैं कि पाँच वर्ष के पश्चात् योजना पूर्ण होने पर ७२,००,००० टन अधिक अन्न; २१,००,००० अधिक पटसन की गाँठें; १२ लाख अधिक रूई की गाँठें;

३,७५,००० टन तिलहन और ९,९०,००० टन अधिक चीनी उत्पन्न हो सकेगी। इन लक्ष्यों का ब्यौरा प्रत्येक राज्य में अलग अलग इस प्रकार दिया गया है—

(हजारों में)

	अन्न टनों में	पटसन ४०० पौंड की तौल में गाँठों में	रूई ३९२ पौंड तौल की गाँठों में	तिलहन टनों में	चीनी टनों में
आसाम	३११	४४०	...	...	५०
बिहार	८७९	३९०	...	८५	५०
बम्बई	३६७	.	१६८	६३·०	३४
मध्यप्रदेश	३४७	..	१२८	२७·०	...
मद्रास	८३४	...	२१८	१४२·०	७८
उड़ीसा	२९५	२००	...	...	...
पंजाब	६५०	...	७९	...	५७
उत्तरप्रदेश	८००	३३०	४६	६१·०	४१०
प० बंगाल	७९७	७००	...	...	११
हैदराबाद	६३३	..	८८	४९·०	...
मध्यभारत	३००	...	९१	९·५	...
मैसूर	१५९	..	७५	...	...
पूर्वी पंजाब —					
रियासती संघ	२४९	...	५६	...	...
राजस्थान	८६	...	७५	...	...
सौराष्ट्र	९४	...	१५९	१५·०	...
ट्रावनकोर-कोचीन	१४१	...	...	...	...
अन्य राज्यों में	२६०	...	१७	...	...
योग	७२०२	२०६०	१२००	३७५·०	६९०

इससे ज्ञात होता है कि योजना कमीशन ने अपना दृष्टिकोण कितना विस्तृत बनाया है और कितनी व्यापक योजना तैयार की है। देश के प्रत्येक भाग में कृषि के विकास की व्यवस्था की गई है। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कमीशन ने सिंचाई को विकसित करने, खाद तथा अन्य वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करने, उत्तम कोटि के बीज प्रयुक्त करने तथा भूमि के कृषीकरण की व्यवस्था की है। इस व्यवस्था का ब्यौरा इस प्रकार है—

	अधिक क्षेत्र जो योजना के अनुसार प्रयुक्त होगा। (००० एकड़)	अधिक अन्न-उत्पादन जो योजनानुसार बढ़ेगा। (००० टन)
१. बड़ी-बड़ी सिंचाई योजनाओं द्वारा	८,७१२	२,२७२
२. छोटी-छोटी सिंचाई योजनाओं द्वारा	७,६२१	१,६३२
३ भूमि-सुधार तथा कृषीकरण की योजनाओं द्वारा	७,४०५	१,५२४
४ खाद तथा अन्य रासायनिक पदार्थों के प्रयोग द्वारा	..	५८४
५ उत्तम कोटि के बीज-वितरण की योजना द्वारा	...	३७०
६. अन्य योजनाओं द्वारा	...	५२०
योग	२३ ७३८	७,२०२

कमीशन ने यह भली भाँति समझ लिया है कि देश की कृषि-व्यवस्था और संगठन में कुछ ऐसे मूल दोष हैं जिनके कारण कृषि की उन्नति नहीं हो सकी है। योजना कमीशन ने इन दोषों को दूर करने के लिए प्रस्ताव किया है कि प्रत्येक जिले को कई-कई विकास-प्रदेशों में बाँटा जाय। प्रत्येक विकास-प्रदेश में २५ से ३० हजार की जनसंख्या वाले ५० से ६० तक गाँव हों। इन प्रदेशों का अलग-अलग संगठन किया जाय। प्रत्येक विकास प्रदेश एक विकास-अफसर के प्रबन्ध में रहे। ये अफसर कृषि, सहकारिता तथा पशु विभागों का काम संगठित करें।

इस अफसर के नीचे कुछ ऐसे कार्यकर्त्ता हो जो ५ या ६ गाँवो का दायित्व लें। इनके काम की देख भाल तथा धन राशि सम्बन्धी व्यवस्था 'सहकारी केन्द्र' को, जो उस प्रदेश मे स्थापित किया जाय, सौंपदी जाय। प्रत्येक जिला एक जिला-कमेटी के अधीन हो। इस कमेटी मे विकास विभागों के कार्यकर्त्ता तथा अन्य विशेषज्ञ हो, जिलाधीश इसका अध्यक्ष रहे। जिलाधीश की सहायता को जिला-विकास अफसर रहे। यह जिला कमेटी नीति निर्धारण का काम करे और विकास प्रदेशो का काम देखे भाले। एक एक राज्य के लिए विकास कमिश्नर रक्खा जाय और यह राज्य के कृषि सबधी काम की देख भाल करे। कमीशन का विचार है कि योग्य कर्मचारियो के अभाव के कारण यह योजना एक साथ ही सारे देश में लागू नहीं की जा सकती। अत इस योजना को पहिले उन राज्यों मे लागू किया जाय जहाँ वर्षा अच्छी होती है और सिचाई के आवश्यक साधन भी उपलब्ध हो। इस प्रकार यह योजना धीरे धीरे सभी राज्यो मे लागू कर दी जाय। कमीशन की यह योजना वास्तव म सराहनीय है। कमीशन ने भूमि-व्यवस्था का सुधार करने के लिए राज्यो द्वारा अपनाई गई जमींदारी-जागीरदारी उन्मूलन योजनाओं का स्वागत किया है और कहा है कि इससे भूमि की उन्नति मे काफी योग मिलेगा।

योजना में सहकारिता के सिद्धान्त पर गाँवो का प्रबन्ध करने का प्रस्ताव किया गया है। सहकारी कृषि पर अधिक जोर दिया गया है। कमीशन का मत है कि सहकारी कृषि के लिए भूपति कृषकों की भूमि को मिला लेना चाहिए। अपनी अपनी भूमि पर उनके अधिकार रहें परन्तु वे कृषि कामों को सब मिल कर करें। यह योजना उन्हीं गाँवो में लागू की जाय जिनमें कम से कम २/३ भूपति कृषक, जिनके पास गाँव की कम से कम १/२ भाग कृषि भूमि हो, राजी हो जाएँ।

कृषि-मजदूरों की स्थिति सुधारने के विषय में योजना कमीशन का विचार है कि सहकारिता के आधार पर कृषि करने तथा सहकारी गांव पंचायतों के बनने से उनकी अवस्था में अवश्य सुधार हो जायगा। जब तक ऐसा संगठन कार्यान्वित किया जाय तब तक के लिए योजना कमीशन ने राज्य सरकारों को निम्न सुझाव दिए हैं :—

१. जिन प्रदेशों में कृषि-मजदूरों की मजदूरी कम है और स्थिति बहुत खराब है वहाँ न्यूनातिन्यून मजदूरी कानून (१९४८) को लागू कर दिया जाय।

२. भूमि की कृषीकरण योजना में नई भूमि को तोड़कर कृषि-मजदूरों को बसाया जाय जिस पर वे कृषि करने लगें।

३. उनके रहन-सहन की स्थिति सुधार कर उनका सामाजिक स्तर उठाने के प्रयत्न किए जाएँ।

कृषि के लिए जल की व्यवस्था करने के लिए कमीशन ने छोटी बड़ी अनेक जल-योजनाएं निश्चित की हैं। इनको पूरा करने के लिए योजना में ४५० करोड़ रुपये की व्यवस्था है। योजनानुसार खर्च का ब्योरा इस प्रकार है :—

वर्ष	व्यय (करोड़ रुपयों में)	अधिक-सिंचित क्षेत्र (एकड़ों में)	अधिक विद्युत-उत्पादन (किलोवाट में)
१९५१-५२	९९	१५,५६,०००	१,४४,०००
१९५२-५३	११२	६७,१०,०००	२ ७३,०००
१९५३-५४	१००	४५,२५,०००	८,८६,०००
१९५४-५५	७७	६७,२५,०००	१० ००,०००
१९५५-५६	५३	८८,२२,०००	११,२४,०००
अन्त में	...	१,६५,०१,०००	१६,२५,०००

योजना के प्रथम भाग में, जिसमें कुल मिलाकर १४९३ करोड़ रुपया व्यय करने का अनुमान है, केवल उन योजनाओं को कार्यान्वित किया जा रहा है, जिनके द्वारा अल्पकाल में ही खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाया जा सकेगा। योजना में प्रस्तावित नदी-घाटी योजनाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं जिनकी अगले १५ वर्षों में पूर्ण होने की आशा है। जनता का सिंचाई-योजना में सहयोग तथा समर्थन बढ़ाने के लिए कमीशन ने प्रस्ताव किया है कि नहरें आदि बनाने के लिए जहाँ अकुशल श्रम की आवश्यकता पड़े वहाँ पर ग्रामीण लोगों को काम पर लगाना चाहिए। इससे उन्हें काम भी मिलेगा और इन योजनाओं में उनका समर्थन भी प्राप्त होगा।

योजनानुसार कृषि की उन्नति होने से आशा है कि सामान्य जनता को अधिक भोजन तथा उद्योगों को अधिक कच्चा माल मिल सकेगा। तब अन्न आयात करने की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। अनुमान है कि योजना सफल होने पर प्रति व्यक्ति १४·५ औंस भोजन मिल सकेगा जबकि आज १० औंस भोजन प्रति बालिग के हिसाब से ही प्राप्त है।

१३—भारत में औद्योगीकरण की समस्या

भारत की अनेक आर्थिक समस्याओं में से एक मूल समस्या यह है कि देश की आर्थिक विषमता को दूर करके कोटि-कोटि देशवासियों के जीवन स्तर को उन्नत किया जाय। जीवन-स्तर को उन्नत बनाने के लिए देश की राष्ट्र-सम्पत्ति में न्यूनातिन्यून दो गुनी वृद्धि करनी होगी।[*] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कृषि-धन्धे को व्यवस्थित करना होगा, खनिज-पदार्थों का विदोहन करके उनका सदुपयोग करना होगा तथा देश के छोटे बड़े सब प्रकार के उद्योगों का संस्थापन तथा पुनर्संगठन भी करना होगा। पूर्व अनुभव से प्रत्यक्ष है कि देश की अधिकांश जनसंख्या कृषि पर ही निर्भर रही और ज्यों ज्यों जनसंख्या में वृद्धि होती गई कृषि व्यवसाय दीला और अवनत होता गया एवं परिणामस्वरूप भारत में दुर्भिक्ष, बेकारी तथा आर्थिक विषमता का प्राधान्य हो गया। अब आवश्यकता इस बात की है कि देश का आर्थिक कलेवर सन्तुलित हो जिसके अनुसार अन्न-उत्पादन में स्वावलम्बी होने के अतिरिक्त देश में भिन्न-भिन्न प्रकार के छोटे बड़े तथा मध्यम श्रेणी के उद्योग धन्धों का निर्माण किया जाय, जिससे लगभग आधी जनसंख्या का भार कृषि से उठ जाय और देश स्वावलम्बी होने के साथ-साथ राष्ट्र सम्पत्ति में भी वृद्धि हो। देश के आर्थिक कलेवर को उन्नत तथा सन्तुलित करने के लिए देश का औद्योगीकरण अनिवार्य है जिसके बिना सामान्य जनता की स्थिति सुधर ही नहीं सकती। राष्ट्र की रक्षा एवं सुरक्षा के दृष्टिकोण से भी देश का औद्योगीकरण आवश्यक है। आज के युग का तो नारा ही यह हो चला है कि "औद्योगीकरण करो अन्यथा नष्ट हो जाओ" (Industrialise or Perish)।

हमारे देश में औद्योगीकरण का क्षेत्र विशाल है। औद्योगिक साधनों की भी कोई कमी नहीं परन्तु अब तक इन साधनों का विदोहन करके उपयोग ही नहीं किया गया। आज औद्योगीकरण की नितान्त आवश्यकता हो चला है।

---

[*] राष्ट्रीय योजना समिति रिपोर्ट : पृष्ठ संख्या २१

कृषि के, जो हमारे देश का प्रधान व्यवसाय माना जाता है, विकास एवं पुनर्निर्माण के लिए भी औद्योगिक विकास की आवश्यकता है। जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है हमारे आर्थिक कलेवर का मुख्य आधार—कृषि बहुत अवनत और हीन दशा में है। इसका कारण यह है कि इस पर जनसंख्या का भारी दबाव है। देशवासियों का व्यवसाय के अन्य साधन न होने के कारण कृषि पर ही आश्रित रहना पड़ता है। यदि देश में उद्योग स्थापित किए जाएँ तो कृषि पर आश्रित लोगों को एक अन्य व्यवसाय भी मिल सकता है और कृषि का भार भी कम हो सकता है। इसके अतिरिक्त उद्योगों के द्वारा कृषि कार्यों को अधिक शक्तिशाली उन्नत प्रकार के यन्त्र मिल सकते हैं, यातायात की सुविधाएँ मिल सकती हैं तथा कृषि क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए वैज्ञानिक साधन भी प्राप्त हो सकते हैं। आज अनेक उन्नत देशों के अनुभव हमारे सामने हैं कि उन्होंने किस प्रकार उद्योगों को उन्नत बनाकर कृषि की उन्नति की। इन सब देशों में पहिले बेकारी की समस्या आई और इसे दूर करने के लिए उन देशों ने उद्योगों का निर्माण तथा पुनर्संगठन किया[1]। उद्योगों के बनने से श्रमिकों की माँग बढ़ती है और श्रमिकों की माँग बढ़ने से उनकी मजदूरी भी बढ़ने लगेगी जिससे उनका जीवन स्तर ऊँचा बनेगा। देश का औद्योगिक विकास राष्ट्र की सुरक्षा के लिए भी आवश्यक है। आज के युद्ध ग्रसित संसार में यद्यपि प्रत्येक देश शान्ति शान्ति पुकार रहा है परन्तु फिर भी हम किसी आकस्मिक दुर्घटना के लिए तैयार रहना चाहिए। युद्ध छिड़ जाने पर युद्ध सामग्री के लिए विदेशों पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। अतः ऐसी वस्तुओं को बनाने के लिए देश में औद्योगिक कारखाने स्थापित करना अनिवार्य हो जाता है। इन बातों से स्पष्ट है कि हमारे देश का औद्योगीकरण आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी है। उद्योगों से देश की आर्थिक व्यवस्था में सन्तुलन आयगा और देशवासियों का कल्याण होगा। किसी भी आर्थिक आयोजन में औद्योगीकरण को उचित स्थान मिलना चाहिए।

---

[1] डा० मण्डेलबम् द्वारा लिखित 'दी इण्डस्ट्रियलाइजेशन ऑफ बैकवर्ड एरियाज' : पृष्ठ ३

प्राकृतिक गैस हमारे यहाँ नहीं है। इस कमी को पूरा करने के लिए हमारे यहाँ शक्ति अपार है। हिमालय की वर्ष भर बहने वाली नदियों में अपार जल शक्ति छिपी पड़ी है परन्तु दुर्भाग्यवश इसका विदोहन करके उपयोग नहीं किया गया है। यदि प्रयत्न किए जाएँ तो गन्ने के शीरे से स्प्रिट तथा कोयला से गैस तैयार की जा सकती है। पन बिजली बनाने के लिए सरकार ने काम आरम्भ कर दिया है। नादया की बहुमुखी योजनाओं के अन्तर्गत यह काम चालू है। आशा है देश भर को पर्याप्त पन बिजली मिल सकेगी।

प्रश्न यह है कि क्या हमारे उद्योगों में बनाए गए माल की खपत हमारे यहाँ हो सकेगी? इसके लिए हम अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि हमारी अपार जनसंख्या है—उसके भिन्न भिन्न प्रकार व स्तर हैं। तो क्या ऐसी जनसंख्या में हमारे माल की खपत नहीं होगी? यह ठीक है कि अभी हमारे देशवासी गरीब हैं और इस योग्य नहीं हैं कि ऊँचे स्तर का माल खरीद सकें। परन्तु यदि सरकार प्रयत्न करके संगठित आर्थिक नीति बना कर उस पर चले तो हम लोगों का स्तर भी ऊँचा हो सकता है। कर प्रणाली में कुछ फेर बदल करके लोगों की क्रय-शक्ति बढ़ाई जा सकती है। दूसरे, अन्य देशों की भाँति हम भी अपना पक्का माल विदेशों में निर्यात कर सकते हैं। अतः खपत की समस्या को लेकर हम औद्योगीकरण से विमुख नहीं होना चाहिए।

औद्योगीकरण की सबसे बड़ी समस्या है—पूँजी। कहते हैं हमारे देश में पूँजी का अभाव है और हमारे देश की पूँजी संकुचित है, परन्तु यह बात सर्वथा सत्य नहीं। देश में सम्पत्ति का कोई अभाव नहीं परन्तु कठिनाई यह है कि वह सब सम्पत्ति दबी पड़ी है। अगर हमारे देश की मुद्रा मण्डी को संगठित किया जाय और दबी हुई सम्पत्ति को निकालने के लिए सरकार विश्वसनीय उपाय करे और जनता को दिखा दे कि देश में वास्तविक औद्योगीकरण हो रहा है, तो यह सम्पत्ति पूँजी का रूप लेकर देश के हित में लगाने के लिए निकाली जा सकती है। वास्तव में देखा जाय तो देश की पूँजी संकुचित नहीं वरन् पूँजीपति भय खाये हुए हैं। उन्हें सरकार के प्रति, सरकारी नीति के प्रति तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के प्रति विश्वास नहीं है। हाल ही में जिस तेजी से जनता ने सरकारी ऋणों में पैसा लगाया उससे तो यही ज्ञात होता है कि

देश में पैसे की कमी नहीं है। कमी है पारस्परिक विश्वास की, सरकारी संगठित नीति की, पूंजी लगाने के लिए आवश्यक तथा उपयोगी क्षेत्र की। फिर भी यदि पूँजी की कमी हो तो विदेशों से उधार लिया जा सकता है। अनेक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं जहाँ से ऋण लेकर काम चलाया जा सकता है। सरकार ने विश्व बैंक से तीन ऋण तो ले लिए हैं और चौथा ऋण लेने की बात-चीत चल रही है। इसी प्रकार विदेशी सरकारों से ऋण लेकर काम चलाया जा सकता है। इंगलैण्ड और अमरीका ने भी अपने अपने औद्योगीकरण में सबसे पहिले विदेशी पूंजी लेकर काम चलाया था। हम भी ऐसा कर सकते हैं।

अन्त में प्रश्न है प्रबन्धक और साहसी लोगों का जो उद्योगों का आयोजन करके कारखाने स्थापित करें, उनका प्रबन्ध करें और सञ्चालन करते हुए उनको उन्नत बनायें। औद्योगीकरण करने तथा उद्योगों को उन्नत बनाने के लिए बुद्धिमानी, दूरदर्शिता प्रबन्ध-शक्ति तथा तीव्र दृष्टि की आवश्यकता होती है। परन्तु हमारे देश में तो इन गुणों का भी अभाव नहीं। हमारे यहाँ के प्रबन्ध अभिकर्ता (मैनेजिंग एजेण्ट्स) इन कामों में दक्ष रहे हैं। इन्हीं के प्रयत्नों से भारत अब तक थोड़ी-बहुत औद्योगिक प्रगति कर सका है। टाटा, बिड़ला जैसे दूरदर्शी, निपुण, चतुर तथा कार्यशील उद्योगपतियों ने देश का आर्थिक नकशा ही बदल दिया है। यह ठीक है कि इस पद्धति में अपने कुछ दोष हैं परन्तु कुछ प्रबन्धकों ने तो निश्चय ही अपने उत्तरदायित्व, योग्यता, कुशलता तथा देश प्रेम का परिचय दिया है। जहाँ तक साहस का प्रश्न है वह तो औद्योगिक विकास के साथ साथ आयगा। ज्यों-ज्यों औद्योगिक प्रगति होगी कार्यकर्ता कुशल और साहसी बनते चले जायेंगे।

इन सब बातों से ज्ञात होता है कि हमारे देश में औद्योगीकरण के लिए आवश्यक सभी वस्तुएं उपलब्ध हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब योरप के अनेक देशों ने, जो आज औद्योगिक क्षेत्र में अगुआ बने बैठे हैं, सभ्यता का प्रकाश भी नहीं देखा था तो भारत अपने देशवासियों की कला और कलाकारों की निपुणता के लिए प्रसिद्ध था। हमारे देश का कपड़ा, लोहा, हाथीदाँत की वस्तुएं, हीरे जवाहिरात के आभूषण तथा अन्य ऐसी

हो वस्तुएं अपनी कला के अद्वितीय नमूने समझे जाते थे। कहा जाता है कि बादशाह औरङ्गजेब ने एक बार अपनी लड़की को नंगे शरीर दरबार में आने के लिए डांटा था जबकि वह साड़ी की सात तह शरीर पर लपेटे हुए थी। यह थी हमारी कपड़े की कला! अनेक वस्तुएं अपनी औद्योगिक कला के लिए संसार भर में प्रसिद्ध थीं। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के आते ही भारत की कला लुप्त हो गई। इसके कई कारण थे, जैसे (१) देशी राज्यों का अन्त, जो देशी कला का सम्मान करते थे (२) विदेशी शासन सत्ता (३) पश्चिमी सभ्यता के कारण जनता में भारतीय सौंदर्य के प्रति उदासीनता तथा (४) मशीन द्वारा बनाए गए माल की प्रतियोगिता। हमारी औद्योगिक व्यवस्था में दो सबसे बड़े दोष रहे हैं—(१) पूंजीगत माल का अभाव, (२) विदेशी पूंजी एवं विदेशी शासन-सत्ता का प्रभुत्व। इन दोनों कारणों से हमारा औद्योगिक कलेवर नितान्त निर्बल अस्थायी और अनिश्चित रहा है। हमें इन दोनों को दूर करना चाहिए तभी देश का वांछित औद्योगीकरण सम्भव हो सकता है। फिर भी औद्योगीकरण कोई बहुत सरल बात नहीं है। इसके लिए संगठित प्रयत्न और आयोजन की आवश्यकता है। यदि आयोजित करके प्रयत्न किए जाएं तो निश्चय ही देश औद्योगिक क्षेत्र में अपूर्व उन्नति कर सकता है।

१४—औद्योगिक आयोजन की आवश्यकता ?

भारत के प्रमुख उद्योगपतियों में आज औद्योगिक अवसाद का भय समाया हुआ है। युद्धकाल में और उसके पश्चात् भी मुद्रा की क्रय-शक्ति का क्रमशः ह्रास होता गया। मुद्रास्फीति की नीति के कारण भी जनसाधारण को कई कम कठिनाइयाँ नहीं भोगनी पड़ीं। श्रमिक वर्ग के नेताओं को इस बात का भय है कि निकट भविष्य में श्रमजीवी पर्याप्त मात्रा में बेकार हो जावेंगे। हमारा भी यह विचार है कि यदि निकट भविष्य में यह भय सत्य का रूप धारण करले तो औद्योगिक अशान्ति के अतिरिक्त हम सामाजिक जगत् में भी उन प्रतिक्रियात्मक तत्वों को जागरूक करेंगे, जो भारत की वर्तमान परिस्थिति में उसके लिए अकल्याणकारी सिद्ध होंगे। यदि भविष्य में हमें अपना आर्थिक जीवन सुदृढ बनाना है और उसे ऐसे बाह्य प्रभावों से दूर रखना है जिससे कि उसमें अस्थिरता न आने पावे, तो हमें अपना आर्थिक संगठन इस दृष्टिकोण से करना चाहिए कि जिससे उसकी अस्थिरता ही दूर न की जा सके, वरन् जिससे जनसाधारण का आर्थिक-स्तर भी ऊँचा बनाया जा सके।

आज का युग कुछ ऐसा हो चला है कि आर्थिक जगत् में व्यक्तिगत कार्यों को अधिक महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जा सकता, और न हम व्यक्तिवाद के सिद्धान्तों पर पूर्णरूपेण विश्वास ही कर सकते हैं। हमारा जीवन इतना जटिल होता जा रहा है तथा अन्य व्यक्तियों और राष्ट्रों के जीवन से इतना सम्बद्ध होता जा रहा है कि किसी भी बड़ी और महत्वपूर्ण समस्या का हल व्यक्तिगत रूप से व्यक्तिगत सहायता पर निर्भर रहकर करना सम्भव नहीं। हमारे जीवन के विभिन्न पहलुओं में परिवर्तन करना अब व्यक्तिगत वाद के सिद्धान्त पर सम्भव नहीं। आज का तो युग ही व्यक्तिगत वाद के विपरीत है। जनसंख्या बढ़ने के कारण, उत्पादन में परिवर्तन के कारण और इन दोनों के कारण मनुष्य का जीवन इतना यन्त्र-चालित सा हो गया है कि जन साधारण की भलाई के लिए आजकल के युग की माँग है उत्पादन में वृद्धि तथा उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण। राष्ट्रीयकरण की माँग की तह में है समाजवाद की

भावना जिससे कि औद्योगिक उत्पादन की वस्तुओं का जनसाधारण में केवल उचित वितरण ही नहीं वरन् उद्योगों के फलस्वरूप जो लाभ कुछ इने गिने लोगों को ही प्राप्त होता है, वह केवल उन्हीं को प्राप्त न होकर उत्पादन की वृद्धि में लगाया जा सके अन्यथा जनसाधारण की भलाई के लिए उसका उपयोग किया जा सके। उत्पादन के साधनों पर वैयक्तिक एकाधिकार होने से औद्योगिक एकाधिकार की आशंका बनी रहती है और उसका प्रभाव प्रायः जनसाधारण के हितों के विपरीत होता है। भारत ही के नहीं वरन् प्रत्येक देश के औद्योगिक जगत् के इतिहास में कुछ ऐसे उदाहरण देखने को मिलते हैं और इसीलिए आजकल की विचारधारा इसके प्रतिकूल है।

इसके अतिरिक्त और भी कई कारण हैं जिनमें यह आवश्यक हो जाता है कि उत्पादन और वितरण के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार न रखकर सामूहिक अधिकार रहे और सरकार ही जनहित के लिए इनका संचालन भार अपने ऊपर ले। आजकल हमारे देश में जीवन की सभी आवश्यक वस्तुओं का भारी टोटा है। अन्न और कपड़े का तो मुख्यतः अभाव है। माँग की अधिकता और पूर्ति की कमी के कारण उनके बाजार भाव उनके उत्पादन व्यय से बहुत अधिक हैं। जनसाधारण को इस अधिक मूल्य के कारण बहुत कठिनाई भोगना पड़ता है। कुछ लोग तो धन के अभाव के कारण इन वस्तुओं को पर्याप्त मात्रा में खरीद ही नहीं पाते जिससे उनकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। इससे न तो उनके व्यक्तित्व का ही विकास होता है और न जीवन में उन्हें वह आर्थिक संतुष्टि ही हो पाती है जो अपने सामाजिक और राजनैतिक संस्था के सदस्य होने के नाते उन्हें प्राप्त होनी चाहिए। इस आर्थिक शोषण का परिणाम होता है मानसिक असन्तोष की वृद्धि, जो देश की उन्नति में सहायक नहीं हो सकती। दूसरी ओर, माँग की अधिकता और प्रदाय की कमी के कारण, बाजार मूल्य में उत्पादन मूल्य के अतिरिक्त जो अभिवृद्धि है, वह वृद्धि सिर्फ उत्पादन-संचालकों को ही प्राप्त होती है। हमारे सन्मुख जो उदाहरण उपस्थित हैं उनकी सहायता से हम यह निःसंदेह कह सकते हैं कि इस अतिरिक्त धन का उपयोग अधिकांश जगहों में उत्पादन की वृद्धि में नहीं किया जाता जिससे कि उपभोग की वस्तुओं के मूल्य में कमी हो।

यह सब इसीलिए होता है कि वर्तमान आर्थिक संगठन में उत्पादन सिर्फ लाभ-सिद्धान्त को ही लेकर किया जाता है, जनहित की भावना को लेकर नहीं। और यदि अधिक लाभ प्रदाय में कमी कर प्राप्त किया जा सकता है, तब कोई भी व्यक्ति उत्पादन की मात्रा में वृद्धि न करना चाहेगा और जबतक हमारा आर्थिक संगठन व्यक्तिगत संबल को लेकर विद्यमान है, तबतक इस दशा में विशेष सुधार की आशा नहीं की जा सकती। यद्यपि अर्थशास्त्र के विशिष्ट नियमों के अनुसार यदि बाजार मूल्य उत्पादन व्यय से अधिक है तो कुछ समय बाद ही उत्पादन में अवश्य वृद्धि होगी और उस समय तक होती रहेगी जबतक कि बाजार-मूल्य और उत्पादन-व्यय एक दूसरे के बराबर न हो जाएँ और माँग तथा प्रदाय में साम्य बिन्दु (I quilibrium Point) न स्थापित हो जावे। लेकिन अर्थशास्त्र का यह नियम वस्तुतः सत्य नहीं होता। इसका कारण है कि आजकल वर्तमान में प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में उनके उत्पादन-कर्ताओं ने पूर्ण एकाधिकार (Complete Monopoly) स्थापित कर एकाधिकार मूल्य भी स्थापित करने का प्रयास किया है। शक्कर के ही व्यवसाय को ले लीजिए। उसकी कीमत किसी एक फैक्ट्री के उत्पादन-मूल्य पर नहीं निर्भर रहती थी वरन शुगर सिंडीकेट द्वारा निर्धारित की जाती थी। और यदि कोई मिल इस निर्धारित मूल्य पर न विक्रय करे तो शुगर सिंडीकेट अपनी अन्य सदस्य-मिलों की सहायता से इतना कम मूल्य बाजार में कर सकता था जोकि उस मिल के उत्पादन व्यय से कहीं कम होता तथा प्रतियोगिता के कारण उस मिल को इतनी अधिक हानि होती कि उसे सिंडीकेट के निर्धारित मूल्य को अपनाना पड़ता। फल स्पष्ट है। यही कारण है कि मुख्य-मुख्य उपभोग की वे वस्तुएँ जिनका उत्पादन यन्त्रों की सहायता से बड़े पैमाने पर किया जाता है, उनमें के किसी भी एक उत्पादक के लिए हानि के उत्पादन-व्यय से उसका विक्रय करना कठिन हो जाता है। यही हाल उस व्यवसाय में प्रवेश करनेवाले नये व्यक्ति का होता है। वह उसका एक अनचाहा अंग मात्र बन जाता है जिसमें उसके स्वयं के अस्तित्व का कोई विशेष मूल्य नहीं। इस दशा के प्रतिकार का सिर्फ एक ही उपाय है और वह यह कि उत्पादन के साधनों के संचालन का भार सरकार के हाथों में रहे जो उत्पादन लाभ-सिद्धान्त

को लेकर नहीं वरन् जन साधारण की अधिकाधिक इच्छा तृप्ति की भावना को लेकर करेगी। युद्धकालीन वर्षों में और उसके बाद के वर्षों के अनुभव से यह स्पष्ट है कि यदि सरकार उत्पादन व्यक्तिगत होने पर उचित मूल्य निर्धारण करने की चेष्टा करती है तो उसका प्रयास सफलीभूत नहीं होता। इसी कारण हम इस बात पर जोर देकर कह सकते हैं कि आज के युग की माँग है कि उत्पादन के उपकरणों पर अधिकार व्यक्तिगत न हो। उत्पादन का मूल ध्येय लाभ ही न हो। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी कारण आर्थिक व्यक्तिवाद आजकल अपना स्थान सा छोड़ता जाता है

एक कारण और है। किसी भी देश का आर्थिक जीवन उसके उत्पादन पर निर्भर रहता है, यह हम स्वीकार करते हैं लेकिन फिर भी कई ऐसे स्थल हैं जहाँ वैयक्तिक पूँजी को लाभ न होने के कारण या बहुत लम्बे समय के बाद लाभ की आशा के कारण, शायद कोई आकर्षण नहीं। लेकिन देश की परिस्थिति शायद ऐसी हो कि उनका उत्पादन देश की राजनैतिक सुरक्षा के ध्यान से आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए भारत सरकार की उन कई योजनाओं को लीजिए जिनमें कि आज वह व्यस्त है। इसका एक मात्र कारण यह है कि सरकार को यह ज्ञात है कि यह स्थल ऐसे हैं कि इनमें व्यक्तिगत पूँजी शायद कभी न लगे या वह अपर्याप्त मात्रा में मिले। इसी कारण उनके निर्माण की आवश्यकता को समझ कर, सरकार को उनके सञ्चालन का कार्य प्रारम्भ से ही स्वयं करना पड़ा है।

उक्त कारणों से यह स्पष्ट हो जावेगा कि आजकल के आर्थिक जीवन के निर्माण में सरकार का काफी हाथ रहता है। वरन् यह कहना अधिक ठीक होगा कि किसी भी देश के जनवासियों के आर्थिक स्तर का निर्णय वहाँ की सरकार ही कर सकती है। हिटलर की अजेय शक्ति का दम चूर करने का श्रेय रूस की आर्थिक योजनाओं ही को है। युद्ध के पश्चात् भी इंगलैंड की आर्थिक योजना का ज्वलन्त उदाहरण हमारे सम्मुख उपस्थित है। युद्ध से क्षतिपूर्ण राष्ट्रों को उनके पुनर्निर्माण में जो सहायता मार्शल योजना द्वारा दी जा रही है, उसे भी हम भुला नहीं सकते। युद्धकालीन वर्षों में प्रत्यक्ष रूप से भले ही भारत के आर्थिक जीवन को उस तरह की क्षति न हुई हो जो यूरोप के अन्य राष्ट्रों को

हुई है, पर विदेशी सरकार की उपस्थिति के कारण भारत के आर्थिक विकास में जो हानि हुई है, उसे हम भूल नहीं सकते। युद्ध के वर्षों में भी, जब ब्रिटेन को युद्ध सामग्री के उत्पादनों की अत्यन्त आवश्यकता थी और जबकि आस्ट्रेलिया सरीखे देशों को नये उद्योग खोलने का प्रोत्साहन दिया गया, भारत को कोई भी औद्योगिक विकास में विशेष सहायता नहीं दी गई कि यहाँ भारतीय उद्योग युद्ध के बाद ब्रिटेन के उद्योगों से प्रतियोगिता न करने लगें। ग्रेडी मिशन की योजनाओं को इसीलिए प्रकाश में कभी न आने दिया गया बल्कि युद्ध समस्या के बहाने भारतीय उद्योगों को हानि भी पहुँचाई गई। जो भी उद्योग यहाँ विद्यमान थे उनकी मशीनों से लगातार काम लिया गया और उनके सुधार की कोई चेष्टा न की गई। फलस्वरूप हमारी उत्पादन-शक्ति और भी कम हो गई यहाँ तक कि खाद्य समस्या को भी ठीक हल न किया गया और बंगाल के अकाल में सहस्रों को अपने जीवन की बलि अकारण ही, सरकार की शोचनीय उदासीनता के कारण देनी पड़ी। जन साधारण को सरकार की मुद्रास्फीति के कारण अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। युद्ध के पश्चात् स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जो कुछ भी हम करना चाहते थे वह विभाजन के पश्चात् की घटनाओं के कारण न कर सके। योरुप के अन्य देशों की तरह हमारे सम्मुख यह समस्या नहीं है कि हम केवल युद्ध के कारण हुई क्षति की पूर्ति करें। हमें तो प्रारम्भिक अध्याय से ही अपनी आर्थिक नीति का निर्माण करना है। हमें इस विषय का हल करना है कि किस तरह से शीघ्रातिशीघ्र हम उत्पादन में वृद्धि कर राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि करें तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि कर जन साधारण का आर्थिक जीवनस्तर ऊपर उठायें। इन सबका उत्तरदायित्व आज की सरकार पर है और यही कारण है कि आर्थिक योजना की आवश्यकता इतनी बढ़ गई है। युद्धकालीन वर्षों में 'बम्बई प्लान' (Bombay Plan) तथा और भी कई ऐसी योजनाओं के नाम प्रकाश में आये, पर उसके पश्चात उनके विचारों के अनुसार कुछ प्रगट किया गया हो, यह हमें विदित नहीं।

यद्यपि हम यह मानते हैं कि हमें उत्पादन में वृद्धि करनी है अन्यथा हमारे आर्थिक जीवन का अंत हो जावेगा, फिर भी भारत के पूर्ण विकास के लिए

आर्थिक योजना का निर्माण करना सरल नहीं है। उत्पादन पूँजी और श्रम पर निर्भर रहता है। जहाँ तक श्रमिक वर्ग में स्थायित्व का प्रश्न उठता है वहाँ उनमें व्याप्त औद्योगिक अशान्ति के कारण हमें उनमें अस्थिरता ही दृष्टिगोचर होती है। श्रमिक वर्ग ने यह सोचा कि अपनी सरकार की उपस्थिति के कारण शायद उन्हें वे सब सुविधाएं प्राप्त हो जावें, जो उनके जन्मसिद्ध अधिकार हैं। यह उनकी भूल थी। लेकिन इसी कारण तो अभीतक उनमें स्थायित्व आ नहीं पाया है। वर्तमान उत्पादन के ह्रास में श्रमिक वर्ग का यथेष्ट उत्तरदायित्व है। इसी तरह भारत सरकार ने अपनी भावी आर्थिक नीति का जबतक स्पष्टीकरण नहीं किया था, तबतक पूँजी का भी असहयोग रहा और आज भी हम पूर्ण विश्वास के साथ यह नहीं कह सकते कि उसका पूर्णतः सहयोग प्राप्त है। इसके सिवाय जिन महान उद्योगों को भारत सरकार स्वयं प्रारंभ करना चाहती है उनके लिए शायद उसे उपयुक्त टेक्निकल व्यक्ति भारत में प्राप्त नहीं हो सकते इसलिए हम इस दशा में विदेशी सहायता पर निर्भर रहना पड़ेगा।

औद्योगिक योजना के अंतर्गत हमें कई और बातों का ध्यान रखना पड़ेगा। हमें यह निर्णय करना पड़ेगा कि देश के किस विभाग में कौन से उद्योगों को प्रारंभ किया जावे। हमें देश के सभी उद्योगों का विकास करना है और इस तरह से विकास करना है कि देश का कोई भाग अछूता न रह जावे। इसके लिए यह आवश्यक है कि आर्थिक विकास की योजना प्रान्तों पर निर्भर न रह कर केन्द्रीय विषय हो और वहीं से उसका नियन्त्रण किया जावे। हमें आशा है कि ठीक ठीक आर्थिक योजना के प्रयोग के बाद हम अपनी कई उन कुरीतियों को दूर कर सकेंगे जिनसे आज हम ग्रस्त हैं।

१५—औद्योगिक-निर्माण का रूप

जन शक्ति की आवश्यकता को दूर करके केवल थोड़े व्यक्तियों को अपना दास बनाते हैं और इस प्रकार बेकारी की समस्या और भी भीषण हो जाती है। ऐसी अवस्था में ये विशेषज्ञ विकेन्द्रित कुटीर धंधों पर अधिक जोर देते हैं। उनका कथन है कि कुटीर के धंधों में कम पूंजी तथा अधिक श्रम शक्ति की आवश्यकता है और जिनमें स्वभावतः एकाधिकार होना आवश्यक है, जैसे कोयला की खानें, सवारी वाहन (Railways) आदि को बड़े पैमाने पर होने चाहिए। उनके विचार में बड़े पैमाने के कारखानों को केवल प्राकृतिक वस्तुओं को कुटीर धंधों के लिए आवश्यक माल बनाना मात्र ही है।[1] परन्तु हमारे देश की परिस्थितियों में यह कथन सत्य और उसके अनुरूप नहीं हो सकता। गत महायुद्ध के पश्चात भारत ही नहीं सारे संसार का आर्थिक नकशा बदल रहा है। सभी देश युद्ध के द्वारा शिथिल हुई आर्थिक अवस्था के निर्माण में व्यस्त हैं। इसके साथ साथ राजनैतिक परिस्थिति भी छिन्न भिन्न है और सभी राष्ट्र तृतीय महायुद्ध की तैयारी में संलग्न हैं। कोरिया में युद्ध चल रहा है। स्वेज में भी झगड़ा पैदा हो गया है तथा ईरान में तेल के मामले में इंगलैण्ड और ईरान में खींचा-तानी चल रही है। भारत के सामने भी काश्मीर की विकट समस्या है। इसलिए आवश्यकता है कि देश को समर्थ बनाया जाय ताकि हम दूसरों का मुँह न देखना पड़े। इस कार्य के लिए देश में बड़े बड़े विशाल उद्योगों का निर्माण करना चाहिए जिससे उत्पादन कार्य शीघ्र बढ़े और देश की रक्षा के लिए सामग्री इकट्ठी की जा सके। हाँ, धंधे की दृष्टि से तथा कृषकों को कृषि कार्य से बचे हुए समय का उपयोग करके आवश्यकता की वस्तुएँ बनाने के लिए हम ग्राम्य या कुटीर धंधों का निर्माण भी आवश्यक समझते हैं। परन्तु देश के अधिकाधिक प्राकृतिक साधनों, जनसंख्या, देश की आवश्यकताओं तथा संसार की राजनैतिक परिस्थितियों को सामने रखकर हम बड़े पैमाने के कारखानों को अवश्य स्थापित करना होगा। इसके अतिरिक्त अभी तो देश में आर्थिक संकट ने ही पैर जमा रक्खे हैं। इस समय तो देश में किसी जादू की भी सहायता से अत्यधिक उत्पादन

[1] भारतीय आर्थिकता में कुटीर धन्धे मित्रा एवं लक्ष्मण पृष्ठ २१

बढ़ाने की आवश्यकता है। हम सरकार की इस नीति की प्रशंसा करते हैं कि उसने पुराने विशाल कारखानों की उन्नति के लिए तथा नए नए विशाल कारखाने स्थापित करने के लिए सुदृढ़ नीति से काम लिया है और इस प्रकार की अनेकों सुविधाएं स्वीकार की हैं। सरकार ने स्वयं औद्योगिक कारखाने स्थापित किए हैं।

जहाँ तक औद्योगिक निर्माण की सीमा का प्रश्न है इसमें सन्देह नहीं कि विशाल कारखानों का विस्तृत रूप ही समान आवश्यकताओं को [illegible] होगा। परन्तु केवल विचार मात्र से ही भावी का निर्माण सम्भव नहीं। देश में प्राप्त कच्चा माल, श्रम शक्ति, पूंजी तथा पक्के माल की खपत के लिए मण्डियों के विस्तार आदि बातों पर उद्योगों की निर्माण सीमा अवलम्बित होगी। सम्भव है प्रथम तीन वस्तुएं विशाल कारखानों की आवश्यकतानुसार आवश्यक रूप में और आवश्यक मात्रा में अभी प्राप्त न हो सकें। ऐसी अवस्था में भी हमें औद्योगिक निर्माण तो करना ही है। कुशल श्रम शक्ति पूंजी और आवश्यक पक्का माल हम विदेशों से भी ला सकते हैं।

पिछली शताब्दी से अब तक लगभग सभी देश उद्योगों के केन्द्रीकरण के पक्ष में रहे हैं। इसका कारण यही था कि जिस स्थान पर उद्योगों में लगाने के लिए कच्चा माल तथा कारखानों को चलाने के लिए शक्ति, जैसे कोयला, विद्युत आदि मिलते गए उन्हीं क्षेत्रों में उद्योगों का निर्माण होता गया और देश के अन्य भाग इससे अछूते रहे। उदाहरण के लिए लोहे के कारखानों का केन्द्रीकरण कोयले तथा लोहे के स्थानों के आस-पास बंगाल, बिहार में, जूट उद्योग कलकत्ते के आस-पास, सूती कपड़े की निर्माणियाँ अहमदाबाद तथा बम्बई में केन्द्रित हो गईं, परन्तु गत महायुद्ध में उपस्थित हुई परिस्थितियों ने यह सिद्ध कर दिया कि केन्द्रीकरण की नीति सर्वथा उपयुक्त नहीं, विशेष कर भारत जैसे विशाल देश में जहाँ जनसंख्या एक लम्बे चौड़े क्षेत्र में फैली हुई है। देशवासियों को रोजगार देने के लिए उद्योगों का विकेन्द्रीकरण एक अनिवार्य आवश्यकता हो गई है और अब हमें देश का औद्योगिक-निर्माण इस भाँति करना है कि भारत के सभी क्षेत्रों में छोटे-बड़े उद्योग धंधे स्थापित हों और इस प्रकार सम्पूर्ण देश की बेकारी की समस्या भी सुलझ जाय।

सामाजिक आर्थिक तथा राजनैतिक सभी दृष्टिकोणों से आज विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। उन क्षेत्रों में जहाँ उद्योगों का केन्द्रीकरण हुआ है, देश की अधिकांश जनसंख्या रोजगार की खोज में वहाँ आकर बस गई है और किसी किसी स्थान पर तो इतनी अधिकता हो गई है कि इन स्थानों पर स्वास्थ्य तथा आध्यात्मिक और नैतिक वृद्धि में अधिक बाधा हुई और रोगादि व भयंकर दुष्परिणाम हुए हैं। इस हानि भय को दूर करने के लिए विकेन्द्रीकरण ही एक रक्षा उपाय हो सकता है। जापान की औद्योगिक उन्नति का रहस्य विकेन्द्रीकरण है। आर्थिक दृष्टिकोण से भी उद्योगों का केन्द्रीकरण उपयुक्त नहीं। इस प्रकार देश के कुछ स्थान तो उन्नतिशाल हो जाते हैं तथा अन्य अधिकांश भाग, जहाँ उद्योग नहीं होते, आर्थिक दृष्टि से पिछड़ जाते हैं जिसके परिणाम स्वरूप आर्थिक विषमता तथा देशवासियों के जीवन-स्तर में भारी अन्तर हो जाता है। कुछ स्थान तो उद्योगशील हो जाते हैं और देश का अधिक भाग कृषि या अन्य अपर्याप्त साधनों पर ही अवलम्बित रह जाता है। कुछ भाग धनी मानी तथा कुछ साधारण कहलाने लगता है जिसका दुष्परिणाम पूँजीवाद हमारे सामने है। आज की राजनैतिक परिस्थिति विकेन्द्रीकरण के पक्ष में ही है। वर्तमान युग संघर्ष तथा युद्ध का युग है। आधुनिक युद्ध में आकाश से उड़कर विध्वंसकारी बम्ब गिराना एक साधारण बात हो गई है। ऐसी अवस्था में यदि देश की सभी उद्योग शक्ति एक ही स्थान पर केन्द्रित हुई तो किसी भी समय युद्ध काल में थोड़े ही बम्ब गिराकर शत्रु, देश की सम्पूर्ण शक्ति को नष्ट कर सकेगा और फिर देश को अपनी शक्ति खोकर शत्रु के आश्रय हो रहना पड़ेगा। इसका एक मात्र उपाय विकेन्द्रीकरण है। यह बात संसार को गत-महायुद्ध के अनुभव से प्रत्यक्ष है। इसके अतिरिक्त शान्ति काल में भी केन्द्रीकरण राष्ट्रीय हित में नहीं। आश्चर्य होगा कि देश के उन प्रान्तों में, जहाँ उद्योगों की अधिक भरमार है तथा उन प्रान्तों में जहाँ या तो कोई कारखाने नहीं हैं या जहाँ हैं भी तो इतने नहीं हैं पारस्परिक वैमनस्य व विद्वेष दृष्टिगोचर हुए हैं जो केन्द्रीकरण की योजना से और अधिक बढ़ सकते हैं। इसलिए देश की आर्थिक विषमता को सन्तुलित करने के लिए उद्योगों का विकेन्द्रीकरण ही एक रामबाण औषधि है।

नव भारत के औद्योगिक निर्माण में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि बड़े-बड़े वर्तमान उद्योगों का तथा नए बनने वाले विशाल उद्योगों का अधिपति कौन हो—सरकार या जनता ? अब तक भारत की सरकार विदेशी-सरकार थी और विशाल उद्योग जनता की पूँजी से खड़े थे। दोनों ही में अज्ञात रूप से संघर्ष था। परन्तु अब भारत का शासन भारतवासियों के ही हाथ में है। इस प्रश्न का मूल्य अब और भी अधिक बढ़ जाता है। इस विषय में कई मत हैं। कुछ लोगों का कथन है कि देश के उद्योग-धंधों का स्वामित्व, अधिकार तथा नियन्त्रण सरकार के ही हाथ में होना चाहिए क्योंकि इस प्रकार भारी-भारी लाभ जो कुछ इने-गिने पूँजीपतियों की जेबों में चले जाते हैं सरकार को जनता की सेवा के लिए प्राप्त हो सकेंगे और सरकार को इन उद्योगों को चलाने के लिए पूँजी भी अधिक मात्रा में थोड़ी ब्याज-दर पर मिल सकेगी। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि उद्योगों के सरकार के हाथ में होने से श्रमजीवी अधिक से अधिक कार्य करेंगे क्योंकि वे समझ लेंगे कि अब पूँजीपति इसके स्वामी नहीं वरन् सरकार के रूप में सम्पूर्ण जनता ही इसकी मालिक है और इस प्रकार उत्पादन कार्य में अधिक वृद्धि होगी। दूसरी विचारधारा है कि संयुक्त अमेरिका की भाँति जनता ही उद्योगों की अधिपति रहे और सरकार का उन पर थोड़ा बहुत नियन्त्रण रखा जा सकता है। हमारे विचार में देश की आर्थिक विषमता को मिटाने के लिए दोनों ही विचार-धाराएँ समयानुकूल नहीं रहेंगी। काँग्रेस ने १९३१ में ही घोषित किया था कि सरकार के अधिकार में आधार-उद्योग (Key-Industries) (यन्त्र बनाने के कारखाने; रसायन-पदार्थ-निर्माणियाँ; जहाज, मोटर, इंजिन, आदि बनाने के कारखाने; शक्ति उत्पन्न करने के कारखाने, खनिज तैल, लकड़ी, कोयला आदि) रेल मार्ग, जलमार्ग, समुद्रमार्ग तथा आवागमन के साधन होने चाहिएँ और उनका नियन्त्रण भी सरकार के हाथ में ही हो। अखिल-राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों (Basic Industries का राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है क्योंकि इनका जनता के नियन्त्रण में रहना राष्ट्र के हित में नहीं। हमारे विचार में ऐसे उद्योगों को, जिनमें लाभ की अपेक्षा कर (Tax) का अधिक महत्व हो, सरकार

को अपने अधिकार में ले लेना चाहिए क्योंकि इससे, जिन्हें छोड़ दिया गया है उनके अतिरिक्त, सरकार की आय में कमी नहीं हो सकती। ऐसा सुझाव राष्ट्रीय-योजना समिति ने भी देश के सामने उपस्थित किया था। (राष्ट्रीय योजना समिति-रिपोर्ट पृ. सं. ३८ । परन्तु सभी प्रकार के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण आज उपयुक्त नहीं। डा० जान मथाई ने रेल विभाग में प्रश्न करने के पक्ष में भाषण देते हुए एक बार यह चेतावनी दी थी कि देश को भिन्न भिन्न प्रकार की अनेक कठिनाइयों को सुलझाये बिना राष्ट्रीयकरण के विस्तृत प्रोग्राम पर अभी कोई कदम नहीं उठाना चाहिए। भारत सरकार अभी सफल उद्योगपति नहीं बन सकती। डा० मथाई ने अपनी अगली घोषणाओं में इस बात पर जोर दिया था कि भारत के औद्योगिक निर्माण में अभी जनता का ही व्यक्तिगत हाथ होना देश के हित में हो सकता है परन्तु इन सभी पर थोड़ी बहुत देख रेख सरकार की अवश्य होनी चाहिए। जन लाभ के उद्योग जैसे विद्युत-वितरण, जल वितरण, आवागमन आदि सरकार के अधिकार में होने चाहिएं, चाहे वह केन्द्रीय सरकार हो, चाहे प्रान्तीय सरकार हो अथवा स्थानीय। आधार्य उद्योग (Key Industries) तथा रक्षा उद्योगों का सर्वथा राष्ट्रीयकरण होना ही अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त अन्य उद्योगों को थोड़ी थोड़ी सहायता देकर जनता को उनका व्यक्तिगत-स्वामी बनाया जा सकता है। इनमें भी जिन उद्योगों को सरकार कुछ वित्त सहायता दे उन पर वह अपना कुछ नियन्त्रण रक्खे जिससे ज्ञात होता रहे कि सरकार की नीति का सर्वथा पालन किया जा रहा है या नहीं। इस प्रकार 'सरकार' तथा 'जनता' दोनों के द्वारा नियंत्रित और सचालित उद्योग-धंधों की सम्मिलित योजना भारत की व्यावहारिक औद्योगिक योजना होनी चाहिए। सरकार या जनता दोनों में से कोई भी अकेले ही इस योजना को सफल बनाने के योग्य नहीं। सम्मिलित समाज अर्थात् सरकार और जनता ही एक ऐसा आधार है जिसके द्वारा सभी भारतवासी देश को कगाली, भूख, अज्ञान, रोग तथा अपघात के दुर्दान्त चंगुल से उभारने के पुण्यकार्य में सहायक हो सकते हैं। डाक्टर लोकनाथन्, ने इसे 'मैनेजेरियल इकनॉमी' के नाम से पुकारा है।

जैसा कि पहिले उल्लेख किया गया है, भारत के औद्योगिक निर्माण के लिए कच्चे माल का देश में कोई अभाव नहीं। भारत ने तो विदेशी कारखानों

औद्योगिक निर्माण में तीसरी समस्या श्रम वर्ग की है। औद्योगिक उन्नति के लिए कुशल (Skilled) श्रम की जितनी आवश्यकता है उतनी अकुशल (Unskilled) श्रमिकों की नहीं। इस समस्या को हल करने के लिए श्रमिकों की उचित शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये और यह भी देखना चाहिए कि इस प्रकार शिक्षित श्रमिकों को उचित भृति पर कार्य भी मिल जाता है या नहीं। परन्तु निकट भविष्य में कुशल श्रम कैसे प्राप्त हो ? इस प्रारम्भिक अवस्था में कुशल श्रमिक बाह्य देशों से लाकर उद्योग निर्माण में लगाए जा सकते हैं। श्रमिकों को इतनी अधिक भृति देनी होगी कि वे अपनी कार्य कुशलता को जारित रखकर उसमें वृद्धि कर सकें। जैसा कि पहिले सुझाया गया है कुछ उद्योग जनता के अधिकार तथा नियंत्रण में भी रहने अनिवार्य हैं। ऐसी अवस्था में उत्पादन की वृद्धि के लिए उद्योगपतियों तथा श्रम वर्ग के सहयोग को रखना होगा। उद्योगपतियों को श्रम भृति उचित मात्रा में देनी होगी। सरकार को इस पर पर्याप्त नियंत्रण रखना होगा।

कहा गया है कि भारत में पूँजी संकुचित है। देश में पूँजी का अभाव तो है ही परन्तु जो कुछ पूँजी विद्यमान है वह भी देश के उद्योगों के लिए नहीं प्राप्त होती। इस पूँजी के प्राप्त न होने का कारण पूँजी प्राप्त करने की सुव्यवस्था का अभाव तथा ऐसी पूँजी के स्वामियों की मनोवृत्ति है। दूसरी बात यह तो है ही कि पूँजी प्राप्त करके उद्योगों में लगाने के साधन भी देश में उपलब्ध नहीं। इसके लिए सरकार को मुद्रा-मण्डियों का विकास करना होगा, अधिकोषण प्रणाली को भी विस्तृत करना होगा तथा पूँजी वाले व्यक्तियों के हृदय में उद्योगों के प्रति विश्वास जमाकर पूँजी प्राप्त करनी होगी। यह बात तो हमारे देश की पूँजी की हुई। निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था में विदेशी पूँजी लेने में कोई दोष नहीं। कुछ लोग विदेशी पूँजी भारत में लगाने के विचार से सहमत नहीं। परन्तु लगभग सभी राजनीतिज्ञ, सभी अर्थ शास्त्री विदेशी पूँजी को कुछ नियंत्रण के साथ भारत के उद्योगों में लगाने के पक्ष में हैं। समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने भी औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि के विषय में भाषण देते हुए कहा था कि नए नए उद्योग स्थापित करने तथा पूर्वस्थित विशाल उद्योगों के विस्तार के लिए आवश्यक विदेशी पूँजी ले लेनी चाहिए।

विदेशी पूँजी का नियंत्रण भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकता है। उसको राष्ट्र महत्व के उद्योगों में तथा रक्षा सम्बन्धी उद्योगों में नहीं लगाना चाहिए जिससे उन पर किसी भी प्रकार से विदेशियों का आधिपत्य हो जाय। ऐसे उद्योगों में जिनकी निर्माण कला भारतवासियों को ज्ञात न हो और न निकट भविष्य में ज्ञात होने की सम्भावना हो विदेशी पूँजी, कार्यदाता के साथ स्वामित्व अधिकार को देकर भी लगाई जा सकती है। यह विदेशी पूँजी विदेशों से सरकार या जनता द्वारा ऋण लेकर ही लगानी चाहिए जिससे विदेशी पूँजीपतियों का आधिपत्य न रह सके। विदेशी पूँजी को बिना सरकार की आज्ञा के देश के किसी उद्योग धंधों में नहीं लगाना चाहिए।

नव भारत का औद्योगिक निर्माण केवल विशाल उद्योगों के स्थापित करने से ही सर्वांग पूर्ण नहीं कहा जा सकता। जब तक विशाल उद्योगों के साथ-साथ ग्राम्य या कुटीर-धंधों का निर्माण न किया जाय तब तक बेकारी की समस्या शत प्रतिशत हल नहीं हो सकती। ग्रामों में छोटे छोटे कुटीर-धंधे जैसे, कपड़ा बुनना, सूत कातना, लकड़ी और चमड़े का काम, बर्तन बनाना, कागज तथा बीड़ी बनाना, तेल घानी, टोकरी बनाना आदि आदि यदि स्थापित हो जावें तो कृषकों को इनसे कृषिकार्य से बचे हुए समय में कुटीर धंधों द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने का अवसर मिलेगा। नव भारत में इस योजना को सफल बनाने के लिए कुछ असुविधाएं होंगी। इन धंधों के लिए आरम्भिक द्रव्य, राजस्व, वस्तुविनिमय की सुविधाएं देना तथा इनकी विशाल उद्योगों की प्रतियोगिता से भी सरकार को रक्षा करनी होगी।

भारत का उत्थान बिना औद्योगीकरण और वह भी शीघ्र किए बिना नहीं हो सकता। हमें आशा है कि नवभारत की राष्ट्रीय-सरकार इस योजना पर विचार कर देश के औद्योगिक निर्माण में अधिक विलम्ब न करेगी।

१६—उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न

आधुनिक काल में सभी देशों में औद्योगिक उन्नति हो रही है। जन-साधारण के जीवन-स्तर में परिवर्तन हो रहे हैं। प्रति व्यक्ति वार्षिक आय पर्याप्त मात्रा में बढ़ाने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। मजदूरों तथा सामान्य जनता की दैनिक आवश्यकताओं की पर्याप्त पूर्ति की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। पाश्चात्य देशों में हर एक व्यक्ति के लिए भूख, बीमारी, बेकारी इत्यादि कठिनाइयों से बचाने के पूरे प्रयत्न किए जा रहे हैं। यह सब कुछ उत्पादन वृद्धि के द्वारा ही सम्भव हो सकता है और उत्पादन वृद्धि के लिए उत्पादन के साधनों का ठीक प्रकार से संगठन होना आवश्यकीय है, तथा पाश्चात्य देशों में ऐसा हो भी रहा है। उत्पादन-क्षेत्र में दो प्रकार से प्रगति हो सकती है। एक तो यह कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना उत्पादन कार्य, जैसे वह चाहे, उसे ही चलाने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय। सरकार की ओर से उस कार्य में कोई हस्तक्षेप न हो। इसको व्यक्तिवाद या स्वेच्छावाद कहते हैं। दूसरा मार्ग यह है कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व सरकार के हाथों में हो तथा वही उत्पादन क्रियाओं का नियन्त्रण करे। आधुनिक औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ में अर्थशास्त्री पहिले मार्ग के पक्ष में थे। उसी नीति का बहुत समय तक प्रयोग किया गया। इसका परिणाम यह निकला कि संसार में पूँजीवाद बन गया तथा मजदूर तथा पूँजीपतियों में संघर्ष होने लगे। इंगलैण्ड तथा अन्य पश्चिमी देशों के आर्थिक इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि व्यक्तिवाद की नीति से समाज को हानि अवश्य पहुँची। फलतः ऐसे कानून बने जिनसे उत्पादन तथा वितरण सम्बन्धी कार्यों में सरकार को पर्याप्त अधिकार मिलने लगे।

प्रश्न यह है कि देश की आर्थिक व्यवस्था के साथ सरकार का क्या सम्बन्ध हो? इस सम्बन्ध में राष्ट्रीयकरण के कई रूप होते हैं जिनमें से मुख्य तीन हैं। एक तो यह कि सरकार ही उद्योग धंधों का प्रबन्ध तथा संचालन करे

तथा वितरण प्रणाली सुव्यवस्थित हो। यह तो निश्चत ही है कि उत्पादन में बढ़ोत्तरी गृह घरेलू धंधों तथा बड़े पैमाने के विशाल उद्योगों द्वारा ही हो सकती है। इन सभी साधनों को उन्नत करना आवश्यक है। पर न देखना यह है कि धंधों का राष्ट्रीयकरण हो अथवा इनकी व्यवस्था का भार तथा उत्तरदायित्व व्यक्तियों तथा कम्पनियों पर ही छोड़ दिया जाय। उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के विषय में हमारे देश में दो विचारधाराएं हो चली हैं। कुछ लोगों का कहना है कि देश में उद्योगों का शीघ्र ही राष्ट्रीयकरण होना चाहिए जिससे पूंजीवाद का अन्त हो और वर्ग संघर्ष की समस्या समाप्त हो जाय। दूसरा मत है कि हमारी सरकार अभी उद्योगों का प्रबन्ध एवं सचालन करने के योग्य नहीं हुई है इसलिए इनका प्रबन्ध व्यक्ति के अधिकार में ही रहना चाहिए। व्यक्तिवादी विचारधारा के पक्ष वालों ने कुछ ऐसे तर्क दिए हैं जो राष्ट्रीयकरण का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि—

(१) प्रत्येक उद्योग धंधे में किसी न किसी प्रकार का थोड़ा बहुत हानि भय रहता है। सरकार को उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके इस हानि-भय को अपने सिर मोल लेना न ठीक है और न वांछनीय ही।

(२) उद्योग धंधों को चलाने के लिए कुछ व्यक्तिगत योग्यता और साहस की आवश्यकता होती है। सरकारी कर्मचारियों में यह योग्यता और साहस नहीं होता और न उनमें इनका कुछ अनुभव ही होता है। अतः सरकार उद्योगों का ठीक-ठीक सचालन नहीं कर सकती।

(३) सरकार उद्योग चलाने के लिए आवश्यक मात्रा में पूँजी इकट्ठी नहीं कर सकती।

(४) सरकार को उद्योगों में काम करने के लिए कुशल मिस्त्रियों तथा इञ्जीनियरों की जो आवश्यकता होगी उसे वह उतनी सरलता से पूरा नहीं कर सकती जितनी सरलता से व्यक्तिगत उद्योगपति कर लेते हैं। ऐसी अवस्था में यह भय होता है कि राष्ट्रीयकरण से उद्योगों की उत्पादन शक्ति बढ़ने की जगह उल्टी गिरने लगेगी जिससे समाज और देश को और भी अधिक हानि होने की सम्भावना है।

परन्तु इन कारणों से ही राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को टाला नहीं जा सकता। प्रो० के० टी० शाह ने उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्न तर्क दिए हैं[1]–

(१) उद्योगों का स्वामित्व और प्रबन्ध सरकार के अधिकार में आने से उद्योगों में संगठन आएगा तथा बचत भी होगी।

(२) राष्ट्रीयकृत उद्योगों में जो लाभ होगा वह जनता के हित में व्यय किया जा सकेगा। इससे सरकार के हाथ मजबूत होंगे और फिर उसे जनता पर भारी-भारी टैक्स लगाकर अपनी आय बढ़ाने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

(३) राष्ट्रीयकृत उद्योगों का ध्येय जनता की सेवा करना होगा न कि जनता का शोषण करके भारी-भारी लाभ कमाना। इससे देश के आर्थिक जीवन में दृढ़ता आएगी तथा जन साधारण की उन्नति होगी। तब पूँजीवाद और वर्ग-संघर्ष के दोष नहीं रहेंगे।

(४) राष्ट्रीयकृत उद्योगों में श्रमिकों को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार पूरा पूरा रोजगार मिल सकेगा। श्रमिकों की शिक्षा तथा उनके कल्याण का समुचित प्रबन्ध होगा और श्रम शोषण की समस्याएँ न रहेंगी।

(५) उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होने से देश भर में स्थान-स्थान पर उद्योग स्थापित होंगे। सरकार को व्यापारियों की भाँति किसी प्रदेश में हित न होगा। इससे उद्योगों का विकेन्द्रीकरण स्वतः ही हो जायगा तथा देश के हर एक भाग के लोगों को रोजगार की सुविधाएँ हो जाएँगी।

इसी प्रकार उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष और विपक्ष में युक्तियाँ दी जाती हैं परन्तु उचित बात तो यह है कि ये सभी बातें परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती हैं। आर्थिक मामलों में देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन हुआ करते हैं और होने भी चाहिए। प्रारम्भ में रूस में सामूहिक कृषि प्रणाली में सरकार व्यक्तिगत कृषि प्रणाली भी रखती थी परन्तु समयानुकूल उसमें उचित परिवर्तन होते होते आजकल वह सामूहिक कृषि प्रणाली हो गई है। हमारी वर्तमान स्थिति में राष्ट्रीयकरण का क्षेत्र सीमित ही है। कुछ उद्योग-धन्धे तो ऐसे हैं जिनका राष्ट्रीयकरण होना बहुत आवश्यक है। रेल, सड़क

[1] *Minute of Dissent by Prof. K. T. Shah in the Report of the* Advisory Planning Board, 1947.

तथा अन्य मुख्य यातायात के साधनों का तो राष्ट्रीयकरण होना ही चाहिए। बहुत से आधार भूत धन्धे ऐसे हैं जिनका ठीक ठीक प्रबन्ध और संचालन सरकार अच्छी तरह से कर सकती है। भारी रसायनिक पदार्थ तथा मशीन बनाने के कारखाने, रेल इंजन बनाने के कारखानों का भी राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक है क्योंकि इनके लिए पर्याप्त मात्रा में पूंजी का प्रबंध करना तथा देश हित के लिए इनका संचालन करने का प्रबन्ध सरकार अच्छी तरह कर सकती है। ऐसे उद्योगों को, जिनमें उपभोग्य वस्तुएं बनती हैं, व्यक्तिवाद के आधार पर ही छोड़ देना उचित है, परन्तु सरकार का इन पर नियन्त्रण अवश्य होना चाहिए। छोटे पैमाने के उद्योगों तथा कुटीर धंधों को सरकार के अधिकार में देने की कोई आवश्यकता नहीं है फिर भी इनके संचालन में जिन साधनों की आवश्यकता होती है उनके सम्बन्ध में सरकार को सहायता अवश्य करनी चाहिए। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो या नहीं सरकार को यह अवश्य देखना चाहिए कि देश के सभी भागों में औद्योगिक उन्नति हो रही है या नहीं। उद्योग सम्बन्धी नई नई खोज करने में, माल बिकवाने में तथा इस सम्बन्ध में व्यक्तिगत संचालकों को आवश्यक जानकारी देने का काम सरकार को करना चाहिए। विभिन्न प्रान्तों की आवश्यकताओं के अनुसार धंधों का स्थानीयकरण सरकार का उत्तरदायित्व है।

हमारे उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के विवादग्रस्त विषय को सरकार की औद्योगिक नीति ने अगले दस वर्षों तक लगभग समाप्त ही कर दिया है। सरकार का मत है कि देश के आर्थिक उत्थान के लिए राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि करने की आवश्यकता है और इस उद्देश्य के लिए सब सम्भव साधनों से देश में उत्पादन बढ़ाना चाहिए। सरकार यह भी समझती है कि यदि उत्पादन बढ़ाना है तो देश के वर्तमान औद्योगिक कलेवर को नहीं छूना चाहिए। सरकारी नीति की घोषणा करते हुए पंडित नेहरू ने एक बार कहा था कि "इस विषय में (उद्योगों के राष्ट्रीयकरण) कोई भी कदम उठाते समय यह देखने की आवश्यकता है कि देश में वर्तमान आर्थिक कलेवर को कोई हानि न पहुँचे। देश और संसार की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए वर्तमान कलेवर को बिल्कुल भंग कर देने से आर्थिक विकास को गहरी चोट लगने की आशंका हो सकती है।

इसलिए यह आवश्यक है कि इस कलेवर को शनैः शनैः बदला जाय" हमारी सरकार के पास उद्योगों के स्वामित्व और संचालन का उत्तरदायित्व लेने की शक्ति अभी नहीं है। स्वर्गीय सरदार पटेल ने इस विषय में एक बार कहा था कि सरकार में उद्योगों को चलाने की न योग्यता है और न शक्ति। अतः इन्हें व्यक्तिगत प्रबन्ध में ही छोड़ना होगा। राष्ट्रीयकरण के विषय में कांग्रेस आर्थिक प्रोग्राम कमेटी का मत है कि देश-रक्षा तथा जनता के लिए आवश्यक वस्तुएं बनाने वाले उद्योग-धन्धे तथा आधार-भूत उद्योग सरकार के अधीन होने चाहिएँ। जो उद्योग समस्त देश के हित में आवश्यक हैं वे भी सरकार के अधीन कर दिए जाएं। सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति में स्पष्ट कर दिया है कि पुराने उद्योगों का दस साल से कम समय में राष्ट्रीयकरण करने का कोई प्रश्न नहीं है। परन्तु हमारी राय में इस प्रकार राष्ट्रीयकरण का समय निश्चित करना ठीक नहीं है क्योंकि उद्योगपति इस बात से भय खाकर उनमें अपनी पूँजी लगाना बन्द कर देंगे। यदि दस वर्षों में हमारी आर्थिक व्यवस्था सुसंगठित हो जाये और सरकार इस भार को सँभालने के योग्य बन सके तो राष्ट्रीयकरण सफल हो सकता है। यदि जल्दबाजी में आकर अभी अभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया गया, जैसा कि कुछ लोग कह रहे हैं, तो उत्पादन व्यवस्था बिल्कुल भंग हो जायगी और समूचा आर्थिक कलेवर छिन्नभिन्न हो जायगा। राष्ट्रीयकरण करने से पहले इस बात की आवश्यकता है कि योजना बनाई जाय कि किस प्रकार राष्ट्रीयकरण किया जायगा? कौनसे उद्योगों का पहिले राष्ट्रीयकरण होना चाहिए? किस प्रकार उद्योगों को व्यक्तिगत स्वामियों से प्राप्त किया जाय? उनको बदले में क्या दिया जाय? तथा फिर उद्योगों का प्रबन्ध तथा संचालन कैसे किया जाय? इन सब बातों को निश्चित करने के बाद ही राष्ट्रीयकरण के विषय में सोचना चाहिए।

१७—औद्योगिक-क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार

देश की वर्तमान स्थिति में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की योजना को व्यावहारिक न जानकर केन्द्रीय सरकार अपने नियन्त्रण और स्वामित्व में नए नए उद्योग स्थापित करने लगी है। सरकार ने अपनी पूँजी लगाकर कारखाने खोले हैं, विदेशी उद्योगपतियों के साझे में भी खोले हैं तथा कुछ ऐसे कारखाने भी स्थापित किए हैं जिनमें सरकार तथा जनता दोनों का साझा है। यहाँ हम औद्योगिक क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार के मुख्य मुख्य निर्माण का अध्ययन करेंगे।

१ रेल के इञ्जनों का कारखाना

रेल के इञ्जनों में देश को आत्मनिर्भर बनाने के उद्देश्य से सरकार ने आसनसोल से कोई २१ मील की दूरी पर पश्चिमी बंगाल में चितरञ्जन नामक स्थान पर रेल के इञ्जन बनाने का एक विशाल कारखाना स्थापित किया है। इस कारखाने का काम १९४८ में प्रारम्भ किया था और लगभग समाप्त हो चुका है। इस कारखाने में कुल मिलाकर १४.६३ करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है परन्तु अभी तक १२.१० करोड़ रुपये व्यय हो चुके हैं। १९५६ तक इसमें २० इञ्जन तथा ५० [illegible] प्रतिवर्ष बनने लगेंगी। इतना काम करने में कोई २०,००० टन इस्पात की आवश्यकता हुआ करेगी जिसे देश में ही निकाले हुए लोहे से पूरा करने का प्रबन्ध किया जा रहा है। १९५० और ५१ में आवश्यक माल न मिलने के कारण इस कारखाने का काम आशानुकूल उन्नति नहीं कर सका है परन्तु फिर भी अब तक २० मालगाड़ी के रेलवे इञ्जन बनाए जा चुके हैं जो अब काम दे रहे हैं। अनुमान है कि इस वर्ष इसमें ३८ इञ्जन तथा अगले वर्ष ५२ इञ्जन बनाए जा सकेंगे। यह कारखाना एशिया भर में अपनी शान का अद्भुत कारखाना बन जायगा। इसमें १३००० अश्व शक्ति के १०८९ मोटर इञ्जन लगाए गए हैं। आजकल इस कारखाने में ८८५० से अधिक व्यक्ति काम करते हैं परन्तु अन्त में लगभग १६००० से अधिक व्यक्ति इसमें काम करने लगेंगे। श्रमिकों को यन्त्र सम्बन्धी शिक्षा देने के लिए यहाँ एक यान्त्रिक-स्कूल भी खोला गया है। सरकार ने इस कारखाने में काम करने वाले लोगों के कल्याण की सभी आवश्यक सुविधाएँ दे रक्खी हैं।

२. कल-पुर्जों का कारखाना

कल-पुर्जे ऐसी आधार भूत वस्तुएँ हैं जिन पर किसी देश का औद्योगिक विकास निर्भर होता है। युद्ध से पहले हमारे देश में कल पुर्जे बनाने का कोई संगठित उद्योग नहीं था। उस समय लगभग १०० प्रकार के कल पुर्जे देश में बनते थे। परन्तु युद्धकाल में इनकी आवश्यकता बढ़ी और ६००० प्रकार के कल-पुर्जे प्रति वर्ष हमारे उद्योगों में बनाए जाने लगे। १६४७ में देश भर में २४ अच्छी तथा १०० निम्न कोटि की ऐसी फर्म थीं जो कल-पुर्जे बनाया करती थीं। देश के विभाजन से इस उद्योग को भारी चोट लगी और कल-पुर्जों के कारखाने तथा उनमें काम करनेवाले श्रमिकों की संख्या कम हो गई। विभाजन के पश्चात् हमारे देश में १६ उत्तम कोटि की तथा ५० निम्न कोटि की फर्में थीं जो कल पुर्जे बनाती थीं। इनमें लगभग ४० लाख रुपये के कल-पुर्जे प्रति वर्ष बनाए जाते थे। आजकल हमारी कुल आवश्यकताओं का ३ प्रतिशत भाग भी हमारे देश में बने हुए कल-पुर्जों से पूरा नहीं हो पाता। इस समय हमारे कारखानों को १० करोड़ रुपये के मूल्य के कल-पुर्जों की प्रति वर्ष आवश्यकता होती है जो हमें विदेशों से आयात करने पड़ते हैं। सरकार ने कल-पुर्जों में देश को स्वावलम्बी बनाने के दृष्टिकोण से बंगलोर के पास जालाहाली नामक स्थान पर कल-पुर्जों का एक कारखाना स्थापित किया है। मैसूर राज्य ने इस कारखाने को बनाने के लिए भूमि दे दी है और कारखाने का अधिकांश काम पूरा भी हो चुका है। केन्द्रीय सरकार ने अप्रैल १६४६ में स्विटज़रलैण्ड की एक कम्पनी के साथ समझौता करके वहाँ से मशीन, कुशल कारीगर, विशेषज्ञ तथा इंजीनियर बुलाने का निश्चय किया है। १६५५-५६ तक यह कारखाना अपनी पूरी शक्ति से काम करने लगेगा जब इसमें कोई ४ करोड़ रुपये के मूल्य के कल-पुर्जे बनने लगेंगे।

३. टेलीफोन बनाने का कारखाना

अब तक हम टेलीफोन तथा उसके लिए आवश्यक कल पुर्जे विदेशों से आयात करते थे परन्तु अब इनका आयात बन्द करने के उद्देश्य से बंगलोर में टेलीफोन बनाने का एक कारखाना खोला गया है। डायल तथा कण्डेन्सर

को छोड़ अन्य सभी वस्तुएं इस कारखाने में बनाई जाया करेंगी। इस समय इस कारखाने में २५००० टेलीफोन प्रति वर्ष बनाए जाते हैं परन्तु आशा है कि जब यह कारखाना अपनी पूर्ण शक्ति से काम करने लगेगा तो इसमें ५०,००० टेलीफोन प्रति वर्ष बनने लगेंगे। आजकल कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में न मिलने के कारण उत्पादन सीमित है। यह कारखाना इण्डियन टेलीफोन इन्डस्ट्री लि० के नियंत्रण में खोला गया है। यह कम्पनी ५ करोड़ रुपये की अधिकृत पूंजी से ? फरवरी १९५० को बनाई गई थी। इसकी पूँजी में ६५% भाग भारत सरकार तथा मैसूर राज्य का है तथा शेष पूँजी इङ्गलैण्ड की एक कम्पनी ने लगाई है। इसके सञ्चालन और प्रबन्ध के लिए आठ संचालकों का एक बोर्ड है जिसमें सात भारत सरकार द्वारा निर्वाचित हैं। १९५१ के अन्त तक इस कारखाने में ४०,००० टेलीफोन तैयार किए गए थे और अब यहाँ लगभग २,००० टेलीफोन प्रति मास तैयार होते हैं। अब टेलीफोन के बहुत से कल पुर्जे इसी कारखाने में बनाए जाने लगे हैं।

टेलीफोन के लिए हमें एक प्रकार के तार की आवश्यकता होती है जो अब तक विदेशों से मंगाया जाता था। इस आयात को बन्द करने के लिए सरकार ने देश में ही एक कारखाना खोल दिया है। इसके लिए ३० नवम्बर १९४६ को सरकार ने इंगलैण्ड की एक कम्पनी के साथ समझौता किया जिसके अनुसार वह कम्पनी पश्चिमी बंगाल में मिहाजान नामक स्थान पर एक कारखाना बना रही है। इस कारखाने में १ करोड़ रुपया व्यय होने का अनुमान है और आशा है कि जब यह कारखाना काम करने लगेगा तो इसमें १०० लाख रुपये के मूल्य के तार प्रति वर्ष बनाए जा सकेंगे। इस कारखाने के लिए भूमि पश्चिमी बंगाल की सरकार ने दी है और कारखाना बनाने का काम आरम्भ हो चुका है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि इस कारखाने में प्रति वर्ष ६५ लाख रुपये की लागत लगाकर ८७ लाख रुपये के मूल्य का तार बनाया जा सकेगा और इस प्रकार २२ लाख रुपये प्रति वर्ष का लाभ होगा।

४. वायुयान का कारखाना

देश में हवाई जहाज बनाने का कारखाना बनाने की आवश्यकता द्वितीय युद्ध के आरम्भ से ही होने लगी थी। दिसम्बर १९४० में वालचन्द हीराचन्द

नामक एक प्रसिद्ध उद्योगपति ने ८ करोड़ रुपये की अधिकृत पूंजी से बंगलोर में जहाज बनाने की हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि० कम्पनी स्थापित की। १९५२ में केन्द्रीय सरकार ने इसे खरीद कर अपने नियंत्रण में ले लिया। सितम्बर १९४३ से युद्ध समाप्त होने तक इस कारखाने में जहाजों की केवल मरम्मत होती थी। युद्ध के पश्चात इस कम्पनी का पुनर्संगठन किया गया जिसमें केन्द्रीय सरकार तथा मैसूर राज्य सरकार हिस्सेदार बने। अब यह रक्षा विभाग के अन्तर्गत काम कर रहा है और इसमें जहाज बनाए जाने लगे हैं। छोटे छोटे जहाज बनाने में इस कारखाने ने अब तक काफी प्रगति की है। इङ्गलैण्ड की एक जहाज बनाने की कम्पनी की सहायता से इस कारखाने में बड़े बड़े जहाजों का निर्माण भी होने लगा है। उत्पादन के मामले में अभी यह कारखाना स्वावलम्बी न होने के कारण इसमें जहाजों की मरम्मत भी की जाती है जिससे श्रमिकों को काम मिलता रहे। इस कारखाने ने युद्धकालीन बहुत से टूटे-फूटे जहाजों की मरम्मत करके चालू कर दिया है जो अब अच्छा काम कर रहे हैं। जहाज बनाने के अतिरिक्त इस कारखाने में रेल के डिब्बे भी बनाए जाते हैं। रेलवे विभाग से डिब्बे बनाने का काम इस कारखाने को मिला हुआ है। अब तक इसने तीसरे दर्जे के लगभग २०० डिब्बे तैयार किए हैं जो काम में आने लगे हैं।

५. पेनिसिलिन उद्योग

देशवासियों के जन-स्वास्थ्य के लिए देश में ही पेनिसिलिन बनाने की बहुत आवश्यकता थी। इस काम को पूरा करने के लिए भारत सरकार ने 'विश्व स्वास्थ्य संघ' तथा 'संयुक्त राष्ट्रीय बाल सहायता कोष' से समझौता करके पेनिसिलिन बनाने का एक कारखाना खोलने का निश्चय किया है। यह समझौता जुलाई १९५१ में किया गया था जिसके अनुसार उक्त दोनों संस्थाओं ने यांत्रिक तथा वित्त सहायता देने का वचन दिया है। समझौते के अनुसार भारत सरकार कारखाने के लिए भूमि देगी, कारखाना बनवाएगी, प्रयोगशालाएँ बनाएगी तथा बिजली आदि का प्रबन्ध करेगी। 'बाल सहायता कोष' ८,५०,००० डालर के मूल्य की अन्य सामग्री मंगा कर कारखाने को देगा;

तथा 'विश्व स्वास्थ्य संघ' तान्त्रिक सहायता पर ३,५०,००० डॉलर व्यय करेगा। अनुमान है कि आरम्भ में इस कारखाने में प्रति वर्ष ३६०० यूनिट पैनिसिलिन बनेगी परन्तु धीरे धीरे ६००० यूनिट बनने लगेगी। यह कारखाना पूना के पास देहू सड़क पर बनाया जा रहा है और आशा है कि १९५३ के अन्त तक काम करने लगेगा। जब तक यह कारखाना बन कर तैयार हो तब तक पैनिसिलिन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बम्बई के हैफकिन इन्स्टिट्यूट में पैनिसिलिन का बोतलों में भरने का प्रबन्ध कर दिया गया है। यहाँ प्रति दिन १५००० वायलस बोतलों में भरी जा रही है। यह काम २८ मई '५१' से आरम्भ किया गया था जो अब तक सरकार तथा जनता की पैनिसिलिन की माँग को पूरा करता रहा है।

६ औज़ारों का कारखाना

सरकार ने गणित सम्बन्धी तथा अन्य औज़ार बनाने का भी एक कारखाना स्थापित किया है। कलकत्ते में अब तक गणित सम्बन्धी औज़ारों का जो कार्यालय था उसको 'राष्ट्रीय औज़ार निर्माण' कारखाने का रूप दे दिया गया है। योजना कमीशन ने अपनी पचवर्षीय योजना में व्यवस्था की है कि इस कारखाने पर १९५१-५३ में ५० लाख रुपये तथा १९५१-५६ में कुल १५४ लाख रुपये व्यय किए जाए। कारखाने को संगठित करने की योजनाएँ बन रही हैं और आशा है कि शीघ्र ही इसमें इतना उत्पादन होगा कि फिर देश को विदेशों से इस प्रकार के औज़ार आयात करने की आवश्यकता न रहेगी। यहाँ इतना कहना भी उचित होगा कि इस कार्यालय की स्थापना सबसे पहले १८३० में हुई थी। तब से यहाँ बराबर प्रकार प्रकार के गणित ज्योमिति सम्बन्धी औज़ार बनते रहे थे। आज इसकी सम्पत्ति सरकार ने देशहित के लिए अपने नियंत्रण में ले ली है और बड़े पैमाने पर औज़ार बनाए जाने लगे हैं।

७. वैज्ञानिक खाद का कारखाना

औद्योगिक क्षेत्र में सरकार ने एशिया भर में बहुत बड़ा काम जो किया है वह है वैज्ञानिक खाद बनाने का सिंधरी का कारखाना। हमारे देश में वैज्ञा-

निक खाद की बहुत आवश्यकता थी। इसको पूरा करने के लिए भारत सरकार ने लगभग आठ वर्ष पहिले इस सम्बन्ध में एक योजना तैयार की थी। उस योजना के अनुसार १९४५ में बिहार में सिंधरी नामक स्थान पर भूमि खरीदने, उसे समतल बनाने तथा कारखाना बनाने के लिए आवश्यक सामग्री जुटाने का काम आरम्भ कर दिया गया था। १९४९ में कारखाना बनाना भी आरम्भ कर दिया गया। पाँच वर्ष तक लगातार काम होता गया और अन्त में राष्ट्रीय सरकार ने कोई ३० करोड़ की लागत से यह कारखाना तैयार ही कर दिया। कारखाने का काम ३० अक्टूबर १९५१ की आधी रात से आरम्भ हो गया है और १५ जनवरी १९५२ को सिंधरी फर्टिलाईजर एण्ड केमिकल्स लि०, कम्पनी बनाकर इसे उसके आधीन कर दिया गया। इस कम्पनी की अधिकृत पूँजी ३० करोड़ रुपये है। यहाँ अमोनियम सल्फेट तैयार होता है। यह सल्फेट भूमि की उर्वरता बढ़ाने के काम आता है। हमारे देश में इसकी बहुत आवश्यकता था। आशा है कि इस वर्ष के मध्य तक इस कारखाने में १००० टन अमोनियम सल्फेट बनने लगेगा। आज तक भारत सरकार ४,००,००० टन अमोनियम सल्फेट विदेशों से आयात करती रही थी और यह भी देश की आवश्यकताओं के लिए पूर्ण नहीं था। जब हमारा यह कारखाना अपनी पूरी शक्ति से काम करने लगेगा तो इससे ३,६५,००० टन अमोनियम सल्फेट प्रति वर्ष बनने लगेगा जिससे हमें १० करोड़ रुपये के मूल्य के विदेशी विनिमय की बचत होगी। सरकार का प्रयत्न है कि इस कारखाने में विभिन्न-प्रकार के वैज्ञानिक खाद इतनी सस्ती लागत पर तैयार की जाय कि भारत के गाँव के गरीब कृषक भी उसे खरीदकर अपने खेतों में प्रयोग कर सकें। यह लिखने में तनिक भी सन्देह नहीं कि सिंधरी का यह कारखाना बना कर भारत सरकार ने रासायनिक औद्योगिक क्षेत्र में एक नया कदम उठाया है।

८. निवास गृह बनाने का कारखाना

नई दिल्ली के पास सिथा एक ऐसा कारखाना बनाया गया है जो निवास गृह बनाने का काम करता है सरकार की योजना है कि यह कारखाना उपयोगी और सस्ते घर बनाए जो जनता को बेचे जा सकें। इस उद्देश्य

की प्राप्ति के लिए सरकार स्वीडन की एक कम्पनी से बातचीत कर रही है। आशा है यह काम शीघ्र पूरा हो सकेगा और बड़े-बड़े नगरों में मकानों की समस्या समाप्त हो जायगी।

६. जलपोत बनाने का कारखाना

सरकार पानी के जहाज बनाने के उद्योग को भी अपने हाथ में लेना चाहती है। सिंधिया स्टीमशिप नेवीगेशन कम्पनी के पास विज़गापट्टम पर एक ऐसा कारखाना है जहाँ पानी के जहाज बनाए जाते हैं। सिंधिया कम्पनी इस कारखाने को बन्द करना चाहती थी परन्तु सरकार का विचार था कि इसके बन्द होने से देश का जहाज निर्माण उद्योग अस्त व्यस्त हो जायगा और उसमें काम करनेवाले कुशल कारीगर भी देश के हाथ से निकल जाएँगे। अतः सरकार ने इस कम्पनी को २५ फरवरी १९५० को ८००० टन वजन के तीन माल ढोने के जहाज बनाने के आर्डर दे दिये जिससे यह कारखाना चालू बना रहे और कुशल विशेषज्ञ काम में लगे रहें। सरकार यह भली भाँति जानती थी कि इस कम्पनी से जहाज बनवाने में उसे एक जहाज का मूल्य ६८ लाख रुपये देना पड़ेगा जबकि इंगलैण्ड में वैसा ही जहाज ४२ लाख रुपये में बन सकता था। फिर भी सरकार ने भारतीय कम्पनी से ही जहाज बनवाए और २२ लाख रुपये प्रति जहाज की दर कम्पनी को अधिक मूल्य देकर इस उद्योग की एक प्रकार से परोक्ष सहायता कर दी। अभी तक तीन जहाज बन चुके हैं और काम कर रहे हैं। तीन और जहाज बनाने का आर्डर अगस्त ५१ में दिया गया है। इस प्रकार सरकार इस उद्योग में सहायता दे रही है। परन्तु उद्योग को उन्नत करने का यह एक अस्थायी उपाय है। सरकार की योजना है कि सिंधिया कम्पनी से कारखाने को खरीद ही लिया जाय और किसी विदेशी कम्पनी के साथ साझा करके इसमें बड़े पैमाने पर जहाज बनने लगें। विश्वास है यह काम शीघ्र पूरा हो जायगा।

इन प्रयत्नों के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र में और भी अनेक छोटे-मोटे काम किए हैं। हाल ही में औषधियाँ तथा रंग बनाने के एक कारखाने का निर्माण कार्य आरम्भ कर दिया है जहाँ शुद्ध औषध तथा

सभी रंग बना करेंगे। विदेशी कम्पनियों के साथ मिलकर साइकिल बनाने के कारखाने भी स्थापित किए गए हैं। नदियों की बहुमुखी योजनाओं में सरकार ने जो प्रशंसनीय कार्य किए हैं उनका वर्णन तो पीछे किया जा चुका है। घरेलू-उद्योग-धन्धों में भी सरकार ने जो सहायता दी है वह भी कम नहीं है, उनका उल्लेख भी पीछे किया जा चुका है। अब तो यह आशा है कि सरकार इस ओर और भी अधिक काम करे। राज्य सरकारों को भी इस कार्य में भाग लेना चाहिए। प्रादेशिक उद्योगों की स्थापना तथा उनका *संचालन तो राज्य सरकारों को ही लेना चाहिए।* मध्य प्रदेश की सरकार ने कागज की एक मिल बनाई है तथा मद्रास, मैसूर और पश्चिमी बंगाल की सरकारों ने भी उद्योगों में हिस्सा बंटाया है। अन्य राज्यों को भी इस क्षेत्र में आना चाहिए।

१८—कुटीर-धंधों की समस्याएँ

प्राचीन काल से ही भारत के आर्थिक ढलगर मे छोटे तथा कुटीर धधो का एक विशिष्ट स्थान रहा है। अगरेजी शासन से पहिले ये धधे देशवासियो के आर्थिक जीवन के मूल आधार थे। ढाका का मलमल, बनारस की साड़ियाँ, काश्मीर के शाल, धातु का मूर्तियाँ, लकड़ी के खिलौने आदि ससार-प्रसिद्ध वस्तुए इन्हीं कुटीर-धधा मे बनती थीं। विदेशी राजनैतिक सत्ता के कारण इंगलैएड में मशीनो से बनी हुई वस्तुएँ हमारे देश में आने लगीं। इन वस्तुओं की प्रतियोगिता में हमारे ये छोटे धधे न टिक सके। गाँवो की स्वावलम्बी आर्थिक इकाईयाँ भग होने लगी तथा मशीनो द्वारा बड़े बड़े कारखानो में बने हुए सस्ते माल की प्रतियोगिता से, सरकार की हमारे उद्योगों के प्रति उदासीनता से एव लोगों के रहन-सहन, रीति रिवाजों तथा सामाजिक सभ्यता में परिवर्तन होने से हमारे छोटे तथा कुटीर धधो को गहरी चोट लगी, परन्तु फिर भी ये मैदान में जमे रहे। स्वदेशी आन्दोलन के द्वारा इन्हें कुछ सहारा मिला तथा १६२१ और १६३१ के राजनैतिक आन्दोलनो में खादी तथा अन्य देशी वस्तुओ के उपभोग पर जो जोर दिया गया उससे ये धधे कुछ उभरने लगे। इनमें काम करनेवाले श्रमिको की कुशलता, योग्यता तथा कार्यक्षमता में भी वृद्धि होने लगी। १६३६-३७ में जब प्रान्तीय शासन व्यवस्था काग्रेस के हाथ में आई तो इन धधों को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। द्वितीय युद्धकाल में नागरिक उपभोग के लिए कारखानो में बने हुए माल की कमी होने के कारण इन धधों में बनाए गए माल का उपयोग बढ़ने लगा। फलत. इन धधो की संख्या बढ़ी और इनमें काम करनेवाले कलाकारों को प्रोत्साहन मिला। आज भी ये छोटे और कुटीर धधे हमारे आर्थिक जीवन के प्रमुख अङ्ग हैं। औद्योगीकरण की किसी भी देश व्यापी योजना में इनकी सम्मिलित करना अनिवार्य होगया है। परन्तु इस विषय पर अधिक विचार करने से पहिले छोटे तथा कुटीर-धधो का अभिप्राय समझना भी आवश्यक है। यू० पी०

औद्योगिक वित्त समिति (१९३५) के अनुसार "कुटीर-धंधे वे होते हैं जिन्हें मालिक अपने ही छोटे-मोटे पर अपने घरों में लगाकर चलाते हैं।" सामान्यतः एक परिवार के सभी सदस्य मिलकर इनमें काम करते हैं—परन्तु कभी कभी आवश्यकतानुसार मजदूरी देकर मजदूर भी लगा लेते हैं। इन धंधों में बिजली की सहायता भी ली जा सकती है। कुटीर-धंधे नगरों और गांवों दोनों स्थानों में चलाए जा सकते हैं। गांवों में जो कुटीर धंधे स्थित होते हैं उन्हें केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने ग्रामीण या घरेलू उद्योग कहकर पुकारा है। इन उद्योगों में करघे से कपड़ा बुनना, रेशम बनाना, सोने व चांदी के तार बनाना, धातु के बर्तन बनाना, बीड़ी सिगरेट बनाना, चटाइयाँ बनाना, गुड़ बनाना, धान से चावल निकालना, घी दूध का काम करना, तेल पेरना, आदि, आदि सम्मिलित हैं। योजना कमीशन ने इनका अन्तर स्पष्ट करने को लिखा है कि जो छोटे छोटे धंधे गांवों में स्थित हैं उन्हें 'कुटीर धंधे' कहेंगे तथा जो नगरों में स्थित हैं उन्हें केवल छोटे उद्योग धंधे कहा जा सकता है।

हमारा कृषि प्रधान देश है। यहाँ के निवासी गरीब हैं तथा अधिकांश जनता का जीवन स्तर नीचा है। हमारे कृषकों को पूरे वर्ष भर कृषि में काम नहीं करना पड़ता। कृषि के शाही कमीशन ने लिखा है कि 'भारतीय कृषि की एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इस पर काम करने वाले कृषक को इसमें वर्ष भर काम करने की आवश्यकता नहीं होती। वर्ष में कम से कम चार महीने वह बिलकुल खाली रहता है। ऐसे खाली समय में उसको तथा उसके परिवार को कोई काम देने के लिए छोटे-मोटे कुटीर धंधों की आवश्यकता है। भारतीय बैंकिंग जाँच कमेटी का भी मत है कि 'कृषक को तथा उसके परिवार को उनके खाली समय में काम देने के लिए कुटीर-धंधे स्थापित करना बहुत आवश्यक है। इस प्रकार वह अपनी आय भी बढ़ा सकता है।' डा० राधाकमल मुकर्जी ने खोज करके पता लगाया है कि उत्तर भारत में बहुत-से ऐसे प्रदेश हैं जहाँ के कृषक वर्ष भर में लगभग २०० दिन बेकार रहते हैं। उनका कहना है कि वहाँ-वहाँ भी, जहाँ सिंचाई के अच्छे और उत्तम साधन प्राप्त हैं, इतने ही अधिक समय तक ये बेकार रहते हैं। जिस कृषक के पास कम भूमि है उसके तो सारे परिवार को भी उस पर काम करने की आवश्यकता नहीं होती। अतः उन लाखों

का ऐसा काम देने की आवश्यकता है जहाँ व काम करके अपनी आवश्यकता की वस्तुए भी बना सकें तथा अपनी आय म वृद्धि भी कर सकें।' इस प्रकार आवश्यकता यह है कि किसी भी प्रकार ऐसे कुटीर धधे स्थापित किए जाए जो कृषका को रोजगार द सके तथा उनकी आय भी बढा सकें। राष्ट्रीय योजना समिति (१६३६) का मत था कि "ग्रामीण भारत की अधिकाश जनता अपने भौतिक कल्याण क लिए अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा म नहा प्राप्त कर पाती। अत उनक लिए कुटीर धधा का स्थापित करना बहुत आवश्यक है।" और जब हम अपनी कृषि का वैज्ञानिकन करना चाहते हैं और उसमें यत्रा का प्रयोग बढाना चाहते हैं तो यह और भी आवश्यक हो जाता है कि इस प्रकार के लोग बेरोजगार होंगे, उनको काम देने क लिए छोटे घरेलू धधा को प्रोत्साहित किया जाय। ऐसी स्थिति म तो देश के आर्थिक आयोजन म *कुटीर धधा का स्थान और भी अधिक बढ जाता है।* इसी कारण योजना कमीशन ने अपनी पच वर्षीय योजना म १६ करोड़ रुपये इन धधा के विकास पर व्यय करने का निश्चय किया है। जर्मनी जापान, स्विटजरलैण्ड तथा योरप के अन्य देशा म जहाँ की जनसख्या का अधिकाश भाग छोटे तथा कुटीर धधा पर आश्रित रहता है। जर्मनी की कुल जनसख्या का २/५ भाग ऐसे ही छोटे उद्योग धधा में काम करता रहा है। वहाँ बहुत से छोटे छोटे उद्योग सरकारी सहायता से खोले गए थ। योरप के अन्य देशा म कृषक अपनी भूमि पर काम करते ही हैं, उद्योगा म भी काम करते हैं। इससे उन्हें वर्ष भर काम मिलता रहता है और व निठल्ले कभी नहा रहते। यही कारण है कि वहाँ जनसख्या का घनत्व कम है और एक वर्ग मील में २०० से ३०० तक लोग रहते हैं जबकि हमारे देश म जनसंख्या का घनत्व अधिक है और एक वर्ग मील म ५०० से ६०० व्यक्ति रहते हैं। जनसख्या के इस घनत्व को कम करने के लिए कृषको को कृषि के अतिरिक्त कोई सहायक काम धंधे देने की आवश्यकता है।

प्रश्न यह है कि यदि हम अपने देश म छोटे और कुटीर धधे स्थापित कर तो क्या व विशालकाय उद्योगा की प्रतियोगिता म टिक सकेंगे? यह ठीक है कि पिछले वर्षों म य धधे विशाल और बड़े पैमाने के कारखाना के सामने न टिक सके और इन्हें गहरी चोट लगी परन्तु आज की स्थिति पुरानी स्थिति

से बिलकुल भिन्न है। आज कुछ ऐसी बातें हैं जिनके कारण ये धंधे सफलता-पूर्वक बड़े उद्योगों का सामना कर सकेंगे। वे बातें हैं—एक, आजकल बिजली का प्रयोग बढ़ने से इन धंधों में बिजली के द्वारा मशीन चलाने में सुविधा होगा तथा इन धंधों को बाह्य तथा आन्तरिक बचतों का लाभ मिल सकेगा। दूसरे, आज प्रत्येक समाज में कुछ ऐसी वस्तुओं की माँग बढ़ती जा रही है जो वस्तुएँ सरलतापूर्वक सस्ते मूल्य पर इन धंधों में बनाई जा सकती हैं। ऐसी वस्तुएँ विशेषतः विलास की हैं जिन्हें जनता इन धंधों से खरीदने में आपत्ति भी नहीं करेगी। अतः छोटे और कुटीर-धंधों का क्षेत्र पहिले की अपेक्षा अब अधिक है। कुछ लोगों का कहना है कि बड़े पैमाने के विशाल उद्योग स्थापित करने से उत्पादन अधिक होता है इसलिए छोटे धंधों को छोड़ बड़े उद्योग ही स्थापित होने चाहिए। ऐसे लोगों को यह समझ लेना चाहिए कि हमारा विचार बड़े उद्योगों को मिटाकर छोटे धंधे स्थापित करने का नहीं है। समस्या यह है कि कृषकों तथा अन्य लोगों को जो कोई मुख्य काम करते हों परन्तु फिर भी उनके पास खाली समय हो, छोटे उद्योगों में सहायक काम दिया जाय। आज हमारे देश की समस्या केवल उत्पादन बढ़ाने की ही नहीं है वरन् देश के विशाल जन-समूह को रोजगार देने की भी है। बड़े पैमाने के उद्योग इतनी बड़ी जन-संख्या को एक साथ काम की व्यवस्था नहीं कर सकते। काम की व्यवस्था तो केवल छोटे छोटे घरेलू धंधों में हो सकती है जहाँ लोग अपने मुख्य व्यवसाय के अतिरिक्त यह काम भी करते रहें। इस प्रकार इन धंधों से हमारे देश में दो समस्याएँ सुलझती हैं। एक, लोगों को खाली समय में काम मिलता है तथा दूसरे देश का उत्पादन भी बढ़ता है। एक बात और है। इस समय बड़े पैमाने के उद्योग स्थापित करने के लिए देश के पास न तो आवश्यक पूँजी है और न संगठन ही है। ऐसी स्थिति में बड़े पैमाने के उद्योगों का ध्यान लगा कर बैठे रहने से यह कहीं अच्छा है कि छोटे उद्योगों को बनाकर दो समस्याएँ एक साथ हल की जावें। अतएव देश के आर्थिक संतुलन के लिए पुराने कुटीर-धंधों को पुनर्जीवित करना तथा नए धंधे स्थापित करना बहुत आवश्यक है। इस प्रकार देश की अतिरिक्त जनता काम पर लग जायगी तथा स्त्रियों और बालकों को भी उनकी शक्ति और योग्यतानुसार काम मिलने लगेगा। ग्रामीण

लोगों को अपनी आय बढाने के साधन मिलेंगे जिनमे वे अपना जीवन स्तर ऊँचा बना सकेंगे। हमारे गाँवो का पुनरुद्धार एक प्रकार से कुटीर धन्धों पर निर्भर है। इनमे बहुत से पढे लिखे लोगो को भी रोजगार मिलेगा तथा देश का आर्थिक ढांचा सतुलित होकर सुदृढ बन जायगा।

हमारे यहाँ कुछ ऐसी कठिनाइयाँ है जिनके कारण कुटीर धधे आवश्यक उन्नति नहीं कर पाए हैं। धधों को उन्नत बनाने के लिए पहिले इन कठिनाइयों को दूर करना होगा। सबसे बड़ी कठिनाइ यह है कि इनमे काम करनेवाले लोग अज्ञान, अशिक्षित और गरीब है। उनका दृष्टिकोण सकुचित है और वे परिस्थिति से लाभ उठाकर अपने उद्योगो का सगठन नहीं कर पाते। इसलिए यह आवश्यक है कि उन्हें उद्योग सम्बन्धी जानकारी कराई जाय। इसके लिए गाँवो मे स्थान स्थान पर ऐसे केन्द्र होने चाहिए जो देहातियों को उद्योगों का महत्व समझावे तथा तत्सम्बन्धी शिक्षा भी दें। अधिक जानकारी के लिए औद्योगिक स्कूल होने चाहिएँ जहाँ ऊंची शिक्षा देने की व्यवस्था हो। औद्योगिक कमीशन ने सिफारिश की थी कि 'जिन क्षेत्रोंमें जो उद्योग स्थापित करने हो वहाँ उन्हीं उद्योगो के प्रदर्शन केन्द्र सरकार स्थापित करके लोगो को उस उद्योग सम्बन्धी पूरी पूरी जानकारी कराये।' दूसरी, कठिनाई अबतक यह रही है कि इन उद्योगों मे काम करने वाले स्टॉक करने के लिए माल नहीं बनाते हैं वरन् उसी समय माल बनाते हैं जब उनके पास माल के आर्डर आ जाते है। माल बनाने से पहिले ये लोग आर्डर देनेवालो से या अन्य मध्यस्थो से कच्चा माल उधार लेते हैं और उन्हीं को पक्का माल बेचने का वचन दे देते हैं। इसमे न तो उन्हें कच्चा माल सस्ते दामो पर मिलता है और न पक्के माल के ही अच्छे दाम मिल पाते है। ये तो एक प्रकार से थोड़ी मजदूरी पर ही काम करते रहते हैं। सच बात तो यह है कि ये लोग ऐसा काम परिस्थितियो से विवश होकर करते रहे हैं। उनकी कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं जिनसे बाध्य होकर वे ऐसा करते हैं। ये कठिनाइयाँ निम्न हैं :—

१ पूँजी का अभाव,

२. विशाल कारखानो में बने हुए माल की प्रतियोगिता, जिससे उन्हें अपना माल बेचने मे सदा भय रहता है कि कहीं उनका माल बिना बिका न रह

जाय। यदि ऐसा हुआ तो उनकी पूँजी उस माल में बँध जाती है और वे कहीं के नहीं रहते।

३. माल की समरूपता तथा उत्तमता के विषय में वे निश्चिन्त नहीं होते और इसलिए माल सप्लाई करने के लिए वे किसी प्रकार का कोई वचन नहीं देते। इसलिए वे माल का स्टॉक भी नहीं रखते।

४. कच्चे माल का अभाव।

इनके अतिरिक्त कुटीर-धंधों की कुछ ऐसी समस्याएं हैं जिन्हें दूर किए बिना इन धंधों की उन्नति सम्भव नहीं हो सकती। यू० पी० औद्योगिक जांच कमेटी (१९३४) ने इन धंधों की निम्न समस्याएँ लिखी हैं :-

१. लाभ के साथ पर्याप्त मात्रा में कच्चे माल प्राप्त करने की कठिनाई,
२. आवश्यक मात्रा में पूंजी का अभाव,
३. बना हुआ माल बेचने की कठिनाई,
४. उत्पादन व्यय सम्बन्धी आंकड़े लगाने में उद्योगियों की अनभिज्ञता,
५. समरूप तथा उच्चकोटि का माल तैयार करने की कठिनाई,
६. उद्योगियों की अशिक्षा तथा रूढ़िवाद,
७. आधुनिक उत्तम प्रकार के औजारों का अभाव।

घरेलू धन्धों की सबसे बड़ी समस्या समय पर आवश्यक मात्रा में उत्तम कोटि का कच्चा माल प्राप्त करने की है। अधिकतर उद्योगी कच्चा माल उधार लाते हैं जिससे न तो उन्हें अच्छा माल मिलता है और न सस्ता मिलता है। कभी-कभी तो उन्हें कच्चा माल मिलता भी नहीं जिससे वे अपने धन्धे को बन्द किए बैठे रहते हैं। यहाँ यह आवश्यक है कि उद्योगियों की अपनी सहकारी समितियाँ हों जो उन्हें कच्चा माल लाकर दें। ये ही समितियाँ उनके माल को अच्छे भावों पर बेचने का प्रबन्ध करें। उत्तर-प्रदेश, मद्रास तथा बम्बई में कपड़ा बुननेवाले उद्योगियों की सहकारी समितियाँ हैं जो सदस्यों को कच्चा माल देतीं तथा उनके कपड़े को ऊंचे से ऊंचे भावों पर बेचने का प्रबन्ध करती हैं। ऐसी समितियाँ प्रत्येक औद्योगिक-क्षेत्र में होनी चाहिएं। समितियों के होने से मध्यस्थ लोग उद्योगियों का शोषण नहीं कर सकेंगे।

दूसरी समस्या है, वैज्ञानिक यंत्रों की। अब तक हमारे उद्योगी वही पुराने

और टूटे-फूटे औजारों और मशीनों का प्रयोग करते आए हैं। इससे न तो उत्पादन बढ़ता है और न उनकी आय में वृद्धि होती है। उनका माल भी उत्तम प्रकार का नहीं बन पाता कि कल कारखानों में बने हुए माल की प्रतियोगिता में बिक भी नहीं पाता। इस समस्या को सुलझाने के लिए उद्योगों के नए नए आधुनिक यन्त्र दिए जाने चाहिए। स्थान स्थान पर ऐसे केन्द्र खोले जाएँ जहाँ इन यन्त्रों का प्रदर्शन हो तथा उनका प्रयोग बतलाया जाय। सरकार इन आधुनिक यन्त्रों उद्योगियों को किस्तों पर दे और देख कि वे उनका उपयोग करते हैं या नहीं। सरकारी शिक्षक नियुक्त किए जाएँ जो इन यन्त्रों का प्रयोग उद्योगियों को सिखावें तथा यन्त्रों की टूट फूट की मरम्मत भी करें। यह काम सहकारी समितियों द्वारा भी अच्छी तरह किया जा सकता है। बिहार में इस काम के लिए समितियाँ हैं जो रेशमी कपड़ा बनानेवाले जुलाहों को मशीनों का प्रयोग दिखाने और सिखाने का प्रबन्ध करती हैं।

पूँजी का अभाव उद्योगियों की तीसरी बड़ी समस्या है। न तो इन लोगों के पास कच्चा माल खरीदने को पैसा होता है, न ये मशीन खरीद पाते हैं और न इनकी इतनी सामर्थ्य होती है कि माल बनाने के बाद अच्छे भाव का इन्तजार कर सकें। इन्हें माल तैयार करते ही बेचना पड़ता है चाहे भाव अनुकूल हों या न हों। ये लोग महाजन से या कच्चा माल बेचने वाले व्यापारी से रुपया उधार लाते हैं। यह रुपया इन्हें ऊँची ब्याज दर पर मिलता है और कभी कभी तो इन्हें अपना माल ही रुपया देनेवाले महाजन या व्यापारी के हाथ बेचना पड़ता है। न तो इन्हें बैंकों से उधार मिलता है और न सरकार का ही कोई प्रबन्ध है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी की सिफारिश है कि इस काम के लिए इनके लिए सहकारी समितियाँ होना चाहिए, जो सदस्यों को मामूली ब्याज दर पर रुपया दें। औद्योगिक कमीशन का सुझाव है कि राज्य में उद्योगों के डायरेक्टर को थोड़ी थोड़ी राशि उद्योगियों को उधार देनी चाहिए। हमारा विचार है कि बड़े-बड़े उद्योगों की भाँति इन उद्योगों को भी राज्य से सहायता मिलनी चाहिए।

छोटे उद्योगियों के पास अच्छे दामों पर अपना माल बेचने की भी सुविधाएँ नहीं हैं। जब तक इनमें काम करनेवालों को उनके माल के अच्छे दाम नहीं

मिलेंगे तब तक उनको यह काम करने में रुचि नहीं होगी। सरकार को इनका माल बिकवाने का प्रबन्ध करना चाहिए। उत्तर प्रदेश में एक एम्पोरियम खोला गया है जो कुटीर धंधों में बने हुए माल का विज्ञापन करता है तथा माल बेचने का भी प्रबन्ध करता है। ऐसी संस्थाएँ प्रान्त-प्रान्त में होनी चाहिएँ। हमारे देश की ये वस्तुएं विदेशों में बेचने का अब तक कोई प्रबन्ध नहीं था परन्तु अब विदेशों में स्थित हमारे दूतावासों में हमारी इन कलात्मक वस्तुओं के प्रदर्शन होने लगे हैं जिसमें हमारी वस्तुओं का विज्ञापन होता है और बिकने में सहायता मिलती है। बम्बई में उद्योग विभाग में एक स्थानीय उप-विभाग बनाया गया है जो कुटीर धंधों में बनी हुई वस्तुओं का विज्ञापन करता है। इस राज्य में मार्केटिंग आफीसर नियुक्त किए हुए हैं जो माल के बेचने का प्रबन्ध करते हैं। ऐसा संगठन राज्य राज्य में होना चाहिए। इस विषय में सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि सरकार इन वस्तुओं को लोक-प्रिय बनाने में सहायता करे। सरकारी विभाग इन उद्योगों में बनी हुई वस्तुओं का उपयोग करें तब जनता भी उनका उपयोग करने लगेगी। उत्तर प्रदेश की सरकार अपने प्रयोग की अधिकांश वस्तुएँ इन्हीं उद्योगों से खरीदने लगी है। इस नीति को अन्य राज्यों से भी प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

केन्द्रीय सरकार भी इन उद्योगों की प्रगति में विशेष रुचि लेने लगी है। १९४८ में अखिल भारतीय कुटीर-धंधों का बोर्ड बनाया गया था जिसका उद्देश्य देश विदेशों में कुटीर-निर्मित वस्तुओं को लोकप्रिय बनाना है। इसी बोर्ड की सिफारिश है कि विदेशों में हमारे दूतावास और व्यापार कमिश्नर हमारी इन वस्तुओं का प्रदर्शन करके विज्ञापन करें। आवश्यकता यह है कि देश में एक केन्द्रीय ट्रेनिंग संस्था भी खोला जाय जहाँ कुटीर उद्योगकर्ता को तत्सम्बन्धी शिक्षा दी जाय। इसी प्रकार राज्य राज्य में ऐसे बोर्ड होने चाहिएँ जो इन उद्योगों को प्रोत्साहन देवें तथा इनके माल को बेचने का प्रबन्ध करें। यदि इस प्रकार संगठन से काम होगा तो हमारे प्राचीन गौरव के प्रतीक घरेलू-धंधे एक बार फिर उन्नत हो सकेंगे। १९५०-५१ में केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तीय सरकारों तथा अन्य गैर सरकारी संस्थाओं को कुटीर धंधों को उन्नत बनाने के लिए ६२ लाख रुपये दिये थे। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने

विशेषज्ञों को जापान, डेन्मार्क, इंगलैण्ड आदि देशों में भी भेजा था जिससे वे वहाँ की स्थिति का अध्ययन करके देखें कि क्या वहाँ की कार्य पद्धति हमारे कुटीर-धंधों में लागू हो सकती है? अखिल भारतीय बोर्ड का गत जनवरी में पुनर्संगठन किया गया है और उसको निम्न कार्य दे दिये गए हैं—

(१) सरकार को छोटे तथा कुटीर-धंधों के संगठन एवं विकास सम्बन्धी योजनाओं पर परामर्श देना,

(२) सरकार को सुझाव देना कि छोटे तथा कुटीर-धंधों और विशाल उद्योगों में किस प्रकार सहयोग बनाया जा सकता है,

(३) कुटीर-धंधा सम्बन्धी सरकारी योजनाओं का देखना तथा उन्हें कार्यान्वित करने में सहायता देना,

(४) कुटीर धंधों में बने हुए माल को भारत तथा विदेशों में बिकवाने का प्रबन्ध करना।

आशा है भारत के नवीन औद्योगिक कलेवर में इन उद्योगों को यथा स्थान प्राप्त होगा।

१६—औद्योगिक श्रमिकों की समस्याएँ

हमारे देश में औद्योगीकरण के साथ-साथ उद्योगों में काम करनेवाले श्रमिकों की संख्या तथा उनके रहन-सहन, खान-पान, रोजगार, जीवन-मरण सम्बन्धी समस्याएँ भी बढ़ती जा रही हैं। इनकी इन समस्याओं का महत्त्व सरकार ने भी भली प्रकार पहिचान लिया है। इसका प्रमाण हमें इस बात से मिलता है कि सन् १६३० से लेकर अब तक इन समस्याओं की जाँच-पड़ताल करने के लिए दो कमीशन नियुक्त हो चुके हैं। एक कमीशन १६३० में 'व्हाइट कमीशन' के नाम से नियुक्त किया गया था और दूसरा कमीशन युद्ध काल में 'रेगे कमेटी' के नाम से नियुक्त हुआ था। इतना ही नहीं, अप्रैल १६४८ में प्रकाशित अपनी औद्योगिक नीति में सरकार ने श्रम-कल्याण की ओर विशेष रूप से संकेत करते हुए कहा था कि देश में ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे श्रमिकों को भरा-पूरा रोजगार प्राप्त सके, उनको अच्छी तथा पर्याप्त मजदूरी मिल सके तथा उनका रहन-सहन का स्तर सुधर सके। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें श्रमिकों के कल्याण के लिए अब कुछ सन्तोषजनक कार्य करने लगी हैं, फिर भी इन श्रमिकों की कुछ ऐसी समस्याएं हैं जिन्हें जानना आवश्यक है।

पहिले कारखानों में जब श्रमिकों की कमी होती थी तो गाँवों से श्रमिक लाने के लिए ठेकेदार भेजे जाते थे। अब यद्यपि अधिकांश उद्योगों में यह बात नहीं है और उन्हें श्रमिक लाने की आवश्यकता नहीं होती परन्तु फिर भी अनेक उद्योगों में यह प्रथा अब तक प्रचलित है। ऐसे उद्योगों में मजदूर लाकर भरती कराने का काम ठेकेदारों पर छोड़ दिया जाता है और यही ठेकेदार उनके काम की देख-भाल पर भी लगा दिए जाते हैं। इस प्रकार श्रमिक इन ठेकेदारों पर ही आश्रित बन जाते हैं। ये ठेकेदार श्रमिकों से उन्हें काम दिलाने के बदले में रिश्वत लेते हैं और उन्हें अनुचित से अनुचित बातों के लिए भी दबाते रहते हैं। व्हाइट कमीशन ने सिफारिश की थी कि श्रमिकों

की भरती का काम ठेकेदारों पर न छोड़ कर श्रम अफसरों को दे देना चाहिए। श्रम अफसर ही उन्हें भरती करें तथा वे ही उन्हें निकालें। इन श्रम अफसरों को राज्य की ओर से इस कार्य में शिक्षा मिलने का प्रबन्ध होना चाहिए। इसी सिफारिश के अनुसार उत्तर प्रदेश, बम्बई, बंगाल तथा अन्य राज्यों की सरकार श्रम अफसरों को शिक्षा देने की सुविधाएं देने लगी हैं। इसके अतिरिक्त श्रमिकों की भरती कराने के लिए 'काम दिलाओ दफ्तर' खोले गए हैं जो बेकार लोगों को रोजगार दिलाने का प्रबन्ध करते हैं। १९४७-४८ में कुल मिला कर ५३ 'काम दिलाओ दफ्तर' थे जिनमें ७ प्रादेशिक तथा ४६ उप-प्रादेशिक दफ्तर थे। अब इनकी संख्या बढ़ती जा रही है। परन्तु इस योजना को विस्तृत बनाने की आवश्यकता है। प्रत्येक जिले में एक 'काम दिलाओ दफ्तर' स्थापित होना चाहिए जिससे उस जिले के निवासी सरलता से वहाँ तक पहुँच सकें और उन्हें काम पाने में आसानी रहे।

श्रमिकों के सम्बन्ध में हमारे यहाँ एक समस्या यह है कि ये श्रमिक उद्योगों में स्थायी रूप से रह कर काम नहीं करते। ये लोग थोड़े दिन काम करते हैं और जब कुछ रुपया इनके पास इकट्ठा हो जाता है तो काम पर आना बन्द कर देते हैं और जब पैसा पास नहीं रहता तो फिर काम पर आने लगते हैं। शाही कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि 'भारतीय श्रमिकों के विषय में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे स्थायी रूप से काम नहीं करते। इसका कारण यह है कि ये लोग गाँवों से अपने खाली समय में उद्योगों में काम करने के लिए शहरों में चले आते हैं और जब इनकी इच्छा होती है तभी फिर गाँवों में लौट जाते हैं। इस प्रकार भारतीय श्रम स्थायी नहीं होता। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि उद्योग में कभी कभी श्रमिकों की कमी हो जाती है जिससे उत्पादन कम होने लगता है। श्रमिकों के स्थायी न रहने के अनेक कारण हैं। ये लोग अधिकांश में कृषक होते हैं अतः जैसे ही कृषि का समय आता है ये उद्योगों को छोड़कर गाँवों में लौट जाते हैं। दूसरे, इन्हें अपने गाँवों तथा अपने परिवारों का इतना मोह होता है कि थोड़े दिन उद्योगों में काम करने के पश्चात् ही इन्हें उनकी याद आती है और वे वहीं चले जाते हैं। श्रमिकों को स्थायी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें उद्योगों के आस पास रहने सहने की अच्छी

जहाँ श्रमिक अपने-अपने कामों की प्रारम्भिक शिक्षा ले सकें। इसके अतिरिक्त उन्हें अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा, मकान, आमोद-प्रमोद की सुविधाएं भी मिलनी चाहिए।

औद्योगिक श्रमिकों की एक अपनी समस्या यह है कि शहरों में उनके रहने का कोई उचित प्रबन्ध नहीं होता। उनके मकान छोटे, गन्दे और सड़े हुए होते हैं। उनमें संडास और स्नानगृहों का कोई उचित प्रबन्ध नहीं होता। कहीं रहा तो वे इतने पास पास होते हैं कि उनमें रोशनी और हवा का समुचित व्यवस्था भी नहीं होता। बड़े बड़े शहरों में तो मकान की और भी कठिन समस्या है। वहाँ जमीन की कमी होने के कारण बड़े-बड़े चॉल बना दिए जाते हैं जिनमें एक-एक में २० २० परिवार रक्खे जाते हैं। एक एक परिवार के हिस्से में एक-एक कमरा आता है। श्रमिकों की इस समस्या को दूर करने तथा उनकी कार्य कुशलता बढ़ाने के लिए में यह आवश्यक है कि उनके रहने का समुचित प्रबन्ध हो। उद्योगपतियों तथा सरकार को भी इस विषय में ध्यान देना चाहिए। अप्रैल १९४८ में अपनी औद्योगिक नीति घोषित करते समय सरकार ने १० लाख मजदूर गृह बनाने तथा इस सम्बन्ध में देख रेख करने के लिए एक स्थायी बोर्ड बनाने का निश्चय किया था। अभी तक इस विषय में कोई ठोस कार्य नहीं किया गया है। बम्बई राज्य में १९४९ में एक कानून बनाया गया था जिसके आधीन जनवरी १९४९ में एक हाउसिंग बोर्ड बनाया गया था। बम्बई राज्य की सरकार ने ५½ करोड़ रुपये की लागत से ६५०० मजदूर-गृह बनाने का निश्चय किया है। भारत सरकार ने खानों में काम करनेवाले मजदूरों की गृह समस्या सुलझाने के लिए एक कोष स्थापित किया है। श्रमिकों तथा उद्योगों के हित में इस समस्या को शीघ्र सुलझाने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, स्थानीय सरकारों तथा श्रम-संस्थाओं—सभी को काम करना चाहिए।

श्रमिकों की अपनी दूसरी समस्या सामाजिक सुरक्षा की है। श्रमिकों को दुर्घटनाओं, बेकारी, बीमारी तथा अन्य आकस्मिक जीवन-संकटों से सुरक्षित बनाने की आवश्यकता है। उनकी आय तो इतनी अधिक होती नहीं कि वह भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर उस पर निर्भर रह सके। अतः उसके भविष्य

के लिए कोई ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसके सहारे वह आगे आनेवाली कठिनाइयों को पार कर सके। पश्चिमी देशों में श्रमिकों के लिए इस प्रकार की अनेक सुविधाएँ दी जाती हैं। हमारे देश में सामाजिक सुरक्षा की उतनी अधिक व्यवस्था तो अभी नहीं हो सकी है जितनी इंगलैंड में या अन्य देशों में है, परन्तु पिछले कुछ वर्षों में इस ओर उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। श्रमिक-हर्जाना कानून बनाए गए हैं जिनके अनुसार श्रमिकों के साथ काम करते-करते कोई दुर्घटना होने पर उन्हें हर्जाना दिया जाता है। इससे श्रमिकों की एक समस्या हल हो गई है। स्वास्थ्य सुरक्षा की ओर भी सरकार ने कुछ काम किया है। अप्रैल १९४८ में एक एम्प्लोईज इन्श्योरेन्स एक्ट बना दिया गया है। इस कानून के अन्तर्गत श्रमिकों के स्वास्थ्य सुरक्षा की योजना एक कार्पोरेशन को सौंप दी गई है। इस कारपोरेशन में केन्द्रीय सरकार के श्रम मन्त्री, केन्द्रीय सरकार का स्वास्थ्य मन्त्री, उद्योगपतियों के प्रतिनिधि तथा श्रमिकों के प्रतिनिधि होते हैं। इसमें श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा के लिए एक कोष बना हुआ है जिसमें मालिकों तथा श्रमिकों द्वारा राशि जमा होती है, सरकारी सहायता भी जमा होती है तथा अन्य किन्हीं साधनों से जो राशि प्राप्त हो सके, वह भी जमा होती रहती है। केन्द्रीय सरकार ने प्रथम पाँच सालों में कारपोरेशन के संचालन व्यय का २/३ भाग देना स्वीकार किया है तथा प्रान्तीय सरकारें, श्रमिकों की चिकित्सा में जो व्यय होता है उसकी राशि जमा करती हैं। उद्योगपति और श्रमिक जो राशि जमा करते हैं वह कानून द्वारा निर्धारित कर दी गई है। श्रमिकों की राशि उनकी तनख्वाह से काट ली जाती है। राशि प्रति सप्ताह जमा करली जाती है। इस प्रकार जो कोष बना हुआ है उसमें से श्रमिकों को उनकी बीमारी के समय में, स्त्रियों को उनके जापे के दिनों में तथा श्रमिकों को उनके साथ दुर्घटना होने पर सहायता दी जाती है। श्रमिकों की मृत्यु होने पर उनके आश्रित परिवार के लोगों को भी सहायता दी जाती है। इस प्रकार इस योजना से श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा की पर्याप्त सुविधाएँ मिल गई हैं। स्त्रियों के लिए भिन्न-भिन्न राज्यों में जापे के दिनों में सहायता देने के लिए कोष बने हुए हैं। हाल ही में सरकार ने मजदूरों के लिए प्रॉविडेन्ट फण्ड योजना बनाई है। यह योजना अभी कुछ उद्योगों में ही लागू हुई है परन्तु शनैः शनैः

इसे बढ़ाकर अन्य उद्योगों में भी लागू किया जायगा।

श्रमिकों की अपनी दूसरी समस्या मजदूरी की दरों के बारे में है। एक ही प्रकार के काम के लिए एक ही केन्द्र या कारखाने में या भिन्न भिन्न कारखानों में भिन्न भिन्न वेतन की दरें होती हैं। श्रमिकों का वेतन न तो उनके रहन सहन के हिसाब से दिया जाता है और न वह उनके पारिवारिक व्यय के लिए पर्याप्त ही होता है। कहीं-कहीं तो वेतन नियमित रूप से भी नहीं दिया जाता और उनके हिसाब में कभी कभी गड़बड़ी कर दी जाती है। इसके लिए उनकी मजदूरी की निम्नतम दर बाँध देने की आवश्यकता है। इस समस्या को सरकार ने कानून बनाकर भली प्रकार सुलझाने की चेष्टा की है। मजदूरी भुगतान कानून बना दिया गया है जो २०० रु० मासिक से कम मजदूरी पानेवाले श्रमिकों पर लागू होता है। पहिले यह कानून केवल कारखानों में काम करने वाले मजदूरों में ही लागू होता था परन्तु जनवरी १९४८ से यह खानों में काम करनेवाले श्रमिकों के लिए भी लागू कर दिया है। इस कानून में वेतन समय पर दिए जाने तथा वेतन में से काटे जानेवाले जुर्माने आदि बातों की व्यवस्था की गई है। इसी प्रकार १९४८ में निम्नतम मजदूरी कानून पास किया गया है। इसके अनुसार श्रमिकों को मिलनेवाली निम्नतम मजदूरी की दरें निश्चित कर दी गई हैं। इससे श्रमिकों की वेतन सम्बन्धी समस्याएं अधिक सीमा तक हल हो गई हैं।

श्रमिकों में पर्याप्त और सुचारु संगठन न होने के कारण उन्हें अपने मालिकों से अपने अधिकारों की माँग करने में बड़ी अड़चनें रही हैं और कभी-कभी तो वर्ग-संघर्ष इतना बढ़ जाता है कि श्रमिकों को अनुचित बात के लिए भी दबा कर उनसे काम लिया जाता है। परन्तु अब यह समस्या इतनी भीषण नहीं रही है जितनी दस वर्ष पहिले थी। औद्योगीकरण के साथ साथ श्रमिकों में चेतना आती रही है और उनका संगठन भी होता जा रहा है। उनकी अपनी श्रम-संस्थाएँ हैं जो सदस्यों के हितों की रक्षा करती हैं। सरकार ने इन संस्थाओं को मान्यता देने के लिए ट्रेड-यूनियन कानून पास कर रक्खा है जिसके अनुसार इन संस्थाओं का सरकार और उद्योगपतियों के साथ सम्पर्क बना रहता है। श्रमिकों तथा उनके मालिकों के बीच में होनेवाले झगड़ों को

निपटारा करने के लिए भी सरकार ने ट्रेड डिस्प्यूट एक्ट पास किया हुआ है जिसमें इन झगड़ों को सुचारु रूप से निपटाने की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार औद्योगिक श्रमिकों की अनेक समस्याओं का समाधान करने के लिए सरकार ने प्रयत्न कर रक्खे हैं। यदि इन उपायों को सफल बनाया जा सका तो श्रमिकों की स्थिति निश्चित ही सुधर जायगी परन्तु इस कार्य में सरकार, उद्योगपति तथा श्रमिक—तीनों को ही काम करना चाहिए।

२०—भारत में पर्यटन-उद्योग का विकास

'पर्यटन उद्योग' विदेशी मुद्रा कमाने का एक ऐसा सरल साधन है जिसके द्वारा राष्ट्रीय आय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना—दोनों ही बढ़ाए जा सकते हैं। सुदूर पूर्व तथा पश्चिम के अनेक राष्ट्र नई-नई योजनाएँ बनाकर अपने अपने पर्यटन उद्योग को उन्नत बनाते रहे हैं। एशिया तथा सुदूर पूर्व के आर्थिक कमीशन ने सुझाया है कि भारत में भी इस उद्योग को उन्नत बनाकर डॉलर कमाए जा सकते हैं। कमीशन का विचार है कि भारत के प्राकृतिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दर्शनीय स्थान डॉलर कमाने में अधिक योग दे सकते हैं। वैसे तो हमारा देश विदेशी यात्रियों व दर्शकों का केन्द्र रहा है परन्तु उनका क्षेत्र और उद्देश्य केवल धार्मिक था। अब भारत के प्राकृतिक स्थानों को विदेशी दर्शकों का मनोरञ्जन-क्षेत्र बनाकर विदेशी मुद्रा कमाई जा सकती है। हिमाच्छादित हिमालय की चोटियाँ, काश्मीर की मनोहर घाटी, विभिन्न जलस्रोत व राजपूताना का सौंदर्य प्रकृति की देन है। इसी भाँति ताजमहल, विशाल दुर्ग, अजन्ता एलोरा की चित्रकारी तथा हिन्दू कालीन अन्य ऐतिहासिक स्थान विदेशियों के लिए अद्भुत चमत्कार हैं। इन्हीं सब स्थानों का भ्रमण करने के लिए यदि अमेरिका से दर्शक आने लगे तो देश के 'पर्यटन-उद्योग' से डॉलर कमाए जा सकेंगे। अमेरिका के दर्शक देशाटन-पर्यटन में ही ११,००,००,००,००० डॉलर प्रति वर्ष व्यय करते हैं। योरुप के देश इसी उद्योग से विपुल डॉलर-राशि कमाते रहे हैं। १६४८ से १६५१ तक योरुप को 'पर्यटन-उद्योग' द्वारा लगभग ३,००,००,००,००० डालर मिले। इंगलैंड ने इन्हीं तीन वर्षों में इस उद्योग द्वारा १४,००,००,००० डॉलर कमाने की योजना बनाई थी। १६४८ में इंगलैण्ड ने 'पर्यटन उद्योग' द्वारा निर्माण-उद्योग की अपेक्षा अधिक डॉलर कमाए। उस वर्ष ५,००,००० से भी अधिक विदेशी दर्शकों ने अपना अवकाश समय इंगलैण्ड में व्यतीत किया। इन 'पर्यटकों' ने लगभग ४,७०,००,००० पौण्ड इंगलैण्ड में व्यय किए जिनमें से २,१०,००,०००

पौण्ड के डालर तथा सारी के अन्य दुर्लभ मुद्रा कमाए गए। १६४६ के प्रथम ६ महीनों में २,५०,००० से भी अधिक दर्शक इंगलैण्ड में आए तथा उस वर्ष कुल मिलाकर उन्होंने ४५,००,००० पौण्ड वहाँ खर्च किए। स्विट्जरलैण्ड का तो यह प्रमुख राष्ट्रीय उद्योग है जिसके द्वारा राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग कमाया जाता है। वहाँ की सरकार विज्ञापन पर विपुल धन राशि व्यय करके विदेशी दर्शकों को अपने देश के प्राकृतिक दृश्य देखने के लिए आकर्षित करती रहती है जिससे प्रतिवर्ष असंख्य दर्शक वहाँ आकर अपना समय व्यतीत करते हैं और सरकार उनसे विदेशी मुद्रा कमाती है। कैनेडा, बेल्जियम, स्पेन, लक्जमबर्ग तथा जापान आदि देशों ने अपने-अपने 'पर्यटन उद्योग' को बढ़ाने के लिए विस्तृत योजनाएँ बनाई हैं। कैनेडा की सरकार विदेशों में अपने देश के विज्ञापन पर प्रचुर राशि व्यय करती रही है। नीदरलैण्ड, बेल्जियम तथा लक्जमबर्ग ने मिलकर संयुक्त योजना के अनुसार अपने अपने उद्योगों को बढ़ाने का काम आरम्भ कर दिया है। स्पेन में विदेशियों को ठहरने के लिए होटलों का प्रबन्ध किया गया है तथा ऐसे होटलों को धन की सहायता देने के लिए एक विशेष बैंक स्थापित किया गया है। १६४६ में स्पेन में लगभग ३,००,००० विदेशी आए जिनसे वहाँ की सरकार ने विदेशी मुद्राएं कमाई। जापान में भी विदेशी दर्शकों को आकर्षित करने के लिए नई नई योजनाएँ बनाई जा रही हैं। 'दक्षिणी अफ्रीका पर्यटन कारपोरेशन' ने विदेशी दर्शकों को नई नई सुविधाएँ देकर अपना यह उद्योग बढ़ा लिया है। हमारा पड़ौसी देश लंका भी 'पर्यटन-उद्योग' द्वारा ही ६०,००,००० रुपये के आस-पास प्रति वर्ष कमाता रहा है। १६४८ में लंका की सरकार ने २,६०,००० रुपये पर्यटन-उद्योग के विकास पर व्यय किए थे। भारत यद्यपि इस दृष्टि से एक धनी देश है परन्तु फिर भी इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। विदेशी दर्शकों को भारत आने में आकर्षित करने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि उन्हें भारत के उन आकर्षक स्थानों का बोध कराया जाय तथा दर्शनीय स्थानों के चित्र-चित्र विदेशों में प्रदर्शित किए जाएं। देश देश में 'पर्यटन-सूचना समिति' व भ्रमण-सूचना-केन्द्र स्थापित होने चाहिएँ जो इस प्रकार का विज्ञापन करें, प्रचार करें और भारत आनेवाले दर्शकों को देश के विभिन्न दर्शनीय स्थानों का पूरा पूरा

ज्ञान कर सकें। आयर्लैण्ड का 'आयर दर्शक संघ' तथा अमरीका का 'दक्षिण अमरीका दर्शक कारपोरेशन' विदेशी दर्शकों को विभिन्न प्रकार की ऐसी सुविधाएं देते हैं जिनसे भ्रमण करने में सुविधा हो व दर्शकों को यातायात-साधन, निवास गृह तथा भोजन आदि की उपयुक्त सुविधाएं प्राप्त हों। हमारे देश में भी ऐसी संस्थाएं होनी चाहिए।

भारत सरकार ने भी अब देश के 'पर्यटन उद्योग' का विकास करने की विस्तृत योजना बनाई है। काश्मीर की मनोरम घाटी के रंगीन चलचित्र तैयार कराए हैं जो विदेशों में दिखाए जाते हैं। गत वर्ष सरकार ने 'काश्मीर आओ' 'काश्मीर की सैर' आन्दोलन उठाए थे। इनसे विदेशी दर्शकों को आकर्षित करने में काफी सहायता मिली। पर्यटन सूचना पुस्तक तथा अन्य ऐसे ही तरह तरह के रंगीन इश्तिहार विदेशों में वितरित किए गए हैं जिनसे आकर्षित होकर विदेशी हमारे यहाँ आकर आनन्द उठाने लगे हैं। केन्द्रीय सरकार के यातायात विभाग ने इस उद्योग का दायित्व अपने ऊपर लेकर एक समिति बनाई है जो इसके विकास की योजनाओं पर विचार करके कार्यान्वित करती है। विदेशी दर्शकों को यातायात की विशेष सुविधाएँ दी जाने लगी हैं। पर्यटकों के लिए आयात निर्यात सम्बन्धी नियम ढीले कर दिए गए हैं। अब कोई भी विदेशी दर्शक अपने प्रयोग के लिए खुली शराब बोतल में ला सकता है। पहिले एक दर्शक बिना चुंगी चुकाए अपने निजी प्रयोग के लिए केवल एक घड़ी, एक फाउण्टेनपेन तथा एक कैमरा ला सकता था परन्तु अब प्रत्येक दर्शक दो दो वस्तुएं ला सकता है। पहिले पालम हवाई अड्डे पर आए हुए दर्शक को रजिस्ट्रेशन सर्टीफिकेट लेने के लिए १५ मील चल कर दिल्ली जाना पड़ता था परन्तु अब सुविधा देने की दृष्टि से यह रजिस्ट्रेशन सर्टीफिकेट हवाई अड्डे पर मिलने का प्रबन्ध कर दिया गया है। विदेशों में हमारे राजदूतों के पास 'पर्यटन-पत्र' रख दिए गए हैं जो विदेशों से भारत आने वाले पर्यटकों को दिए जाते हैं। इस प्रकार उन्हें भारत सरकार के पास लिखा पढ़ी करने की आवश्यकता नहीं होती। सरकार की योजना है कि देश में आए हुए दर्शकों को एक विशेष प्रकार के परिचय-पत्र दे दिये जाएँ जिनको दिखा कर दर्शकों को चुंगी की सुविधा मिले तथा उनको ठहरने के लिए आरामगृह एवं डाकबंगलों

की सुविधाएँ भी मिल सकें। अजायबघर तथा अन्य दर्शनीय स्थानों के प्रबन्धक इन पक्षों को देखकर दर्शकों को सब प्रकार की सुविधाएं दें। रेल में यात्रा करते समय विदेशी पर्यटक अपनी पसन्द का भोजन कर सकें, इसका प्रबन्ध भी कर दिया गया है। दिल्ली, आगरा, बंबई, कलकत्ता, शिमला, दार्जीलिंग, हैदराबाद, जयपुर आदि आदि प्रमुख स्थानों पर 'पर्यटन केन्द्र' खोले गए हैं जहाँ से पर्यटकों को आवश्यक सूचना और सुविधाएं मिलती हैं। सरकार दर्शकों को 'मार्गवाहक' साथ देने का भी प्रबन्ध करने लगी है। स्पेशल रेलगाड़ियों तथा मोटरों का भी दर्शकों को घुमाने का प्रबन्ध किया जा रहा है। पर्यटन-उद्योग के विकास की योजना में सरकार ने होटलों की सुविधाओं को बढ़ाने का काम भी सम्मिलित कर लिया गया है। होटलों में टेलीफोन आदि वस्तुओं की सुविधाएँ बढ़ाई जा रही हैं। होटलों का स्तर ऊंचा किया जा रहा है जिससे विदेशी दर्शकों को ठहरने में असुविधाएँ न हों। सरकार 'दर्शकवाहक' (Guides) तैयार किये जा रहे हैं जिससे वे नियम के साथ दर्शकों को सभी स्थान दिखा सकें और दर्शनीय वस्तुओं का महत्व समझा सकें। १९५०-५१ में सरकार ने विज्ञापन पर ५ लाख रुपये तथा प्रादेशिक संगठन पर २ लाख रुपये व्यय किये थे। इससे ज्ञात होता है कि सरकार 'पर्यटन उद्योग' का महत्व भली भांति समझने लगी है। यह निश्चित है कि इस उद्योग के विकास से केवल विदेशी मुद्रा ही की कमाई नहीं होगा वरन् भारत और अन्य देशों की सांस्कृतिक प्रीति दृढ़ होगी और दर्शकों द्वारा हमारे बैंकों, यातायात-कम्पनियों तथा कुटीर-धन्धों को भी प्रगति मिलेगी।

२१—उद्योगों की वित्त समस्या

सभी मानते हैं कि देश के जनसाधारण का जीवनस्तर ऊंचा करने के लिए देश का औद्योगीकरण होना चाहिए। औद्योगीकरण के बिना देश के आर्थिक कलेवर में संतुलन नहीं आ सकता। परन्तु औद्योगीकरण के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनमें से एक महत्वपूर्ण कठिनाई उद्योगों के लिए पूँजी प्राप्त करने की है। नए नए उद्योग स्थापित करने के लिए पुराने उद्योगों का पुनर्संगठन तथा पुनर्निर्माण करने के लिए तथा युद्ध एवं मंदी जैसे आर्थिक संकटों से उद्योगों को निकाल कर उन्नत बनाने के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है। बिना पूँजी के कोई भी उद्योग, छोटा हो या बड़ा, स्थापित किया ही नहीं जा सकता। उद्योगों में प्राय दो कामों के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है—एक, उद्योग स्थापित करते समय भूमि, कारखाने, मशीन, आदि स्थायी सम्पत्ति खरीदने के लिए, दूसरा, कच्चा माल खरीदने के लिए, श्रमिकों की मजदूरी चुकाने के लिए तथा दिन रात होनेवाले अन्य निश्चित और आकस्मिक खर्चों का भुगतान करने के लिए। स्थायी सम्पत्ति खरीदने के लिए जो पूँजी लगाई जाती है वह स्थायी रूप से उद्योगों में फँस जाती है इसलिए उसे ऐसे साधनों से प्राप्त किया जाता है जो स्थायी रूप से उसे उद्योगों में लगाए रहें और वापिस निकालने पर आग्रह न करें। ऐसी पूँजी सामान्यतः अंश बेचकर प्राप्त की जाती है। कच्चा माल खरीदने तथा अन्य खर्चों के लिए पूँजी स्थायी रूप से उद्योगों में नहीं फँसती वरन् जैसे ही पक्का माल बिकता जाता है इस पूँजी का भुगतान कर दिया जाता है। फिर भी उद्योगों में कच्चे माल की तो सदैव ही आवश्यकता रहती है। इसलिए थोड़ी सी पूँजी इस माल में सदैव ही घिरी रहती है। इसे भी स्थायी पूँजी ही कहना चाहिए। ऐसी पूँजी सामान्यतः ऋणपत्र बेचकर या बैंकों, व्यक्तियों एवं अन्य ऋणदाताओं से ऋण लेकर प्राप्त की जाती है। ये ऋण प्राय अल्पकालीन होते हैं और जैसे ही कच्चे माल को पक्के माल में बदल कर बेचा जाता है वैसे ही इस ऋण का भुगतान भी कर दिया जाता है।

हमारे देश में अब तक जो कुछ भी औद्योगीकरण हुआ है और जितने भी थोड़े घने उद्योग स्थापित हुए हैं उन सबके लिये पूँजी का प्रबन्ध दो साधनों से होता रहा है—(१) मैनेजिंग एजेंटस द्वारा, (२) विदेशी पूँजीपतियों या विदेशी फर्मों द्वारा। न हमारे देश में अन्य औद्योगिक देशों की भाँति औद्योगिक बैंक रहे हैं और न वित्त कारपोरेशन रहे हैं। यही नहीं, हमारे देश की बैंकों ने उद्योगों को वित्त सहायता करने में कुछ भी उल्लेखनीय योग नहीं दिया है। हमारे देशवासी भी पूँजी लगाने में सदैव भय खाते रहे हैं और न उन्हें पूँजी लगाने के काम में किसी ने समझाया ही है। हाँ, मैनेजिंग एजेंट्स के बल पर और उन्हीं की साख पर थोड़े बहुत ऋण मिलते रहे हैं। परन्तु वे भी चालू और उन्नतिशील उद्योगों के लिए न कि अवनत उद्योगों को। पूँजी के अभाव में गिरे हुए उद्योगों को तो किसी ने सहारा दिया ही नहीं है। अमरीका की भाँति हमारे यहाँ विनियोगियों की सुविधा के लिए विनियोगी-ट्रस्ट या विनियोग बैंक भी नहीं हैं। कहने का अर्थ यह है कि भारत में उद्योगों के लिए पूँजी की एक बड़ी समस्या रही है और आज भी है। इस समस्या के कारण ही हमारे यहाँ उद्योगों की आशानुकूल प्रगति नहीं हो सकी है।

पूँजी का कोई विशेष प्रबन्ध न होने के कारण हमारे उद्योग अंश बेचकर, या जनता से जमा राशि लेकर अथवा मैनेजिंग-एजेण्टस से ऋण ले लेकर काम चलाते रहे हैं। स्थायी सम्पत्ति खरीदने का काम तो अंश बेचकर ही होता है। प्रकार-प्रकार के अंश बेचे जाते हैं जिससे सभी प्रकार के विनियोगी अपनी अपनी खुशी और सुविधा के अनुसार अंश खरीद कर पूँजी का विनियोग कर सकें। परन्तु इसमें भी कुछ दोष हैं। हमारे उद्योगपति जनता के सभी वर्गों की सुविधाओं का ठीक ठीक अध्ययन न करके अंश बेचने लगते हैं जिससे कभी कभी वे विनियोगियों के अनुकूल नहीं होते और पूँजी प्राप्त नहीं हो पाती। कभी-कभी आवश्यक पूँजी का ठीक-ठीक अनुमान लगाए बिना ही अंश बेच दिए जाते हैं जिससे आगे चलकर पूँजी का अभाव होने लगता है। दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन पूँजी की आवश्यकताओं का अनुमान लगाए बिना ही काम आरम्भ कर दिया जाता है जिससे आगे पूँजी इकट्ठा करने की फिर आवश्यकता होने लगती है और पूँजी न मिलने के कारण उद्योग बन्द करने पड़ते हैं। ऋण-

पत्र बेचकर पूंजी प्राप्त करने का तो हमारे यहाँ अधिक प्रचार ही नहीं है। अहमदाबाद की ५६ मिलों में कुल पूँजी का लगभग ४ प्रतिशत भाग ऋण पत्र बेचकर प्राप्त किया गया है जबकि इङ्गलैंड के उद्योग कुल पूंजी की आवश्यकताओं का २० प्रतिशत से भी अधिक भाग ऋण पत्रों को बेचकर प्राप्त करते हैं। ऋण पत्रों का प्रचार न होने के अनेक कारण हैं जिनका यहाँ वर्णन करना उचित नहीं। जहाँ तक लोगों से जमा राशि लेकर पूंजी प्राप्त करने का प्रश्न है सो यह प्रथा देश भर में प्रचलित नहीं है। केवल बम्बई और अहमदाबाद को ओर ही जमा लेकर पूँजी का काम चलाया जाता रहा है। परन्तु इस प्रथा में एक बड़ा भारी दोष रहा है। जब तक उद्योग लाभ कमाते रहते हैं तब तक जमा करनेवाले लोग अपनी अपनी रकम उसमें जमा रखते हैं और यदि हो कभी हानि हो जाती है या अन्य कोई अव्यवस्था संकट आ जाता है तभी वे लोग अपनी अपनी जमा राशि निकालने लगते हैं जिससे उद्योगों में पूँजी की कमी हो जाती है और वे कभी कभी बन्द भी हो जाते हैं। व्यापारिक बैंकों की कुछ अपनी ऐसी कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण वे उद्योगों की सहायता नहीं कर सकते हैं। उद्योगों में प्रायः दीर्घकाल के लिए पूंजी की आवश्यकता पड़ती है परन्तु व्यापारिक बैंक अपनी रकम दीर्घकाल के लिए उधार नहीं दे सकते क्योंकि उन्हें सदैव यह भय रहता है कि न मालूम कब उनके ग्राहक अपनी जमा राशि निकालने आ जाएं। उस परिस्थिति में बैंकों को संकट का भय रहता है। हाँ, ये बैंक अल्पकाल के लिए ऋण देते रहे हैं परन्तु वह भी बहुत कम। इसका अर्थ यह है कि हमारे व्यापारिक बैंक उद्योगों को आरम्भ में सहायता नहीं कर पाते वरन् उद्योगों के चालू हो जाने पर ही थोड़ी बहुत सहायता करते हैं जो उद्योगों को पर्याप्त नहीं होती।

इन कठिन परिस्थितियों में हमारे मैनेजिंग एजेन्ट्स ही उद्योगों को जन्म देते रहे हैं और वे ही इनका लालन पालन भी करते रहे हैं। अपनी साख पर वे ऋण लेकर उद्योगों को देते हैं, अपनी साख और ख्याति पर कम्पनियों के अंश बेचते हैं, ऋणपत्र बेचते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर वे अपने पास से ऋण देकर उद्योगों की सहायता करते रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हमारा देश आज जो भी औद्योगिक प्रगति कर सका है वह है सब मैनेजिंग एजेन्टस

के परिश्रम का फल है। परन्तु अब यह साधन भी देश की औद्योगिक आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं पड़ता। भूतकाल में इन लोगों ने औद्योगिक क्षेत्र में कितना ही महान काम किया हो परन्तु आज के युग में इनकी भी कुछ सीमाएँ हो चली हैं। वर्तमान योजनाओं के अनुसार जिस गति से देश का औद्योगीकरण होना है उसके लिए पूँजी जुटाने का काम करना अब मैनेजिंग एजेन्ट्स के वश का काम नहीं है। अब यह प्रणाली प्राचीन, जटिल तथा अयोग्य सिद्ध हो चुकी है। नये-नये उद्योगों को जमाने और पुराने उद्योगों का संगठन करने का काम इनके वश का रहा नहीं है। दूसरी बात और है। ये लोग जनसाधारण में अपने प्रति विश्वास नहीं जमा सके हैं। पिछले दिनों में इन्होंने उद्योगों को अपने लाभ की कठपुतली बनाकर जिस प्रकार नचाया है और कम्पनियों के अंशधारियों पर जो शासन किया है वह कहने की बात नहीं है। निःसन्देह, इन्होंने अनेक मरते हुए उद्योगों को जीवन दिया परन्तु अनेक जीवित उद्योगों को पहले झूठा मृत बना कर अधिकार में ले लिया और यह स्वयं उसके अधिकारी बनकर उसको बड़ा किया परन्तु अंशधारियों को मृत बना दिया। यह ठीक है कि इनके पास उद्योगों के लिए पूँजी का सहारा था परन्तु पूँजी के बल पर इन्होंने उद्योगों की सेवा नहीं की वरन् उन्हें गुलाम बनाया। देश के वर्तमान और भावी औद्योगिक संगठन में मैनेजिंग एजेन्ट्स अब अधिक काम के नहीं रहे हैं। कुछ दिनों चाहे अभी इनसे और काम निकाल लिया जाय परन्तु अन्त में चल कर तो उद्योगों की वित्त समस्या का स्थायी और टिकाऊ हल निकालना ही है।

विदेशी पूँजी की बात यह है कि अब तक इसकी सहायता से भी देश के औद्योगीकरण में काफी योग मिला है। परन्तु इसके विषय में भी अब लोगों में तरह-तरह के सन्देह होने लगे हैं। विदेशी पूँजी में कुछ ऐसे दोष आ गए हैं जिनसे हमारे राजनैतिक हितों को चोट लगती रही है। परन्तु फिर भी किस मात्रा में और किस सीमा तक इसके द्वारा उद्योगों की वित्त समस्या हल हो सकती है इसका विवरण अगले पृष्ठों में किया गया है।

पिछले कुछ वर्षों में वर्तमान उद्योगों की वित्त-समस्या कुछ सुलझती-सी दीख पड़ी है। नई नई बैंकों तथा इन्श्योरेन्स कम्पनियों के स्थापन से उद्योगों को

कुछ सहायता मिली है। ये संस्थाएँ उद्योगों की वित्त समस्या में कुछ दिल चस्पी लेने रहे हैं और इन्होंने औद्योगिक कम्पनियों के अंश तथा ऋण पत्र खरीद कर और अल्पकालीन ऋण भी देकर उनकी सहायता की है। किसी किसी मामले में तो इन बैंकों ने उद्योगों की बहुत प्रशंसनीय सहायता दी है। औद्योगिक कम्पनियों तथा व्यापारिक बैंकों के सञ्चालक एक ही व्यक्ति होने के कारण उन्होंने उद्योगों को वित्त सहायता देने में काफी योग दिया है। १९४८ में 'औद्योगिक वित्त कारपोरेशन' स्थापित कर सरकार ने भी उद्योगों की वित्त समस्या कुछ सीमा तक हल करने का प्रयत्न किया है। इस कारपोरेशन की पूँजी १०० करोड़ रुपया है और अपने तीन वर्ष के जीवन में इसने अनेक उद्योगों को वित्त सहायता दी है। इसने अधिकतर दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन ऋण दिए हैं तथा यह औद्योगिक कम्पनियों के अंश तथा ऋण पत्र बेचने में भी उनकी सहायता करता है। कई राज्यों में भी 'प्रान्तीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन' बनाए जा चुके हैं जो राज्यों के उद्योगों को वित्त सहायता देते हैं। परन्तु इन सबसे भी उद्योगों की वित्त समस्या सुलझती नहीं है। भारतीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन केवल सीमित मात्रा में ही उद्योगों की सहायता कर सकता है। इसके ऋण देने की शर्तें कुछ कम सरल नहीं हैं। अब तक इसने कुल मिला कर कोई १२ करोड़ रुपया ऋण दिया है। आज जब कि हमारे देश में औद्योगिक विकास का इतना भारी काम बाकी है और अनेक योजनाएँ पूँजी के अभाव में ठप्प पड़ी हैं—इस बात की आवश्यकता है कि उद्योगों की वित्त समस्या को हल करने के और भी उपाय किए जाएँ। हमारा मतलब यह नहीं कि वित्त कारपोरेशन ने कुछ काम न किया हो या ये काम न कर सकते हों, परन्तु हमारा उद्देश्य यह है कि इनके अतिरिक्त और भी उपाय होने चाहिएँ जिससे औद्योगीकरण के काम को प्रगति मिले।

हमारे देश में उद्योगों की वर्तमान वित्त समस्या के दो मुख्य पहलू हैं—
(१) वर्तमान परिस्थितियों में उद्योगों को कितनी पूँजी की आवश्यकता है?
(२) यह आवश्यक पूँजी स्थायी रूप से किस प्रकार प्राप्त की जाय?

उद्योगों की आवश्यक पूँजी की मात्रा के विषय में भिन्न भिन्न अनुमान हैं। बम्बई योजना के प्रणेताओं ने आर्थिक विकास की समूची योजना के लिए १०,०००

करोड़ रुपये का अनुमान लगाया था जिसमें उद्योगों के लिए अनुमानतः ३०० करोड़ रुपये प्रति वर्ष की आवश्यकता आती है। राष्ट्रीय योजना समिति ने भी अपनी भूमिका में लगभग इतनी ही पूँजी का अनुमान लगाया था। हो सकता है यह अनुमान गलत हो परन्तु यह सब औद्योगीकरण के क्षेत्र और गति पर निर्भर करता है। प्रोफेसर कॉलिन क्लार्क ने अनुमान लगाया है कि देशवासियों की वास्तविक आय में २% की वृद्धि करने के लिए करीब १५०० करोड़ रुपये का विनियोग करना होगा। परन्तु इन अनुमानों से उद्योगों के लिए आवश्यक पूँजी का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। उद्योगों की आवश्यकताएं तो उनके उद्देश्य, क्षेत्र, साधन तथा गति पर निर्भर करते हैं। जैसा कि योजना कमीशन का विचार है कि "हमारे वर्तमान उद्योगों के लिए पूँजी की जो वर्तमान आवश्यकता है वह अधिकांशतः पुराने उद्योगों का पुनर्संगठन तथा पुनर्निर्माण करने के लिए है न कि नए-नए उद्योगों को एक साथ ही बढ़ाने के लिए।" कमीशन का अनुमान है कि पंचवर्षीय योजना में उद्योगों के जो लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं उनको प्राप्त करने के लिए उद्योगों के विकास में लगभग ३२५ करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी जिसमें से सरकार २५ करोड़ रुपया देगी, ६० करोड़ रुपया उद्योग स्वयं जुटायेंगे तथा शेष राशि औद्योगिक वित्त कारपोरेशन से लेकर पूरी की जायगी। यह तो हुआ कमीशन का अस्थायी विचार केवल पाँच वर्ष तक के लिए। स्थायी रूप से यह समस्या कैसे हल हो? इसके लिए दो साधन सम्भव हैं—(१) विदेशी पूँजी लेकर, (२) देश में ही पूँजी निर्माण करके।

विदेशी पूँजी लेकर उद्योगों की वित्त समस्या सुलझाना कोई बुरी बात नहीं है। पिछली शताब्दी में जर्मनी, फ्रान्स, जापान तथा अन्य उद्योग प्रधान देशों ने विदेशों से ऋण लेकर काम चलाया था। हमारे यहाँ भी अब तक विदेशी पूँजी का काफी स्थान रहा है। रेल मार्ग, नदी-घाटी-योजनाएं, खानें, बैंक, इन्श्योरेन्स कम्पनियाँ तथा बड़े बड़े प्रमुख उद्योग विदेशी पूँजी के कारण ही इतनी प्रगति कर सके हैं। अब आगे भी इसके द्वारा समस्या हल की जा सकती है। योजना कमीशन का मत है कि देश का औद्योगीकरण में हमें विदेशी पूँजी का स्वागत करने में कोई हानि नहीं क्योंकि इसके द्वारा हमें अपने

उद्योगों को पूँजीगत माल तथा विशेषज्ञ मिल सकेंगे जिनकी हमें इतनी आवश्यकता है। परन्तु क्या हम अब विदेशी पूँजी प्राप्त कर सकते हैं? विदेशी पूँजी लेने से पहिले हमें यह देख लेना चाहिए कि उसके साथ 'विदेशी पूँजीपति' या 'विदेशी राजनैतिक सत्ता' हमारे देश में न आने पावे। हम 'विदेशी पूँजी' लावें न कि 'विदेशी पूँजीवाद'। जैसाकि डाक्टर राव ने कहा है हमें विदेशी पूँजी को "राजनैतिक डोरी" से बाँध कर नहीं लाना चाहिए। विदेशी पूँजीपतियों को यहाँ पूँजी लगाने की सुविधाएं दी जाएँ परन्तु कोई राजनैतिक सत्ता उनको न सौंपी जाय। सरकार ने अप्रैल १६४६ में विदेशी पूँजी सम्बन्धी अपनी नीति में जो शर्तें रक्खी हैं उन्हीं पर विदेशी पूँजी को लाया जाय। ये शर्तें निम्न हैं—

१ सरकार की सामान्य औद्योगिक नीति के अन्तर्गत भारतीय और विदेशी पूँजी में कोई अन्तर नहीं समझा जायगा।

२ विदेशी पूँजी पर जो लाभ होगा उसे तथा पूँजी को वापिस ले जाने के लिए विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यक सुविधाएँ दी जाएँगी। विदेशी पूँजी को लौटा कर ले जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा।

३ यदि राष्ट्रीयकरण किया जायगा तो पूँजीपतियों को आवश्यक हर्जाना दिया जायगा।

इन शर्तों पर यदि विदेशी पूँजी आवे तो हम उसका स्वागत करना चाहिए। विदेशी पूँजी प्राप्त करने के निम्न साधन हैं—

१ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष।

२ विश्व बैंक।

३ अमरीका तथा इगलैण्ड व अन्य देशों के पूँजीपति।

४ विदेशी सरकारें।

इन साधनों से हमारे देश में पूँजी आई है और आती रही है, परन्तु क्या इन साधनों से स्थायी रूप से हमारे उद्योगों की वित्त समस्या हल हो सकेगी? यह ठीक है कि इनसे हमारी वर्तमान आवश्यकताएँ विशेषतः पूँजीगत माल की तथा विशेषज्ञों की आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाएँगी। परन्तु जैसा कि डा० राव ने कहा है "स्थायी रूप से ये साधन हमारे लिए उपयोगी नहीं हो सकते।"

हमें अपने देश में भी पूँजी निर्माण का काम करना चाहिए। जनता के दिल में से भय निकाल कर उन्हें उद्योगों में राशि विनियोग करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। उद्योगों की आन्तरिक वित्त आवश्यकताओं के लिए हमारे देश में काफी पूँजी उपलब्ध है, कठिनाई केवल उसे काम में लाने के लिए निकलवाने की है। औद्योगिक कमीशन ने ठीक कहा था "कि भारत में उद्योगों की वित्त समस्या देश में धन के अभाव के कारण नहीं है और न भय के *कारण है वरन् औद्योगिक अकुशलता तथा पूँजी निर्माण के साधनों की कमी के* कारण है। इसके लिए देश में औद्योगिक बैंक बनाए जाएँ व विनियोग ट्रस्ट तथा विनियोग-बैंक स्थापित किए जाएँ। वित्त कारपोरेशन प्रत्येक राज्य में होने चाहिएँ। सरकार छोटी बचत योजना बनाकर लोगों को बचत करना सिखाये [पूँजी निर्माण की योजना पर विस्तृत लेख आगे पढ़िए।] तब उद्योगों की वित्त समस्या अपने ही देश की पूँजी से हल हो सकेगी। यही समस्या का सच्चा हल होगा।

२२—पंचवर्षीय योजना में उद्योगों का स्थान

गत बीस वर्षों में भारत ने औद्योगिक क्षेत्र में काफी उन्नति की है। आवश्यकता की अनेक उपभोग्य वस्तुएं अब हमारे देश में ही बनाई जाने लगी हैं जिनमें कपड़ा, चीनी, नमक, साबुन, कागज तथा चमड़े का सामान मुख्य हैं। इस्पात, सीमेंट तथा रासायनिक वस्तुएं बनाने में भी हमारे उद्योगों ने सन्तोषजनक प्रगति दिखाई है। युद्ध काल में तथा युद्ध के पश्चात् अनेक नए नए उद्योग स्थापित हुए और अब हमारे देश में रेडियो, साइकिल, बिजली के पंखे, मोटर, रेल के इंजन आदि, आदि, सामान बनने लगा है परन्तु फिर भी बात यह है कि उपभोग्य वस्तुओं के कारखानों में तो चाहे हम काफी आगे हों किन्तु पूँजी गत माल बनाने में अभी हमारे यहाँ काफी क्षेत्र है। पिछले कुछ दिनों से तो औद्योगिक उत्पादन में काफी कमी होती जा रही है। कुछ उद्योगों में पहिले की अपेक्षा २० से ३० प्रतिशत तक उत्पादन गिर गया है। यदि सच पूछा जाय तो इसके कारण हैं—युद्धकाल में मशीनों की घिसावट तथा नई मशीनों के लाने की कठिनाइयाँ, श्रमिकों तथा उद्योगपतियों के बीच पारस्परिक संघर्ष तथा प्रबन्ध सम्बन्धी कठिनाइयाँ। योजना कमीशन ने औद्योगिक उन्नति के दृष्टिकोण से इन दोषों को दूर करने का सुझाव दिया है। योजना के अन्तर्गत कृषि और सिंचाई को प्रमुख स्थान मिलने के कारण योजना कमीशन का उद्देश्य यह रहा है कि ऐसे उद्योग पहिले स्थापित किए जाएं जो सिंचाई योजनाओं तथा कृषि को सफल बनाने में सहायक हों। इसके बाद योजना कमीशन ने उन उद्योगों को उन्नत बनाने का सुझाव दिया है जो उपभोग्य वस्तुएं बनाते हैं। योजना में औद्योगिक विकास का निम्न क्रम निर्धारित किया गया है —

१. सबसे पहिले कृषि-विकास तथा सिंचाई और पन बिजली की योजनाओं को सफल बनाने के लिए जो उद्योग आवश्यक हों, उन्हीं का विकास किया जाय।

२. इसके बाद उपभोग्य वस्तुएं बनानेवाले उद्योगों की वर्तमान कार्यक्षमता के अनुसार उपभोग्य वस्तुओं के लक्ष्य निर्धारित करके उन्हें पूरा करने का प्रयत्न किया जाय।

३. इसके पश्चात् इस्पात, सोडा, भारी रासायनिक पदार्थों आदि वस्तुओं को बनानेवाले उद्योगों का विकास किया जाय।

४. अन्त में, देश के वर्तमान औद्योगिक कलेवर में जो दोष हों उन्हें दूर किया जाय।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए योजना कमीशन ने उद्योगों को तीन भागों में बाँट दिया है, जो इस प्रकार हैं :—

१. *सुरक्षा उद्योग जिन में युद्ध सम्बन्धी वस्तुएँ जैसे हथियार, बारूद आदि अन्य सैनिक आवश्यकता की वस्तुएं बनाई जाएं।*

२. 'उत्पादक-वस्तुओं के उद्योग' जिनमें इस्पात, सीमेंट, एल्युमिनियम का सामान, भारी रासायनिक वस्तुएँ आदि पूँजीगत माल बनाया जाय।

३. *उपभोग्य-वस्तुओं के उद्योग, जिनमें जनसाधारण की उपभोग्य वस्तुएं बनाई जाएं।*

चूँकि योजना में कृषि और सिंचाई की उन्नति के लिए अधिक महत्व दिया गया है इसलिए सरकार के अधिकांश साधन इन्हीं कार्यों की पूर्ति में लगाए जाएंगे। इसलिए उद्योगों के लिए भी अधिक धन राशि का विनियोग सम्भव नहीं हो सकेगा। कमीशन के प्रस्तावों के अनुसार केवल वे ही योजनाएं पूरी की जाएंगी जो सरकार ने आरम्भ कर रखी हैं। नए क्षेत्र में केवल वे ही

उद्योग बनाए जाएँगे जो वर्तमान में देश की आर्थिक उन्नति के लिए अनिवार्य हो। योजना के अनुसार निम्न राशि औद्योगिक विकास पर व्यय की जायगी।

	(करोड़ रुपयों में)	
	दो वर्षों में मिलाकर (१९५१-५२)	पाँच वर्षों में मिलाकर (१९५१-५६)
बड़े पैमाने के उद्योगों में	३८·१	७९·५
छोटे तथा कुटीर-उद्योगों में	४·८	१९·८
औद्योगिक एवं वैज्ञानिक शोध में	२·४	४·६
खनिज विकास पर	०·३	१·१
योग	४५·६	१०१·०

पंचवर्षीय योजना में न तो केवल व्यक्तिवाद पर ही जोर दिया गया है और न केवल राष्ट्रीयकरण पर ही। वरन् दोनों प्रणालियों के आधार पर औद्योगिक विकास करने के सुझाव दिए गए हैं। कमीशन का मत है कि "राष्ट्रीय आयोजन की किसी भी योजना में औद्योगिक विकास के लिए व्यक्तिवाद के आधार पर चलाये गए उद्योगों की नितान्त आवश्यकता है। परन्तु इस प्रकार जो उद्योग चलाए जाए उनके मालिकों को उपभोक्ता, विनियोगी तथा श्रमिक के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए राष्ट्रीय हित में काम करना चाहिए।" इसके लिए योजना कमीशन का सुझाव है कि उद्योगपतियों, श्रमिकों तथा साहसी औद्योगिकों को अपने अपने दृष्टिकोणों में आवश्यक परिवर्तन कर लेने चाहिए। कमीशन ने व्यक्तिवादी उद्योगों में उद्योगपतियों से मिल कर निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित कर दिए हैं जिनके अनुसार योजना पूर्ण होने पर उत्पादन बढ़ाने का अनुमान है—यह निश्चित नहीं है कि इन लक्ष्यों को पूरा किया ही जा सकेगा परन्तु फिर भी अनुमान लगा कर व्यय बना लिया गया है जिसके अनुसार व्यक्तिवादी उद्योगों में उत्पादन बढ़ाया जा सके।

या नहीं और व्यक्तिवादी उद्योग ठीक प्रकार से काम कर रहे हैं या नहीं, कमीशन ने औद्योगिक विकास-नियन्त्रण-एक्ट बनाने का सुझाव दिया था जो अब पास हो चुका है। इस कानून में निम्न बातों की विशेष रूप से व्यवस्था की गई है —

१ सरकार की स्वीकृति के बिना कोई भी नया उद्योग स्थापित न किया जा सकेगा और न पुराने उद्योग का विकास ही किया जा सकेगा। इस प्रकार की स्वीकृति देते समय सरकार उस उद्योग की स्थिति आदि के बारे में कुछ शर्तें रख सकती है।

२ यदि किसी उद्योग में उत्पादन गिर रहा हो या माल नीची कोटि का बनाया जाने लगा हो, अथवा कोई उद्योग अंशधारियों के हित के विरुद्ध काम करने लगा हो तो सरकार उस उद्योग की जाँच पड़ताल कर सकती है।

३ *यदि कोई उद्योग सरकार की दी हुई हिदायतों को पूरा न करे तो उसे* सरकार अपने प्रबन्ध में ले सकती है।

औद्योगिक विकास की जाँच-पड़ताल करने तथा उद्योग की प्रगति का निरीक्षण करने के लिए कमीशन ने एक केन्द्रीय औद्योगिक बोर्ड बनाने का सुझाव दिया था। यह बोर्ड १९४९ के औद्योगिक विकास नियन्त्रण कानून के अन्तर्गत बना दिया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक उद्योग के लिए 'विकास कौंसिल' बनाने की योजना है। 'विकास कौंसिलों' में सरकार, उद्योगों तथा श्रमिकों के प्रतिनिधि रहेंगे। ये कौंसिलें उद्योगों की प्रगति में सहायता देंगी तथा केन्द्रीय बोर्ड तथा उद्योगों में ताल मेल बनाये रक्खेंगी।

योजना में छोटे तथा कुटीर धंधों को भी आवश्यक स्थान दिया गया है। कमीशन ने सुझाव दिया है कि केन्द्रीय सरकार का वाणिज्य तथा उद्योग *विभाग कुटीर धंधों की जाँच-पड़ताल करके एक विस्तृत योजना बनावें।* योजना में ऐसे उद्योगों के विकास के लिए सहकारी समितियों पर जोर दिया गया है। कमीशन का मत है कि ये समितियाँ छोटे-उद्योगियों को कच्चे माल का प्रबन्ध करें, उन्हें आवश्यक राशि दिलाने का प्रबन्ध करें तथा उनके माल को बिकवाने में भी सहायता करें। कमीशन ने स्पष्ट कहा है कि "सरकारों को इन उद्योगों के विकास में उतना ही काम करना चाहिए जितना वे कृषि

२३—देश की खनिज-सम्पत्ति का विदोहन

सैन्य, सुरक्षा एवं उद्योग और यातायात की दृष्टि से किसी भी राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था में खनिज पदार्थों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। आधुनिक पद्धति पर सेनाओं को सुसज्जित करने, सुरक्षा एवं युद्ध-सचालन के लिए विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थों की आवश्यकता होती है। यदि सच पूछा जाय तो सुरक्षा-संगठन की सफलता बहुत सीमा तक खनिज सम्पत्ति पर ही निर्भर होता है। लोहा, कोयला और तैल सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगों के प्राण मात्र हैं—यह बात गत महायुद्ध ने पूर्ण रूप से सिद्ध कर दिखाई है। औद्योगिक क्षेत्र में भी खनिज पदार्थों का मुख्य स्थान है। लोहे, कोयले एवं भारी भारी रसायनिक पदार्थों पर देश का समूचा औद्योगिक कलेवर निर्भर करता है। विशेषकर देश के आधारभूत धंधे तो इन वस्तुओं के बिना असम्भव ही हैं। पूँजीगत माल बनानेवाले उद्योगों का प्रारम्भ लोहे और कोयले के बिना हो ही नहीं सकता। हमारे देश में उद्योग एवं सुरक्षा के भविष्य के दृष्टिकोण से खनिज सम्पत्ति का सुव्यवस्थित उपयोग एवं नवीन साधनों की जाँच पड़ताल तथा विकास बहुत आवश्यक है। देश के औद्योगीकरण के लिए पूँजीगत माल के लिए हमें विदेशों पर आश्रित रहना पड़ता है। यदि हमारे देश के खनिज पदार्थ एवं धातुओं का विकास हो जाय तो हम विदेशियों का मुँह नहीं ताकना पड़ेगा।

भारत सरकार के निर्माण, खान तथा विद्युत विभाग ने जनवरी १६४७ में खनिज-नीति सम्मेलन के समय देश की खनिज सम्पत्ति का एक अनुमान पत्र तैयार किया था। इस अनुमान पत्र में बताया गया था कि भारत के विस्तार तथा उसकी जनसंख्या को देखते हुए यह कहना ठीक नहीं है कि देश के खनिज साधन बहुत अधिक हैं, जैसा कि बहुत से लोग समझते हैं। परन्तु तो भी जो कुछ खनिज सम्पत्ति हमारे देश में है उसका संगठित रूप में पूरा

होती रही है। खनिज-सम्पत्ति का विदोहन कभी संगठित रूप से किया ही नहीं गया। सरकार की हस्तक्षेप न करने की नीति के बड़े भयंकर परिणाम हुए हैं। खनिज निकालने का काम मुख्यतः विदेशी पूँजीपतियों के हाथ में रहा, जो देश के पेट्रोल, सोना और तांबे की खानों के स्वामी बने रहे और कोयला, क्रोमियम एवं मैगनीज की खानें भी उन्हीं के नियन्त्रण में रहीं। केवल लाभ कमाने के लिए खानों का शोषण होता रहा। उनकी खुदाई के ढंग ऐसे अवैज्ञानिक हैं कि उनके कारण बहुत सी खनिज सम्पत्ति नष्ट होती है। इतना ही नहीं, देश की सम्पत्ति बढ़ाने की दृष्टि से खानों का विदोहन नहीं किया गया। खान मालिकों को भरपूर स्वतन्त्रता मिलने के कारण अब तक उनका ध्यान खानजों के निर्यात की ओर ही रहा। जो पदार्थ विदेशों में गए, वे अपरिष्कृत रूप में बड़ी नीची दरों पर भेजे गए। इन वस्तुओं का विदोहन यदि देश के हित में होता और देश में ही इनसे पक्का माल तैयार किया गया होता तो देश में न केवल रोजगार ही बढ़ता वरन् राष्ट्रीय आय में भी बहुत वृद्धि होती। खानों पर सरकार का जो कुछ भी नियन्त्रण रहा वह प्रधानतः प्रान्तीय सरकारों का रहा केन्द्रीय सरकार का नहीं। प्रान्तीय सरकारों ने कोई दीर्घकालीन दृष्टिकोण से काम नहीं लिया और खानों के लाइसेंस देने का काम अधिकतर लगान-वसूल करने वाले महकमों को दे दिया जाता रहा। खनिज पदार्थों एवं धातुओं की न वैज्ञानिक रीति से जाँच-पड़ताल हुई न शोध हुई और न सदुपयोग ही हुआ। अब तक अशुद्ध खनिज-पदार्थों का निर्यात ही होता रहा। फलतः करोड़ो रुपयों की वार्षिक हानि के अतिरिक्त देश में खनिज-सम्पत्ति का विकास नहीं हो पाया और न निर्यात के बदले में सैन्य एवं औद्योगिक दृष्टि से आवश्यक खनिज-पदार्थ एवं धातु विदेशों से मँगाए जा सके। खान अधिकार सम्बन्धी कानूनों में भी समता नहीं रही।

पिछले दो-तीन वर्षों से सरकार ने इस ओर ध्यान दिया है और खनिज-सम्पत्ति का विदोहन करने के लिए निम्न कार्य किये हैं :—

(१) सरकारी खनिज नीति बनाई है।

(२) खनिज-सम्पत्ति की खोज एवं विकास के लिए 'ज्योलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया' नामक संस्था का विकास किया है।

(५) देश के खनिज-पदार्थों को सुरक्षित बनाए रखने तथा उनका संगठित रूप से विकास करने के लिए 'ब्यूरो ऑफ माइन्स' नामक संस्था बनाई है।

अब तक कुछ लोगों की यह धारणा रही है कि औद्योगीकरण के लिए हमारे देश में सभी खनिज-पदार्थ पर्याप्त मात्रा में हैं परन्तु यह बात बिलकुल ठीक नहीं है। उपयोगिता की दृष्टि से हमारे देश की खनिज-सम्पत्ति में कुछ ऐसे दोष हैं जिन्हें दूर करने की आवश्यकता है। इसके लिए खनिजों का पता लगाना होगा, उनकी मात्रा का ठीक-ठीक अनुमान लगाना होगा तथा उनकी शोध, जाँच पड़ताल और संगठन करना होगा। इन कामों को पूरा करने के लिए आजकल हमारे यहाँ निम्न संस्थाएँ काम कर रही हैं —

१. ज्योलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया।
२. इण्डियन ब्यूरो ऑफ माइन्स।
३. नेशनल फ्यूयल रिसर्च इन्स्टीट्यूट।
४. नेशनल मैटलर्जिकल लैबोरेटरी।
५. सेन्ट्रल ग्लास एण्ड सिरेमिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट।

देश की खनिज सम्पत्ति का संगठित रूप से विदोहन करने के उद्देश्य से योजना कमीशन ने नीचे लिखे हुए सुझाव दिए हैं —

देश की खनिज सम्पत्ति का पूरा पूरा सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि संगठित रूप से खनिज पदार्थों की जाँच-पड़ताल करके विस्तृत नक़्शे तैयार किए जाएँ। आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण खनिजों की चाहे वे सुरक्षा के लिए उपयोगी हों चाहे निर्यात किये जाते हों और चाहे अपने देश में प्रयोग किए जाते हों, सबकी विस्तृत जाँच पड़ताल कराई जाय।

खानों में से वस्तुएँ निकालने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग किया जाय तथा इस काम के लिए विशेषज्ञ नियुक्त किए जाएँ। सरकार भी इस काम में योग देने के लिए विशेषज्ञ नियुक्त करे जो खानों में जा-जाकर देखें कि उनमें वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग हो रहा है या नहीं। ये विशेषज्ञ खानों में काम करनेवाले लोगों को नए तरीकों से परिचित करें और देखें कि खनिज सम्पत्ति नष्ट तो नहीं हो रही है। कमीशन का मत है कि यदि ऐसा किया गया तो

खनिज सम्पत्ति की रक्षा होगी, निदोहन होगा तथा सदुपयोग भी होगा। किसी भी प्रकार की खानों के अधिकार देने के लिए लाइसेंस देने से पहिले 'माइन्स एण्ड मिनरल्स एक्ट १९४८' के नियमों के अनुसार केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति लेना आवश्यक होना चाहिए। दूसरे, किसी एक व्यक्ति को खानों का पट्टा नहीं देना चाहिए वरन देने से पहिले यह देख लेना चाहिए कि पट्टा लेनेवाला खानों का निदोहन करने के साधन और शक्ति रखता है या नहीं। पट्टा अधिकतर बड़ी बड़ी कम्पनियों को ही देना चाहिए।

खनिज उद्योगों के वास्तविक और सच्चे आँकड़े इकट्ठे होने चाहिएँ। खनिज पदार्थों के निर्यात सम्बन्धी आँकड़े भी प्राप्त करने चाहिएँ। यह काम 'ब्यूरो ऑफ माइन्स' को सौंप देना चाहिए। कमीशन का मत है कि इस प्रकार के आँकड़े होने से खनिज सम्पत्ति के निदोहन सम्बन्धी आयोजन में सरलता रहेगी।

अभरक, मैंगनीज तथा क्रोमाइट आदि वस्तुएँ, जो अत्यन्त अशुद्ध रूप में निर्यात होती रही हैं—शुद्ध करके निर्यात की जाएँ और यदि सम्भव हो सके तो उनका पक्का माल या अर्द्ध पक्का माल बनाकर निर्यात किया जाय।

खानों की सुरक्षा तथा खनिज पदार्थों के उपयोग सम्बन्धी अन्वेषण और शोध की जाएँ। अशुद्ध तथा निम्न कोटि के खनिज-पदार्थों को शुद्ध बनाने में वैज्ञानिक रीति का प्रयोग किया जाय। योजना कमीशन ने अपनी पंचवर्षीय योजना में खनिज-सम्पत्ति के विकास के लिए लगभग १ करोड़ रुपया व्यय करना निश्चित किया है।

जैसा कि पहिले बताया जा चुका है खानों का अधिकार अब तक विदेशी पूँजीपतियों या व्यक्तिवादी भारतीय कम्पनियों के हाथ में रहा है। इससे अनेक दुष्परिणाम हुए हैं। इन दोषों को दूर करने के लिए एक उपाय यह हो सकता है कि देश के खनिज और धातु-साधनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय। देश की आर्थिक उन्नति के लिए तैयार की गई विभिन्न सरकारी तथा गैर सरकारी योजनाओं में खानों के राष्ट्रीयकरण पर जोर दिया गया है। राष्ट्रीय योजना समिति की खनिज एवं धातु-शोधन उपसमिति ने अपने एक प्रस्ताव में स्पष्ट किया था कि "देश की खनिज-सम्पत्ति सामूहिक रूप से राष्ट्र की

सम्पत्ति है। खानों की खुदाई और खनिज सम्बन्धी उद्योग सरकार के हाथ में रहने चाहिएं।" जनवरी १९४७ में आयोजित खनिज नीति सम्मेलन ने, जिसमें खनिज-उद्योगों, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों तथा खानों में काम करनेवाले मजदूरों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, खानों के राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था। परन्तु जिन कारणों से अभी-अभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण सम्भव नहीं वे ही कारण खानों के राष्ट्रीयकरण में बाधक हैं। तभी तो उक्त सम्मेलन के अध्यक्ष श्री भाभा ने अपने भाषण में कहा था कि "सरकार की खनिजोन्नति में बढ़ती हुई दिलचस्पी का यह अर्थ नहीं है कि सरकार खनिजोत्पादन और धातु शोधन उद्योगों पर तुरन्त ही सरकारी स्वामित्व स्थापित करले। खनिजोत्पादन के उद्योगों में हमें मजबूर होकर बहुत बड़े क्षेत्र में व्यक्तिगत पूँजी को अवसर देना होगा, यद्यपि उस पर कुछ सरकारी नियंत्रण अवश्य रहेगा।" श्री भाभा ने आगे चलकर यह भी कहा कि "आगामी कई वर्षों तक सरकार को सुव्यवस्थित खानोन्नति के लिए आवश्यक कानूनी एवं व्यवस्था सम्बन्धी सुविधाएं देने में ही सन्तोष करना चाहिए।" राष्ट्रीयकरण में कई आर्थिक, वैज्ञानिक एवं व्यवस्था सम्बन्धी ऐसी कठिनाइयाँ हैं जिन्हें सरकार वर्तमान परिस्थितियों में हल नहीं कर सकेगी। हाँ, दस साल के पश्चात, जैसाकि सरकार का विचार है, इस पहलू पर विचार किया जा सकता है। इस समय तो हमें अपनी खनिज-सम्पत्ति का विदोहन करके संगठित बनाना है। यह काम सरकारी नियंत्रण में व्यक्तिवाद के सिद्धान्त पर हो सकता है। यदि हमारी खनिज-सम्पत्ति का यथोचित विदोहन हुआ तो देश के औद्योगीकरण में काफी सहायता मिलेगी।

२४—हमारी बैंकिंग-व्यवस्था—कुछ दोष

पाश्चात्य देशों की भाँति हमारे देश की बैंकिंग व्यवस्था सगठित, पूर्ण और पर्याप्त नहीं है। लम्बे चौड़े देश, विशाल जन-समूह तथा असीम व्यापार को देखते हुए हमारे देश में बैंकों की सख्या बहुत कम है। अन्य देशों की तुलना में हमारे यहाँ बैंकों का विकास बहुत कम हुआ है। स्थिति इस प्रकार है :—

देश	वर्गमील क्षेत्रफल (हजारों में)	जनसख्या (०००,०००)	बैंक कार्यालयों की सख्या	प्रति दस लाख व्यक्तियों में बैंकों की संख्या
इंगलैंड	८६	५०	११४६१	२-६
अमरीका	३६७४	१४७	१८६७५	१२६
कनेडा	३६६०	१२	३३२३	२५६
आस्ट्रेलिया	२६७५	८	३५६०	४५०
भारत	१२२०	२३७	५५५८	१६

इन आँकड़ों के अनुसार हमारे देश में प्रति दस लाख व्यक्तियों में १६ बैंक कार्यालय हैं अर्थात् ६२५०० व्यक्तियों के बीच में एक बैंक कार्यालय है।

बैंकिंग सम्बन्धी लेन देन अनेक सस्थाएँ करती हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :—

(१) सरकारी कार्यालय तथा उप-कार्यालय,

(२) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया,

(३) इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया,

(४) व्यापारिक बैंक,

(५) सहकारी बैंक तथा साख समितियाँ,

(६) डाकखाने की बचत बैंक,

(७) महाजन तथा स्वदेशी बैंकर।

सरकारी कोषागारों में सरकारी लेन-देन होता है तथा सरकारी रकम जमा रहती है। इसके सिवाय ये कोषागार जनता से राशि जमा करने या उन्हें राशि उधार देने का कोई काम नहीं करते। ये कोषागार प्रायः जिला नगरों में ही स्थित हैं जिससे सरकारी लेन-देन में जनता को आने-जाने में असुविधा रहती है। रिजर्व बैंक सरकारी केन्द्रीय बैंक है जो देश में मुद्रा और साख व्यवस्था की देख भाल करता है। अन्य बैंकों से राशि जमा करना तथा उन्हें उधार देने का काम भी इसके हाथ में है। यह बैंक एक प्रकार से देश की बैंकिंग व्यवस्था की चौकसी करता है। परन्तु अभी तक यह बैंक देश की मुद्रामण्डी को संगठित करके बिलमण्डी को उन्नत नहीं बना सका है। यद्यपि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों पर नियन्त्रण रखता है परन्तु महाजनों तथा स्वदेशी बैंकरों पर इसका कोई प्रबन्ध-नियन्त्रण या चौकसी नहीं है। इम्पीरियल बैंक एक आधुनिक व्यापारिक बैंक है। रिजर्व बैंक का एजेण्ट होने के कारण यह अर्ध सरकारी बैंक माना जाता है। यद्यपि इस बैंक ने देश में अनेक शाखाएँ खोलकर बैंकिंग-व्यवस्था को विकसित बनाया है परन्तु इस अवस्था में यह देश की अन्य व्यापारिक बैंकों का बड़ा प्रतिस्पर्धी बन बैठा है। व्यापारिक बैंक दो प्रकार के हैं (१) तालिका बद्ध बैंक, (२) अतालिका बद्ध बैंक। देश में इन बैंकों का काम बड़ा अव्यवस्थित है। कहीं-कहीं तो बहुत सी बैंक स्थापित हो गई हैं और किसी किसी स्थान पर बैंकों का नाम भी नहीं है। मद्रास तथा पश्चिमी बंगाल में बैंकों की सबसे अधिक संख्या है—मद्रास में ११२४ तथा बंगाल में ७२० बैंक-कार्यालय हैं। किसी-किसी राज्य में तो बैंकों के बहुत ही कम कार्यालय हैं। कुल देश में बैंकों की संख्या बहुत कम है। १९४७ के अन्त में इम्पीरियल बैंक तथा विनिमय-बैंकों को मिलाकर देश में कुल ४४८२ बैंक-कार्यालय थे। विभाजन के पश्चात् तो संख्या और भी कम हो गई है और ग्रामीण बैंकिंग जाँच कमेटी के अनुमानों से ज्ञात होता है कि आजकल कुल बैंक कार्यालय ५,१०० के आसपास हैं। व्यापारिक बैंक अधिकतर बड़े बड़े नगरों तक ही सीमित हैं। छोटे छोटे स्थानों तथा कस्बों में इनकी शाखाएं बहुत कम हैं और गाँवों में तो व्यापारिक बैंक हैं ही नहीं।

देश की बैंकिंग व्यवस्था में सरकारी बैंकों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है

और बम्बई तथा मद्रास में इनका खूब प्रचार हुआ है। सहकारी बैंक मुख्यत: तीन प्रकार के है—(१) प्रान्तीय सहकारी बैंक, (२) केन्द्रीय सहकारी बैंक, तथा (३) नागरिक सहकारी बैंक। प्रान्तीय सहकारी बैंक प्रान्त भर की एक चोटी की सहकारी बैंक होता है जो अन्य प्रकार की सहकारी बैंकों से राशि जमा करती है तथा उन्हें समय पड़ने पर रुपया उधार देती है। १९३९ में इनकी संख्या १० थी जो १९४६ में बढ़कर १३ हो गई परन्तु १९४८ में ११ ही रह गई। केन्द्रीय सहकारी बैंक जिले भर की एक बैंक होती है जो सहकारी समितियों से राशि जमा करती तथा उन्हें सहायता करती है। १९३९ में इनकी संख्या ५९४ थी जो १९४६ में बढ़कर ६०१ हो गई और फिर १९४८ में घटकर ४४८ ही रह गई। नागरिक सहकारी बैंक नगरों में होती हैं और नगर निवासी कलाकारों, व्यवसायियों तथा वेतनभोगियों से राशि जमा करती तथा उन्हें ऋण देती हैं। गाँवों में बैंकिंग सुविधाएं देने का काम सहकारी साख समितियाँ करती हैं। ये समितियाँ गाँवों में कहीं कहीं काफी संख्या में फैली हुई हैं और किसानों से राशि जमा करती तथा उन्हें ऋण देती हैं। १९४७-४८ में साख-समितियों की संख्या ८५,२६० थी जिनमें २४,८२,८५२ सदस्य थे।

लोगों को अपनी अपनी बचत जमा करने में प्रोत्साहित करने का सबसे अच्छा काम डाकखाने की बचत बैंक करती हैं। सरकारी विभाग होने के कारण जनता का इनमें विश्वास रहता है। मार्च १९४६ में कुल मिलाकर २६,७६० डाकखाने थे जिनमें से कोई ६,८६५ डाकखानों में बचत बैंकों की व्यवस्था थी। गाँवों में रुपया उधार देने तथा आभूषण जमा रखने का काम महाजन और स्वदेशी बैंकर करते हैं। महाजन प्रायः गाँव का बनिया होता है जो गाँववालों के सम्पर्क में आता है और उन्हीं के साथ रहता-सहता है। इस कारण गाँववाले इन महाजनों में विश्वास भी अधिक करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे इन्हीं लोगों से रुपया उधार लेते हैं और फसल आने पर माल देकर या नकदी देकर ऋण चुकाते रहते हैं। यद्यपि ये महाजन किसानों की सहायता करते रहे हैं परन्तु इनकी कार्यप्रणाली में ऐसे दोष रहे हैं जिनसे इन्होंने किसानों का खूब शोषण किया है। न इनके पास संगठित और नियमित हिसाब किताब होते हैं और न और कोई लेखा जोखा होता है। अतएव किसानों से ये मनमानी ब्याज-दर वसूल

करते हैं तथा उनके लेन-देन में प्रकार-प्रकार की और बेईमानी भी कर लेते हैं। इन महाजनों पर सरकार का नियन्त्रण न होने के कारण ये मनमानी शर्तों पर रुपया उधार देते हैं।

इनके अतिरिक्त हमारे यहाँ विदेशी विनिमय बैंक हैं जो विशेषतः विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करते हैं। इन बैंकों की शाखाएँ देश के आन्तरिक भाग में भी फैली हुई हैं जो व्यापारिक बैंकों की प्रतियोगिता में बैंकिंग सम्बन्धी अन्य काम करती हैं। १९२९ के पश्चात् से आज तक यद्यपि हमारे यहाँ बैंकों की संख्या बढ़ती रही है परन्तु उनमें से अधिकांश बैंकों की अवस्था बहुत गिरी हुई रही है। १९४१ से १९४६ तक २५८ मिश्रित पूँजीवाले बैंक बन्द करने पड़े। इनका या तो प्रबन्ध ठीक नहीं था और या इनके पास पूँजी की कमी थी। देश के विभाजन के पश्चात् १९४७, १९४८ तथा १९४९ में ११८ बैंक और बन्द किए गए। इस स्थिति से पता लगता है कि हमारी बैंक-व्यवस्था आज भी कितनी गिरी हुई है। इस स्थिति को सुधारने तथा देश की बैंकिंग व्यवस्था पर नियंत्रण रखने की आवश्यकता का अनुभव करके १९४९ में बैंकिंग कम्पनी एक्ट पास कर दिया गया जिसके अनुसार रिज़र्व बैंक को देश भर की बैंकों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार दे दिया गया है। परन्तु अब भी देश की बैंकिंग-व्यवस्था के दो भाग हैं। एक भाग वह जिसमें इम्पीरियल बैंक, व्यापारिक बैंक, सहकारी बैंक तथा अन्य संगठित बैंकिंग-संस्थाएं सम्मिलित हैं; दूसरा भाग वह जिसमें महाजन तथा स्वदेशी बैंकर सम्मिलित हैं। मुद्रा-मण्डी का यह भाग बहुत अव्यवस्थित तथा असंगठित है। न तो इन पर किसी कानून का दबाव है और न इन पर किसी केन्द्रीय संस्था का नियंत्रण है। इनकी ब्याज-दर सबसे अधिक होती है। गाँवों में रुपया उधार देनेवाली बैंकों के अभाव में महाजन ही ग्रामीण जनता के विश्वासपात्र बने हुए हैं। परन्तु इन्हें नियंत्रित करने की आवश्यकता है। कोई ऐसा कानून बनाना चाहिए कि जिसके अन्तर्गत रिज़र्व बैंक का इन पर भी नियंत्रण होने लगे। पिछले वर्षों में कई बार रिज़र्व बैंक ने इनको कानून के शासन में लाने के प्रयत्न किए परन्तु अभी तक सफलता नहीं मिली है। अब इनको कानून में बाँधने की बहुत आवश्यकता है। जब तक इन्हें कानून में नहीं बाँधा जाएगा तब तक हमारे यहाँ देश भर

की ब्याज-दरों में समता और सन्तुलन नहीं आसकता। रिजर्व बैंक की अनेक योजनाएँ कभी कभी तो इन असंगठित महाजनों के कारण पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाती।

हमारे यहाँ काम करने वाले विदेशी बैंक देश के आन्तरिक नगरों में पहुँच कर देशी व्यापारिक बैंकों की प्रतियोगिता करते हैं। इससे हमारी बैंकों की आशातीत प्रगति नहीं हो पाती। आवश्यकता यह है कि विदेशी बैंकों पर नियन्त्रण रखकर उन्हें विदेशी मुद्रा के लेन देन तक ही सीमित कर दिया जाय। दूसरे, हमारे बैंकों की विदेशों में शाखाएँ न होने के कारण हमारे बैंक अन्तर्देशीय व्यापार में विशेष भाग नहीं दे पाते। आवश्यकता यह है कि हमारी बैंकें विदेशों में अपनी शाखाएँ खोलें। इस काम में सरकार को इनकी सहायता करनी चाहिए। विदेशों में स्थान प्राप्त करने में तथा विदेशी सरकार से अन्य सुविधाएँ दिलाने में सरकार काफी योग दे सकती है। हाल ही में यूनाईटेड कमर्शियल बैंक ने हांगकांग में अपनी एक शाखा खोली है। देश के बैंकिंग इतिहास में यह एक नया और प्रशंसनीय प्रयास है। यह बैंक इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका में भी अपनी शाखाएँ खोलने के विषय में विचार कर रही है। इसी प्रकार अन्य व्यापारिक बैंकों को आगे बढ़ कर विदेशी क्षेत्र अपने हाथ में लेना चाहिए।

हमारी बैंकिंग-व्यवस्था कई दृष्टियों से अपूर्ण भी है। न तो हमारे यहाँ औद्योगिक बैंक हैं और न विनियोगी बैंक ही हैं। उद्योगों के लिए वित्त सहायता देने की कोई मुख्य व्यवस्था नहीं है। व्यापारिक बैंक इस विषय में सदैव से उदासीन रहे हैं क्योंकि उनकी परिस्थितियाँ उन्हें दीर्घकालीन ऋण न देने पर बाध्य करती रही हैं। जनता को पूँजी विनियोग की सुविधाएँ देने का भी हमारे यहाँ कोई प्रबन्ध नहीं है। इसके लिए आवश्यक है कि औद्योगिक बैंक स्थापित किए जाएँ तथा विनियोगियों की सुविधा के लिए विनियोगी बैंक तथा विनियोगी ट्रस्ट खोले जाएँ। इस काम में सरकार को पहिले आगे बढ़ना चाहिए। सरकार इस प्रकार की बैंकों के अंश खरीदे तथा समय समय पर आवश्यकतानुसार उन्हें वित्त सम्बन्धी सहायता करे। यद्यपि इस क्षेत्र में सरकार ने अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त कारपोरेशन स्थापित करके एक नया कदम उठाया है परन्तु तो भी

उद्योग विशेषों के लिए औद्योगिक बैंकों की आवश्यकता है जो उद्योगों को दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन ऋण देकर सहायता करें। कृषि तथा कृषकों को वित्त सहायता देने के लिए भी हमारे यहाँ बैंकों का अभाव है। गाँवों में तो बैंकों का समुचित व्यवस्था है ही नहीं। केवल यहाँ वहाँ कुछ डाकखाने की बचत-बैंक तथा सहकारी साख-समितियाँ हैं जो आवश्यकताओं के लिए बिलकुल अपूर्ण हैं। कृषि को दीर्घकालीन सहायता देने का भी हमारे यहाँ कोई प्रबन्ध नहीं है। इसके लिए भूमि बन्धक-बैंक स्थापित करने की आवश्यकता है। कुछ प्रान्तों में भूमि-बन्धक बैंक स्थापित किए गए हैं परन्तु कृषि-प्रधान देश में सभी जगह ऐसे बैंकों की आवश्यकता है।

इस भाँति हम देखते हैं कि हमारी बैंकिंग व्यवस्था पाश्चात्य देशों की बैंकिंग-व्यवस्था की तरह बहुमुखी नहीं है। वह अपूर्ण, असंगठित, अभावपूर्ण, अनुभवहीन तथा अव्यवस्थित है। इसे देश के लिए सर्वाङ्गरूपेण उपयोगी बनाने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता अनुभवी तथा योग्य बैंकिंग-विशेषज्ञों की है। बैंकों की सफलता अधिकांश में उनके कर्मचारियों तथा प्रबन्धकों पर निर्भर होती है। देशवासियों को इस ओर शिक्षा देने की आवश्यकता है। दूसरे, जनता को बैंकों से लेन-देन करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। यदि ऐसा किया जाय तो हमारे देश की मुद्रा मण्डी के दोष दूर किए जा सकेंगे।

२५—भारतीय गाँवों में बैंकों की व्यवस्था

बैंकों की आवश्यकता प्रायः राशि जमा करने तथा समय पड़ने पर उनसे राशि उधार लेने के लिए होता है। हमारे देश में यह काम मुख्यतः व्यापारिक बैंकों, सहकारी बैंकों, ऋण समितियों, डाकखाने की बचत बैंकों तथा महाजनों और देशी बैंकरों द्वारा किया जाता है। परन्तु हमारे देश के क्षेत्रफल, जनसंख्या तथा व्यवसाय को देखते हुए हमारे यहाँ बैंकों की पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। जो कुछ भी व्यापारिक बैंक अथवा डाकखाने की बचत-बैंक हैं वे प्रायः बड़े बड़े शहरों में हैं—कस्बों या देहातों में तो इस सम्बन्ध में कोई सुविधाएँ हैं ही नहीं। अन्य देशों की अपेक्षा हमारे देश में बैंकों की संख्या इस प्रकार है—

देश	वर्ग मील में क्षेत्रफल (हजारों में)	जनसंख्या (०००,०००)	बैंक कार्यालयों की संख्या	प्रति दस लाख व्यक्तियों में बैंकों की संख्या
इङ्गलैण्ड	८९	५०	११,४६१	२२९
अमरीका	३६७४	१४७	१८,६७१	१२६
कनेडा	३६९०	१३	३,३२३	२५६
आस्ट्रेलिया	२९७५	८	३,५९९	४५०
भारत	१२२०	३३७	५,५५८	१६

इससे ज्ञात होता है कि हमारे देश में प्रति दस लाख व्यक्तियों के बीच में १६ बैंक कार्यालय हैं अर्थात् ६२५०० व्यक्तियों के बीच में एक बैंक-कार्यालय है। इस पर अधिकांश कार्यालय या तो बड़े बड़े शहरों में हैं और या बड़े-बड़े कस्बों में, गाँवों में तो इनका नाम भी नहीं है। १९४९ में सब राज्यों में मिलाकर व्यापारिक बैंकों के कुल ३९९१ कार्यालय थे जिनमें से २०८९ या तो बड़े बड़े शहरों में थे या जिलों की राजधानी में। अन्य स्थानों पर

अर्थात् कस्बों और गाँवों में मिलाकर केवल १६०२ बैंक कार्यालय थे। इससे बिलकुल स्पष्ट है कि हमारे गाँवों में बैंक हैं ही नहीं। गाँवों में राशि जमा करने का काम डाकखाने की बचत बैंक करता रहा है। सरकारी विभाग होने के कारण इन डाकखानों में ग्रामीण जनता का विश्वास बना हुआ है और वे अपना अपनी बचत इन्हीं में जमा करके रखते हैं। परन्तु देश में गाँवों की संख्या तथा इन गाँवों में बसनेवाली जन-संख्या को देखते हुए डाकखाने की बचत बैंकों की संख्या भी थोड़ी है। यह संख्या इस प्रकार है :—

ग्रामीण डाकखानों की बचत-बैंक

	१९४३	१९४९	
डाकखानों की संख्या जिनमें बचत बैंकों की व्यवस्था है	५,५१२	६४०१	+८८९
इन बैंकों में लगे हुए हिसाबों की संख्या	७,२१,४६२	११,९६,४३४	+४,७४,९७२
बचत बैंकों में जमा-राशि	१७,७१,११,५५०	६३,१४,३८,७७८	+४५,४३,२७,२२८
प्रति लेखे पर औसत जमा	२४५	५२८	+२८३

यद्यपि १९४३ की अपेक्षा १९४९ में गाँवों में काम करने वाली डाकखाने की बचत-सेवा में बढ़ोतरी हुई है परन्तु फिर भी हमारे विशाल देश के लिए यह संख्या सन्तोषजनक नहीं है। फिर, इनके द्वारा गाँवों की बैंक समस्या पूर्णरूपेण सुलझती नहीं है क्योंकि ये बैंक इनमें राशि जमा तो करती हैं परन्तु उन्हें उनकी आवश्यकतानुसार ऋण नहीं देतीं। ग्रामीणों को ऋण देने का काम तो विशेषतः गाँवों में रहनेवाले महाजन तथा देशी बैंकर करते आए हैं परन्तु इनमें एक बड़ा भारी दोष है। इनकी ब्याज दरें बहुत ऊँची तथा इनके लेन-देन बहुत गड़-बड़ होते हैं। इनके लेन-देन के विषय में ठीक ठीक आँकड़े प्राप्त करना कठिन है क्योंकि ये ठीक तरह से अपने कोई हिसाब किताब नहीं रखते। इन महाजनों पर सरकार या केन्द्रीय बैंक का

कोई नियन्त्रण न होने के कारण ये मनमानी करते हैं। अब कानून बनाकर इनकी मनमानी रोकने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। बहुतों ने अपना लेन देन अब बहुत सीमित कर दिया है और ये लोग अब अपना अपना अलग अलग व्यापार करने लगे हैं। अतः गाँवों में बैंकों की सबसे अधिक सुविधाएँ देने का काम अब सहकारी साख समितियाँ ही करती हैं। वैसे तो गाँव के प्रत्येक क्षेत्र में अब सहकारी समितियों द्वारा काम होने लगा है अर्थात माल खरीदना, बेचना, आदि, आदि, सभी काम इन समितियों से होते हैं परन्तु बैंकों की सुविधाएं देने का काम *साख समितियाँ ही करती हैं। ये समितियाँ ग्रामीणों से राशि जमा* करती हैं तथा उन्हें उधार भी देती हैं। १९४७-४८ में साख समितियों की स्थिति इस प्रकार थी —

१	समितियों की संख्या	८५,२६०
२.	सदस्यों की संख्या	३४,८२,८५२
३	जमा राशि (करोड़ रुपयों में)	३·०४
४	स्वीकृत ऋण (,,)	१६·०२

इस प्रकार सहकारी आन्दोलन ने गाँवों की बैंक समस्या काफी मात्रा में हल करदी है परन्तु तो भी इसमें अभी काफी विकास की गुञ्जाइश है। जैसा कि आँकड़ों से स्पष्ट है इन समितियों में केवल ३·०४ करोड़ रुपए की जमा राशि थी। देश के क्षेत्रफल तथा कृषि-जनता की संख्या को देखते हुए यह रकम आशा से बहुत कम है। इस विषय में हमारे यहाँ अभी काफी क्षेत्र है।

अब युद्ध के पश्चात् जब कि हमारे देश में पूँजी निर्माण का काम आरम्भ होना है इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि गाँवों में बैंकों की समुचित व्यवस्था करके गाँववालों को बचत करने की सुविधाएं दी जाएं जिससे वे बचत करना सीखें और अपनी बचत को उन बैंकों में जमा करें देश के हित में प्रयोग करें। अपने देश में कृषि एवं औद्योगिक विकास के लिए अब पूँजी की बहुत आवश्यकता है परन्तु पूँजी निर्माण का काम ढीला है। अब तक तो कठिनाई यह रही कि गाँववालों की आय ही इतनी न थी कि वे बेचारे बचत करके बैंकों में जमा करते। परन्तु युद्धकाल तथा युद्ध के पश्चात अब परिस्थिति

बिलकुल भिन्न है। युद्धकाल में तथा उसके पश्चात् खाद्य-वस्तुओं के भाव बहुत ऊँचे रहे जिससे ग्रामीणों ने काफी पैसा कमाया। शहर के धन-भोगियों तथा मध्यमवर्ग से पैसा निकल निकल कर अब किसानों के पास जमा हो गया। ऐसी परिस्थिति में उनके यहाँ बैंकों की आवश्यकता है जो उनकी इस आतिरिक्त आय को जमा करें। कुछ लोग इस मत के विरुद्ध हैं कि किसानों की आय बढ़ गई है और वे बचत कर सकते हैं। परन्तु हम यहाँ सिद्ध करेंगे कि किसानों की आय निश्चित ही बढ़ गई है और उन्हें बचत राशि जमा करने के लिए साधनों और सुविधाओं की आवश्यकता है। युद्धकाल तथा युद्धोत्तरकाल में किसानों की आय में जो बढ़ोत्तरी हुई है उसका ज्ञान तीन बातों से लगाया जा सकता है—(१) राष्ट्रीय आय के आँकड़ों द्वारा, (२) कृषि आय का अध्ययन करके, तथा (३) कृषि-जन्य तथा अन्य वस्तुओं के मूल्य-स्तरों की तुलना करके।

राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में यद्यपि अधिकृत आँकड़े प्राप्त नहीं हैं परन्तु विश्वसनीय तथा जानकार स्रोतों द्वारा जो अनुमान लगाए गए हैं वे इस प्रकार हैं—

वर्ष	कुल राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपयों में)	कृषि-आय	कृषि-आय का कुल आय के साथ प्रतिशत	सूत्र
१९३१-३२	१६८९	८८२	५२·८	डा० राव
१९३९-४०	१९३४	९५३	४९·२	ईस्टर्न
१९४३-४४	४२३३	२१२८	५०·३	एकानामिस्ट
१९४४-४५	४२०१	२२६४	५३·७	११-१२-४८
१९४५-४६	४२४०	२२२५	५२·५	,,
१९४६-४७	४४८७	२५६९	५७·३	,,
१९४७-४८	३९४२	२१२९	५४·०	,,
१९४७-४८	४९३२	२६६०	५६·२	कामर्स दिसम्बर ४८

इन अनुमानों से पता लगता है कि किसानों की आय १९३१-३२ की अपेक्षा १९४७-४८ में तीन गुनी अधिक हो गई और कुल राष्ट्रीय आय में

कृषि आय का प्रतिशत ५२ ८ से बढ़ कर ५७ ३ तक हो गया। इससे साफ स्पष्ट है कि युद्धकाल में किसान की आय बढ़ गई और इसलिए उनके लिए बैंकों का प्रबन्ध करके उनमें बचत राशि लेकर पूँजी का निर्माण किया जाय। कुछ लोगों का कहना है कि किसानों की आय तो अवश्य बढ़ी परन्तु उनकी बचत नहीं हुई क्योंकि उन्हें अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदने में काफी मूल्य चुकाना पड़ता था। अत जैसे जैसे उनकी आय बढ़ती गई तैसे तैसे उनका व्यय भी बढ़ता गया। परन्तु यह बात भी नितान्त सत्य नहीं है। इसके लिए हम *कृषिजन्य वस्तुओं तथा अन्य वस्तुओं के तुलनात्मक मूल्य देते हैं—*

कृषि जन्य वस्तुओं तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के सामान्य थोक मूल्यों के निर्देशाङ्क (१९३९ = १००)

माह	कृषि जन्य वस्तुओं के औसत निर्देशाङ्क			अन्य वस्तुओं के थोक मूल्यों के निर्देशाङ्क		
	१९४७	१९४८	१९४९	१९४७	१९४८	१९४९
जनवरी	३५६ ७	४२३ १	५०६ २	२९० ५	३२९	३७६
फरवरी	३५८ २	४४१ ०	५०५ १	२९२ १	३४२	३७२
मार्च	३५७ ०	४४५ ८	४९६ ०	२९३ २	३४०	३७०
अप्रैल	३४९ ८	४५५ ४	४८७ ४	२८९ ६	३४७	३७६
मई	३४९ २	४७३ ०	४८५ ३	२८८ ५	३६७	३७७
जून	३५८ ६	५०३ ८	४९१ ९	२९८ २	३८२	३७८
जुलाई	३५९ ४	५०८ ४	४८० ४	२९७ ७	३८९	३८०
अगस्त	३५८ १	५०६ १	४९० ७	३ १ ४	३८०	३८९
सितम्बर	३५६ ३	५०६ २	४८५ ७	३०२ ४	३८२	३८९
अक्टूबर	३५६ ४	५८० ९	४९२ ५	३०३ २	३८१	३९३
नवम्बर	३५५ ३	५१३ ७	४९० १	३०२ ०	३८२	३९०
दिसम्बर	३९२ ०	५१९ ०		३१४ २	३८३	

इन मूल्याङ्कों से यह बात अच्छी तरह से स्पष्ट होती है कि १९४२ के पश्चात् *से ही कृषि-जन्य वस्तुओं तथा अन्य वस्तुओं के मूल्यों में विषमता रही और कृषकों* को दोहरा लाभ मिला—अपने माल के दाम अधिक मिले तथा अन्य माल खरीदने में कम दाम देने पड़े। इस प्रकार कृषकों की भिन्न आय तथा वास्तविक आय

दोनों बढ़ीं। अतः किसानों की बचत करने की क्षमता बढ़ी है इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी बचत को खींचने के लिए गाँवों में बैंकों की आवश्यकता है। ऋण-भार के दृष्टिकोण से भी देखा जाय तो ज्ञात होता है कि लड़ाई समाप्ति के काल में कृषकों की जो आय हुई उससे उन्होंने अपने-अपने ऋण चुका दिए। आँकड़ों के अभाव में यह कहना तो कठिन है कि किस मात्रा तक ऋण चुका दिए गए परन्तु जो भी सूचना प्राप्त है उससे निश्चित हो यह ज्ञात होता है कि ऋण-भार पहिले की अपेक्षा कम अवश्य हो गए। इस प्रकार यह निर्विवाद है कि कृषकों की आय और बचत करने की क्षमता में वृद्धि हुई है, परन्तु कितनी वृद्धि हुई है, यह कहना कठिन है। भिन्न-भिन्न आर्थिक जानकारों ने अलग-अलग अनुमान लगाए हैं। इसी प्रकार यह कहना भी कठिन है कि क्या यह स्थिति भविष्य में भी बनी रहेगी। ऐसी संदिग्ध स्थिति में भी गाँवों में बैंकों की व्यवस्था तो करनी ही है परन्तु कोई भी नई योजना बनाने से पहिले जो कुछ काम हो रहा है उसे संगठित बनाना चाहिये। जिन गाँवों की आर्थिक-स्थिति अच्छी हो और जहाँ के किसान, जमींदार आदि जनता अधिक पैसे वाली हो उन गाँवों के आस पास केन्द्र बनाकर व्यापारिक बैंकों के कार्यालय स्थापित करने चाहिएँ। व्यापारिक बैंकों को प्रोत्साहन दिया जाय कि वे अपने-अपने कार्यालय गाँवों के आस-पास नगरों में या कस्बों में खोलें। जिन गाँवों में छोटे कृषक रहते हों और जिनकी आय अपेक्षाकृत कम हो वहाँ व्यापारिक बैंकों के कार्यालय खोलकर व्यय बढ़ाने से कोई लाभ नहीं होगा। ऐसे स्थानों पर तो डाकखाने का बचत बैंक तथा साख-समितियाँ खुलनी चाहिए। इनके द्वारा भी वहाँ की बचत निकल कर पूँजी का काम दे सकती है। इसके साथ साथ सरकार को बचत करने में किसानों को प्रोत्साहित करने के लिए विज्ञापन तथा प्रोपेगेण्डा करना चाहिये। गाँवों में जनता को बचत सिखाने से तथा उनको रुपया जमा करने में इन्हीं साधनों से काफी धन मिल सकता है।

अब रहा प्रश्न इसका कि गाँवों में कृषकों को साख-सुविधाएँ देने का क्या प्रबन्ध किया जाय? गाँवों में किसानों को बचत करने की सुविधाएँ देने के साथ-साथ उन्हें साख पर रुपया देने की सुविधाएँ भी देना आवश्यक है। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि जो संस्थाएँ उनसे राशि जमा करें वे ही उनको साख

पर रुपया उधार भी दे। किसान को यदि यह विश्वास हो जाय कि जो राशि वह जमा कर रहा है वह आवश्यकता पड़ने पर उसको उधार मिल सकती है तो वह बैंकों में राशि अवश्य जमा करेगा अन्यथा नहीं। अतः बचत सिखाने के साथ साथ उन्हें साख सुविधाएं भी देना आवश्यक है। हो सकता है कि बहुत से ग्रामीण पहिले ऋण लेने के लिए ही बैंकों के सम्पर्क में आयें और बाद में जब उनकी आय बढ़ने लगे तो वे राशि जमा भी करने लगें। एक बात और है। हमारी कृषि और ग्रामीण धंधों को उन्नत करने के लिये बहुत मात्रा में और शीघ्र ही पूँजी की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में गाँवों में ऐसी बैंकों का प्रबन्ध होना चाहिए जो लोगों से अधिक से अधिक राशि जमा लेकर पूँजी निर्माण करें और फिर इस पूँजी को इन उद्देश्यों में लगायें। अभी तक किसानों को रुपया उधार देने का काम मुख्यतः महाजन तथा सहकारी समितियाँ करती हैं। परन्तु जैसा कि पहिले बताया जा चुका है महाजन अनेक कारणों से अब लुप्त होते जा रहे हैं और अब इनकी कार्यशैली भी दूषित हो गई है। व्यापारिक बैंक तो इस क्षेत्र में कोई काम करते ही नहीं। सहकारी समितियों का काम भी आज लगभग ५० वर्ष के पश्चात् अधूरा ही है। इस विषय में जाँच-पड़ताल करने के लिए सरकार ने पिछले वर्षों में काफी दिलचस्पी ली है। १९४५ में गैडगिल कमेटी ने इस विषय पर अपनी रिपोर्ट दी, १९४६ में सरैया कमेटी ने इस विषय की जाँच पड़ताल की तथा राज्यों में भी अनेक बार विशेषज्ञों द्वारा इस समस्या का समाधान सोचा गया। गैडगिल कमेटी ने कृषकों को अल्पकालीन तथा मध्यकालीन साख सुविधाएं देने के लिए कृषि साख कारपोरेशन स्थापित करने की सिफारिश की तथा दीर्घकालीन साख सुविधाएं देने के लिए भूमि बन्धक बैंक खोलने पर जोर दिया। सरैया कमेटी ने सहकारिता आन्दोलन का संगठित करने तथा साख समितियों की संख्या बढ़ाने पर जोर दिया तथा देश भर के लिए एक कृषि-साख कारपोरेशन स्थापित करने की सिफारिश की। ग्रामीण बैंकिंग जाँच कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर जोर दिया है कि बैंकों को भी कृषकों को साख-सुविधाएं देने की व्यवस्था करनी चाहिए। कमेटी ने सुझाव दिया है कि जहाँ तक हो सके वहाँ तक ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापारिक-

बैंकों तथा सहकारी-बैंकों को मिलाकर संगठित करना चाहिए जिससे दोनों मिलकर यह काम अच्छी तरह से कर सकें।

अब यह भी देखना चाहिए कि गाँवों में बैंक स्थापित करने में क्या कठिनाइयाँ हैं और उन कठिनाइयों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है?

सबसे बड़ी कठिनाई यह रही है कि हमारा कृषि धंधा अपूर्ण तथा अभाव-पूर्ण रहा। जब तक एक विशेष योजना बनाकर भूमि सुधार न किया जाय, खेतों की चकबन्दी न हो, सिंचाई के साधन न बढ़ें, कृषिजन्य वस्तुओं को बाजार में बेचने का समुचित प्रबन्ध न हो, कृषि कार्यों में वैज्ञानिक यंत्रों का प्रयोग न किया जाय, छोटे-मोटे उद्योग-धंधे न चलाए जाएँ तब तक कृषि कार्य में लाभ नहीं हो सकता और इसलिए तब तक बैंक अपने कार्यालय भी नहीं खोल सकते। अतः कृषि सुधार करने की योजना बनाकर कृषि-धंधे को उन्नत करना चाहिए, तभी बैंकों की समुचित व्यवस्था लाभप्रद हो सकता है।

गाँवों में बैंकों की सुविधाएँ न बढ़ने का दूसरा कारण यह है कि वहाँ आने-जाने तथा सन्देश-वाहन के साधनों का उपयुक्त प्रबन्ध नहीं है। बहुत से गाँव तो शहरों से बहुत दूर तथा बिलकुल अछूते हैं—न वहाँ सड़कें हैं और न आने जाने का कोई अन्य साधन है। इससे बैंकों के विकास में बड़ी असुविधा होती है। इसके लिए सरकार को चाहिए कि वह गाँवों के आर्थिक विकास की योजनाओं में सड़कों तथा डाकखानों को प्रथम स्थान दे। यदि ये दो सुविधाएँ मिल जाएँ तो बैंक अपने कार्यालय भी स्थापित करने लगेंगे।

ग्रामीण जनता अशिक्षित और निरक्षर होने के कारण बैंकों से लेन देन नहीं कर सकती। न तो वे पास बुक का लेन देन और लेखा जोखा समझ सकते हैं और न बैंकों के चेकों द्वारा अपना लेन देन चला सकते हैं। इसके लिए दो उपाय करने चाहिएँ। एक, गाँवों में शिक्षा व प्रौढ़ शिक्षा की सुविधाएँ दी जाएँ तथा दूसरा, बैंक अपने लेन देन के काम अंग्रेजी में न करके प्रादेशिक भाषाओं में करें। इससे यह कठिनाई काफी सीमा तक दूर हो सकती है। ग्रामीण रूढ़िवादी होने के कारण बैंकों के साथ अपने लेन देन करना नहीं चाहते। वे न तो बैंकों में राशि जमा करना पसन्द करते हैं और न उनसे ब्याज पर राशि लेना ही चाहते हैं। वे तो महाजनों से ही लेन देन करते हैं जो इन

लोगों के अधिक समीप रहता सहता है। एक बात और भी है। बैंकों के फेल होने के कारण गाँववालों का इनमें विश्वास भी नहीं रहता। इन कठिनाइयों को अधिकांशतः शिक्षा के द्वारा दूर किया जा सकता है। दूसरे, रिजर्व बैंक या सरकार ग्रामीणों को गाँवों में काम करनेवाली बैंकों की मजबूती की गारंटी करके लोगों को उनके साथ लेन देन बढ़ाने में प्रोत्साहित करे। गाँवों में काम करनेवाले बैंक ग्रामीण जनता में से ही पढ़े लिखे लोगों के साथ अपने सम्पर्क बढ़ाएँ—उन्हें अपने संचालक मण्डल में रक्खें तथा कार्यालयों में काम दें। इससे ग्रामीणों में इन बैंकों के प्रति विश्वास बढ़ने में सहायता मिलेगी।

प्रायः देखा गया है कि गाँव के धनी मानी लोग अपना रुपया ग्रामीण जनता को ही उधार देते हैं, बैंकों में जमा नहीं करते। इसका कारण यह है कि उन्हें बैंकों की अपेक्षा इन लोगों से अधिक ब्याज मिलता है। यदि बैंक अपनी ब्याज दर बढ़ा दें तो लोग उनके पास अपनी बचत जमा करने लगेंगे। इसका अर्थ यह है कि बैंकों द्वारा दी जानेवाली ब्याज-दर कम होने के कारण गाँवों में बैंकों को अधिक सफलता नहीं मिली है। इसका एक उपाय यह हो सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक शहरों की अपेक्षा ऊँची ब्याज-दर रक्खें और इस काम के लिए सरकार उनको अर्थ सहायता दे। यद्यपि यह सुझाव बैंकों की दृष्टिकोण से उचित नहीं रहेगा परन्तु तो भी प्रयोग के तौर पर ऐसा करके देखना चाहिए कि क्या यह योजना सफल हो सकती है?

बहुतसे बैंकों ने अपने कार्यालय गाँवों में इसलिए स्थापित नहीं किए हैं कि उन कार्यालयों में आय की अपेक्षा व्यय अधिक होता है और इस प्रकार बैंकों को हानि रहती है। इसके लिए यह उपाय है कि सरकार कुछ समय तक इस हानि की पूर्ति करे और जब कार्यालय आत्मनिर्भर बन जाएँ तो सहायता देना बन्द कर दे। दूसरे, बैंक अपने ग्रामीण कार्यालयों पर थोड़ी-थोड़ी तनख्वाह के कर्मचारी रक्खें और ये कर्मचारी सम्भवतः गाँवों में से लिए जाएँ। इससे कार्यालयों का व्यय भार कम होगा। सरकार को भी चाहिए कि इन क्षेत्रों में स्थित बैंकों की शाखाओं पर जो कर्मचारी काम करें उनके साथ शहरों जैसी वेतन भत्ता आदि की सख्तियाँ न लगाए।

इन उपायों के अतिरिक्त ग्रामीण बैंकिंग जाँच कमेटी ने गाँवों में स्थित

बैंक की शाखाओं को कुछ ऐसे काम करने के सुझाव दिए हैं जिनसे गाँववालों में बैंकों के प्रति विश्वास बढ़ेगा और उनका प्रचार होगा। ये सुझाव निम्न हैं—

१. एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया भेजने मँगाने की सुविधाएँ देना।

२. नोट तथा सिक्कों के अदल-बदल की सुविधाएँ तथा खराब नोटों और सिक्कों को अच्छे नोटों और सिक्कों में बदलने की सुविधाएँ देना।

३. रुपया तथा आभूषण सुरक्षित रखने की अधिक सुविधाएँ देना।

४. गोदाम बनाकर कृषकों को किराये पर देने की सुविधाएँ देना।

यदि इतनी और सुविधाएँ कृषकों को बैंकों से मिलती रहें तो कृषकों की बैंकों के साथ लेन-देन में रुचि बढ़ेगी और विश्वास भी उत्पन्न होगा।

गाँवों में बैंकों की व्यवस्था करने में ग्रामीण बैंकिंग जाँच कमेटी ने संक्षेप में निम्न सुझाव दिए हैं—(१) रिजर्व बैंक प्रत्येक राज्य में अपनी शाखा खोले, (२) इम्पीरियल बैंक तथा अन्य व्यापारिक बैंक तहसीलों में, जिला-नगरों में तथा बड़े-बड़े ताल्लुकों में अपनी-अपनी शाखाएँ बढ़ाएँ, (३) सहकारी-साख समितियों की संख्या बढ़ाई जाय तथा साख-आन्दोलन का पुनर्संगठन किया जाय, (४) राज्य की ओर से कृषि साख कारपोरेशन स्थापित किए जायँ, (५) दीर्घकालीन साख-सुविधाएँ देने के लिए भूमि-बन्धक बैंक स्थापित किए जाएँ, (६) डाकखाने की बचत-बैंक गाँव-गाँव में, जहाँ यातायात की सुविधाएँ हों, स्थापित की जाएँ, (७) गाँवों में खुलने वाली बैंकों की शाखाओं में प्रादेशिक भाषाओं में काम किया जाय, (८) ये बैंक रुपया जमा करने तथा निकालने में अपनी रीति थोड़ी सरल बनाएँ, (९) ग्रामीणों का साक्षर बनाने के प्रयत्न किए जाएँ, (१०) बैंकों में राशि जमा करने तथा बैंकों का अधिक से अधिक प्रयोग करने में ग्रामीणों को प्रोत्साहित करने के लिए प्रोपेगण्डा किया जाय।

———

२६—रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न तो उसके जन्म से ही चलता आया था। १९२६-२७ में हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिश पर जब भारतीय धारा-सभा में विचार हुआ तो विपक्षी दल राष्ट्रीयकरण का समर्थक था। परन्तु उस समय रिजर्व बैंक स्थापित ही न हो सका और यह बात आगे के लिए टाल दी गई थी। १९३४ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पास हुआ और १ली अप्रैल सन् १९३५ से रिजर्व बैंक अंशधारियों के बैंक के रूप में काम करने लगा। १९४६-४७ में केन्द्रीय विधान सभा में जब बजट पर बहस हो रही थी तो श्री शरतचन्द्र बोस ने राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को उठाया। प्रश्न का उत्तर देते हुए वित्त मंत्री सर आर्चीबाल्ड रोलैंड्स ने कहा कि "मुझे इस विषय में संशय नहीं है कि निकट भविष्य में रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जायगा। इसका राष्ट्रीयकरण अब तक क्यों नहीं हुआ, इसका कारण मेरे विचार से यह था कि विधान सभा रिजर्व बैंक जैसी संस्था को एक अनुत्तरदायी कार्यकारिणी के हाथ में देने को तैयार न थी।" उस समय भी यह बात टाल दी गई। केन्द्रीय धारा-सभा में राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव फरवरी १९४७ में फिर लाया गया परन्तु वित्त-मंत्री के विश्वास दिलाने पर कि सरकार इस पर विचार करेगी और समय आने पर इसका राष्ट्रीयकरण हो जाएगा प्रस्ताव वापस ले लिया गया। १९४७-४८ के बजट पर बहस करते हुए इस बात पर जोर दिया गया कि अब राष्ट्रीय सरकार है और देश स्वतन्त्र है, इसलिए केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिए। राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्न दलीलें दी गई जिनको मानकर रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

१. अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका था और तभी उन देशों में सरकार की आर्थिक तथा मौद्रिक नीति का ठीक ठीक सञ्चालन केन्द्रीय बैंक करते थे। भारत में भी यह तभी किया जा सकता था जब कि रिजर्व

बैंक का राष्ट्रीयकरण हो। अतः मौद्रिक तथा साख नीति के सफल संचालन के कारण राष्ट्रीयकरण पर अधिक ज़ोर दिया गया।

२ भारत में जन साधारण के जीवनस्तर को ऊँचा उठाने के लिए यह आवश्यक था कि देश का आर्थिक संकट दूर किया जाय तथा लोगों की आय बढ़ाई जाय। ऐसा करने के लिए युद्ध के पश्चात आर्थिक आयोजन की आवश्यकता थी और आर्थिक आयोजन का काम तभी सफल हो सकता था जब कि देश का केन्द्रीय बैंक भी सरकार का एक विभाग बनकर सरकारी नीति के साथ सहयोग देता। अतः रिज़र्व बैंक के राष्ट्रीयकरण की माँग की जाने लगी जिससे वह राष्ट्रीय संस्था बनकर सरकार को अधिक से अधिक सहयोग दे सके।

३ पिछले वर्षों में, विशेषतः युद्धकाल में, रिज़र्व बैंक की मुद्रा नीति संतोषजनक नहीं रही थी। नोट बहुत छापे गए थे जिससे मुद्रा-स्फीति हुई और वस्तुओं के भाव बहुत बढ़ गए। बैंक ने इसे रोकने के लिए कोई महत्व-पूर्ण काम नहीं किया। इसलिए सोचा गया कि रिज़र्व बैंक के राष्ट्रीयकरण करने से यह दोष दूर हो जायगा और भविष्य में बैंक अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेगा।

४. बहुत सी बातों पर रिज़र्व बैंक को देश की अन्य बैंकों से आवश्यक सूचना प्राप्त करनी पड़ती थी। अंशधारियों का बैंक होने के कारण रिज़र्व बैंक को सूचना प्राप्त करने में कुछ कठिनाई होती थी। इसलिए सोचा गया कि राष्ट्रीयकरण करने से रिज़र्व बैंक को एक ऐसा अधिकार और बल मिलेगा कि तब वह इच्छानुसार सूचना प्राप्त कर लिया करेगा।

५. राष्ट्रीयकरण के पक्ष में एक युक्ति यह थी कि इस प्रकार रिज़र्व बैंक एक प्रकार से सरकारी विभाग बन जायगा जिसके द्वारा केन्द्रीय और राज्य सरकारें अपनी आर्थिक और वित्त नीतियों को इस बैंक की सहायता से सफल बना सकेंगी।

इन कारणों को लेकर रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और १ जनवरी १९४९ से रिज़र्व बैंक राष्ट्रीय संस्था बन गया। हिस्सेदारों के हिस्से सरकार ने ले लिए और १०० रुपये के एक हिस्से के बदले में ११८ रु० १० आने देना स्वीकृत हुआ। ११८ रु० १० का भुगतान इस प्रकार किया

गया। प्रत्येक १०० रुपये के बदले में तो तीन प्रतिशत वार्षिक व्याज दर के सरकारी बौण्ड दे दिए गए तथा शेष राशि के बदले में नकद रुपया चुका दिया गया। रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में भी आवश्यक संशोधन कर दिए गए। इस प्रकार पैदा होने के १४ वर्ष पश्चात् रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया।

रिज़र्व बैंक का प्रबन्ध अब केन्द्रीय सरकार के हाथ में है। केन्द्रीय सरकार रिज़र्व बैंक के गवर्नर की सलाह से इसका प्रबन्ध करती है। केन्द्रीय सरकार बैंक के गवर्नर की सलाह से समय समय पर जन हित का दृष्टि में रखते हुए बैंक को आदेश देती है और इन आदेशों की पूर्ति के उद्देश्य को सामने रखकर एक केन्द्रीय बोर्ड बैंक का संचालन करता है। केन्द्रीय बोर्ड में निम्न व्यक्ति होते हैं —

(अ) एक गवर्नर व दो डिप्टी गवर्नर—इनको केन्द्रीय सरकार पाँच वर्ष के लिए नियुक्त करती है परन्तु अवधि समाप्त होने पर इनको फिर भी नियुक्त किया जा सकता है। इनका वेतन केन्द्रीय सरकार की सलाह से केन्द्रीय बोर्ड निश्चित करता है। डिप्टी गवर्नरों को केन्द्रीय बोर्ड की बैठक में भाग लेने का अधिकार तो होता है परन्तु मत देने का अधिकार नहीं है। परन्तु यदि गवर्नर की अनुपस्थिति में डिप्टी गवर्नर कार्य सञ्चालन करें तो उस समय उसको मत देने का अधिकार होता है।

(ब) चार सञ्चालक—ये सञ्चालक केन्द्रीय सरकार द्वारा चारों स्थानीय बोर्डों में से मनोनीत किए हुए होते हैं। [स्थानीय बोर्ड आगे देखिए।]

(स) छः सञ्चालक और होते हैं। इनको भी केन्द्रीय सरकार मनोनीत करती है। इनमें से प्रत्येक दो बारी बारी से एक, दो और तीन वर्ष के बाद अलग होते जाते हैं।

(द) एक सरकारी अफसर होता है। यह भी सरकार द्वारा मनोनीत किया हुआ होता है। यह अफसर सरकार की इच्छानुसार कितने ही समय तक काम कर सकता है।

इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के बाद नए विधान के अनुसार केन्द्रीय बोर्ड में कुल १४ व्यक्ति होते हैं।

केन्द्रीय बोर्ड के अतिरिक्त बैंक के प्रबन्ध के लिए चार स्थानीय बोर्ड हैं। स्थानीय-बोर्ड कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और दिल्ली में हैं। सीमा की दृष्टि से सारे देश को चार प्रदेशों में बाँट लिया गया है। (१) उत्तरी प्रदेश, (२) दक्षिणी-प्रदेश, (३) पूर्वी-प्रदेश, (४) पश्चिमी प्रदेश। इन्हीं चार प्रदेशों के लिए एक-एक स्थानीय बोर्ड है। प्रत्येक स्थानीय-बोर्ड में पाँच सदस्य होते हैं। इनकी नियुक्ति सरकार करती है। ये सदस्य अपने में से ही बोर्ड का अध्यक्ष चुन लेते हैं। प्रत्येक सदस्य चार वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है परन्तु अवधि समाप्त होने के बाद इनको फिर भी नियुक्त किया जा सकता है। चारों स्थानीय-बोर्ड आवश्यक मामलों पर केन्द्रीय-बोर्ड को सलाह देते हैं तथा केन्द्रीय-बोर्ड के आदेशानुसार कार्य करते हैं।

केन्द्रीय बोर्ड की बैठक बुलाना गवर्नर के अधिकार में होता है, परन्तु कोई भी तीन सञ्चालक मिलकर भी गवर्नर से केन्द्रीय-बोर्ड की बैठक बुलाने की प्रार्थना कर सकते हैं। वर्ष भर में ६ बैठकें बुलाना अनिवार्य है परन्तु तीन महीना में एक बैठक अवश्य ही होनी चाहिए। बैंक के कार्यालय बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा कानपुर में हैं। इसकी एक शाखा लन्दन में भी है जो अप्रैल १९२६ में खोली गई थी। केन्द्रीय-सरकार की आज्ञा से रिजर्व बैंक अन्य किसी स्थान पर भी शाखा खोल सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष बनने से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में भी संशोधन कर दिए गए हैं। पहिले रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट की धारा ४० और ४१ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक रुपये के बदले में निश्चित विनिमय दर पर स्टर्लिंग खरीदा और बेचा करता था। परन्तु अब एक्ट की इन धाराओं में संशोधन कर दिया गया है। अब रिजर्व बैंक सरकार के आदेशानुसार केवल स्टर्लिंग ही नहीं वरन् उन सब देशों की मुद्राएं खरीदता-बेचता है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य हैं। इसी प्रकार रिजर्व बैंक एक्ट की धारा ३३ में भी संशोधन कर दिया गया है। पहिले इस धारा के अनुसार बैंक को स्टर्लिंग सिक्यूरिटियों के आधार पर नोट चलाने का अधिकार था। परन्तु अब बैंक केवल स्टर्लिंग के ही आधार पर नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सभी सदस्य देशों की सिक्यूरिटियों के आधार पर नोट प्रचलित कर सकता है।

एक्ट की धारा १७ (३) में भी संशोधन कर दिया गया है। धारा १७ (३) (अ) में वर्णित 'स्टर्लिंग' के स्थान पर 'विदेशी विनिमय' लिख दिया गया है और १७ (३) (ब) में वर्णित 'यूनाइटेड किंगडम' के स्थान पर 'कोई देश जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य हो' लगा दिया गया है। धारा १८ में वर्णित 'स्टर्लिंग' के स्थान पर 'विदेशी विनिमय' लिख दिया गया है। इन संशोधनों के फलस्वरूप अब हमारा रुपया किसी विदेशी मुद्रा पर आधारित नहीं है। इसका वर्णन आगे 'हमारा रुपया' शीर्षक लेख में मिलेगा।

२७—बैंकों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ इम्पीरियल बैंक तथा अन्य व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ है। प्रो० रुद्रा जैसे कुछ लोगों का मत है कि व्यापारिक बैंकों के लिए केवल कानून बनाने से कुछ नहीं हो सकता, उन्हें तो सरकारी स्वामित्व तथा नियन्त्रण में ले आना चाहिए। इन लोगों का कहना है कि युद्धोत्तर काल में किसी भी आर्थिक योजना को सफल बनाने के लिए व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीकरण करना आवश्यक है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विषय में प्रायः निम्न तर्क दिए जाते हैं—

(१) बैंक, जो मुद्रा-निर्माण तथा साख-सृजन का काम करती हैं, ये काम तो सरकार के अधिकार की वस्तुएँ हैं। अतः बैंकों को ही सरकारी अधिकार में ले आना चाहिए।

(२) स्वतन्त्र और व्यक्तिवादी बैंकों पर केन्द्रीय बैंक सफलतापूर्वक नियंत्रण नहीं कर पाता। अतः आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक के साथ-साथ व्यापारिक बैंकों का भी राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय।

(३) यदि उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना है तो बैंकों का भी राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिए अन्यथा सम्भव है राष्ट्रीयकृत उद्योगों में व्यक्तिवादी बैंक आवश्यक सहयोग न दें और सरकारी औद्योगिक नीति सफल न हो सके।

(४) यदि बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया तो वे सफलता के साथ साख का वितरण कर सकेंगी।

कुछ लोग व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है कि बैंकों का राष्ट्रीयकरण होने से बैंकों की लेखा-पुस्तकों का गुप्त भेद सरकारी कर्मचारियों तथा आय-कर वसूल करने वाले लोगों को ज्ञात होता रहेगा जिससे वे राशि जमा करने वाले लोगों को अधिक तंग करने लगेंगे। परिणाम यह होगा कि लोग फिर बैंकों में राशि जमा करना बन्द करने लगेंगे और यदि ऐसा हुआ तो देश की पूँजी-निर्माण व्यवस्था पर बड़ी गहरी चोट

लगेगी। बैंकों के राष्ट्रीयकरण से बैंकों पर राजनैतिक दलबन्दियों का अधिकार हो जायगा और फिर सरकारी दल जैसे चाहेगा बैंकिंग प्रणाली को उसी भाँति नचाता रहेगा। अतः देश के हित में व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण नहीं होना चाहिए।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष और विपक्ष की युक्तियों पर दोनों ओर से काफी कहा जा सकता है परन्तु देखना यह है कि आखिर वास्तविकता क्या है। विदेशों में प्रायः देखने में आता है कि वहाँ केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण तो कर दिया गया है परन्तु व्यापारिक बैंक अभी व्यक्तिवाद के आधार पर ही चल रहे हैं। इङ्गलैण्ड में 'बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड' का राष्ट्रीयकरण हो चुका है परन्तु अन्य बैंकों का नहीं। हाँ, बैंक ऑफ इंगलैण्ड को अन्य बैंकों पर नियंत्रण रखने का पूरा पूरा अधिकार दे दिया गया है। हमारे यहाँ भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण करके बैंकिंग कम्पनी कानून पास करके रिजर्व बैंक को देश के अन्य बैंकों पर नियंत्रण रखने के असीम अधिकार दे दिए गए हैं। इन अधिकारों के द्वारा रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों के नए कार्यालयों पर, उनकी ऋण नीति पर, जमा राशि की नीति पर तथा हिसाब-किताब पर पूरा पूरा नियंत्रण रखता है। व्यापारिक बैंक पूर्ण रूप से अब रिजर्व बैंक के अधिकार में हैं और रिजर्व बैंक सरकारी संस्था है। इसलिए यदि यह कहा जाय कि बैंकों पर एक प्रकार से सरकार का ही नियंत्रण है तो अत्युक्ति नहीं होगी। राष्ट्रीयकरण के प्रायः दो पहलू होते हैं—(१) जिसमें सरकार का स्वामित्व और नियंत्रण दोनों हों, (२) जिसमें सरकार का केवल नियंत्रण ही रहे। अतः आज भी हमारे यहाँ दूसरे प्रकार का बैंकों का राष्ट्रीयकरण है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में सबसे जोरदार बात यह कही जाती है कि इससे सरकार द्वारा आयोजित आर्थिक आयोजन में सहायता मिलती है तथा बैंकिंग व्यवस्था पर सरकार का अधिकार होता है जिससे बैंक जनता के विरुद्ध कोई काम न कर सकें। ये सब बातें आज भी हमारी बैंकिंग प्रणाली में मौजूद हैं। रिजर्व बैंक का कड़ा पहरा होने के कारण हमारे देश की बैंक रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना टस से मस भी नहीं हो सकतीं। हाँ, बैंकिंग कम्पनी कानून बनने से पहिले इन बैंकों पर किसी का नियंत्रण न था—न सरकार का था और न रिजर्व बैंक

का। उस समय इन बैंकों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न युक्तिसंगत कहा जा सकता था। परन्तु १९४९ में बैंकिंग कम्पनी कानून पास होने से अब यह बात नहीं है।

फिर भी कम से कम इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न बहुत ज़ोरों से उठाया जाता रहा है। इस प्रश्न को रिज़र्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के समय उठाया गया था। उस समय के वित्त मंत्री श्री मथाई ने कहा था "कि देश की आर्थिक परिस्थिति पर राष्ट्रीयकरण के जो दुष्परिणाम होंगे उनको देखते हुए वर्तमान परिस्थिति में सरकार इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करना ठीक नहीं समझती"। किन्तु सरकार इम्पीरियल बैंक के दोषों को दूर करने का प्रयत्न करेगी—यह आश्वासन उस समय वित्त-मंत्री ने दिया था। इसके पश्चात् १९५०-५१ का बजट पेश करते समय भी इसके राष्ट्रीयकरण का प्रश्न लाया गया परन्तु उस समय भी यह कह कर टाल दिया गया कि देश की साख व्यवस्था एवं बैंकिंग-उन्नति की दृष्टि से इम्पीरियल बैंक का वर्तमान परिस्थिति में राष्ट्रीयकरण करना हितकर न होगा। नवम्बर १९५० में राष्ट्रीयकरण का प्रश्न फिर दोहराया गया। उस समय वित्त-मंत्री श्री देशमुख ने कहा "कि मुझे पूर्ण विश्वास है कि इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न देश के आर्थिक हितों में नहीं होगा"। वित्त-मंत्री ने यह भी स्पष्ट किया कि "इम्पीरियल बैंक की बहुत सी पूँजी भारतीयों के अधिकार में है तथा उसके कर्मचारियों का भी राष्ट्रीयकरण हो रहा है तथा कुछ वर्षों में ही इम्पीरियल बैंक हमारे नियन्त्रण में आ जायगा। अतः हमारे अपने हितों की दृष्टि से ऐसा कोई भी काम जो शीघ्रतापूर्वक किया जायगा वह अहितकर होगा"। इस प्रकार १९४८ में जो दृष्टिकोण हमारे भूतपूर्व वित्त-मंत्री ने रखा था वह आज भी है। इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न स्थगित सा ही हो गया है। इससे ज्ञात होता है कि हमारी सरकार भी बैंकों का स्वामित्व अपने पास लेने को तैयार नहीं है। जहाँ तक सरकारी नियन्त्रण का प्रश्न है वह तो सरकार का है ही। बैंकों के राष्ट्रीयकरण में अब हमारी सरकार के सामने वही असुविधाएं हैं जो उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिए हैं। इस समय हमें चाहिए कि बैंकों की राष्ट्रीयकरण की माँग न करके उनको सुदृढ़ और जनहित के योग्य बनाने की माँग करें।

इस समय देश का हित इसमें है कि बैंकों का राष्ट्रीयकरण न करके एकीकरण किया जाय। यदि बैंक बलिष्ठ बनानी हैं और उनको संकट से बचा कर उनसे देश के आर्थिक आयोजन में काम लेना है तो आवश्यकता है कि निर्बल तथा बिखरे साधनों को एक साथ मिला कर मजबूत बना दिया जाय और तब उन्हें सुयोग्य, अनुभवी और ईमानदार सचालकों के प्रबन्ध में रख दिया जाय। राष्ट्रीयकरण के स्थान पर बैंकों का एकीकरण किया जाय। राष्ट्रीयकरण में चाहे सरकार का स्वामित्व और नियंत्रण हो जावे परन्तु निर्बल और अयोग्य बैंक दूर न हो सकेंगी और इनके रहते सदैव खतरा ही बना रहेगा। अतः कई-कई छोटी-छोटी और साधनहीन बैंकों को मिलाकर एक कर देना चाहिए। इसमें नई बैंक के साधन दृढ होंगे और प्रबन्धक भी सुयोग्य ही मिल सकेंगे। देश में बैंकिंग विशेषज्ञों की कमी भी दूर हो जायगी और निर्बल बैंक भी मिल कर दृढ बन जाएँगी। बैंकों के एकीकरण में कोई विशेष असुविधा का सामना नहीं है। प्रायः कई-कई बैंक एक ही संचालक-मण्डल के प्रबन्ध में हैं। ये सचालक-मण्डल मिल कर कई-कई बैंकों का एकीकरण कर सकते हैं। मार्च १९५० में बंगाल में कौमिला यूनियन, कौमिला बैंक तथा अन्य बैंकों को मिलाकर बंगाल कमर्शियल बैंक बनाया गया था। सरकार को इस ओर और ध्यान देना चाहिये।

वर्तमान परिस्थितियों में जब कि सरकार पूँजी के अभाव में बैंकों का स्वामित्व नहीं ले सकती, योग्य विशेषज्ञों के अभाव में उनका सचालन नहीं कर सकती, और जब रिज़र्व बैंक का पहिले ही इन पर काफी नियंत्रण है, राष्ट्रीयकरण की योजना हितकर नहीं है। अब तो राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य बैंकिंग कानून बनाकर पूरा हो ही रहा है और एकीकरण के द्वारा और भी अधिक पूरा हो जायगा। आज की परिस्थितियों में केन्द्रीय बैंक का ही राष्ट्रीयकरण पर्याप्त है।

२८—स्टर्लिंग-क्षेत्र व्यवस्था

डॉलर के प्रश्न को लेकर स्टर्लिंग को डॉलरों में परिवर्तित कराने की जो समस्या उठी हुई है उसमें अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र में स्टर्लिङ्ग के प्रति आलोचना और अविश्वास बढ़ता जा रहा है। इतना ही नहीं, स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र व्यवस्था को ही समाप्त करने की दलीलें दी जाती हैं और स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र के सदस्य-राष्ट्र स्वयं इस बात को सोचने लगे हैं कि उन्हें इस क्षेत्र से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेना चाहिए। किन्तु वास्तविकता कुछ और ही है जिसे समझने के लिए स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र की कार्यप्रणाली का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र में इगलैण्ड के साथ-साथ एशिया के भी कई राष्ट्र सम्मिलित हैं जिनमें भारत, पाकिस्तान लंका, ब्रह्मदेश मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा रोडेशिया भी इसके सदस्य हैं। सभी सदस्य-देश अपनी-अपनी विदेशी मुद्रा की कमाई को केन्द्रित करके एक कोष बनाकर इंगलैण्ड में जमा रखते हैं। आवश्यकता के समय सदस्य-देश इस कोष में से राशि लेकर उससे काम चलाते हैं। किन्तु कोई भी सदस्य-देश केन्द्रीय कोष में से असीमित मात्रा में राशि नहीं निकाल सकता। सभी सदस्यों ने मिलकर कुछ नियम बना रखे हैं जिनके अनुसार ही केन्द्रीय कोष में से राशि निकाली जा सकती है। यदि प्रत्येक सदस्य अपनी-अपनी इच्छानुकूल इस कोषमें से राशि निकालने लगें तो यह व्यवस्था कार्यान्वित नहीं रह सकती। अतः सदस्य-देशों को अपनी अपनी विदेशी मुद्रा की माँग को, विशेषकर डॉलर की माँग को, नियंत्रित करके संयम रखने की आवश्यकता होती है। पिछले कई वर्षों से डॉलर का विश्वव्यापी अभाव चल रहा है जिसके परिणामस्वरूप स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र के स्वर्ण एवं डॉलर कोष कम होते रहे हैं। इस कमी को दूर करने के लिए सितम्बर १९४९ में स्टर्लिङ्ग के डॉलर-मूल्य में कमी की गई परन्तु अब समस्या फिर ज्यों की त्यों बनी हुई है। पिछले चार वर्षों में स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र के स्वर्ण एवं डॉलर कोष की स्थिति इस प्रकार रही :—

वर्ष	अभाव (−) अथवा आधिक्य (+) (०००,००० डॉलर)	वर्ष के अन्त में कोष की स्थिति (०००,००० डॉलर)
१९४७	−४१३१	२०७९
१९४८		
द्वितीय तिमाही	−६३२	१६५१
तृतीय तिमाही	−२४६	१४२५
१९५०	+८०५	३३००
१९५१		
प्रथम तिमाही	+३६०	३७५८
द्वितीय तिमाही	+५४	३८६७
तृतीय तिमाही	−६३८	२२६६
अंतिम तिमाही	−९३४	२३३५

इन आँकड़ों से एक महत्वपूर्ण बात यह मालूम होती है कि १९४९ में स्टर्लिङ्ग के अवमूल्यन से पहिले और पीछे कोष में जितना अभाव रहा उससे अधिक अभाव १९५१ की तीसरी और अन्तिम तिमाही में रहा। परन्तु तो भी १९५१ में कोष की स्थिति अच्छी रही। इसका कारण यह है कि १९५० में कोष में अधिक राशि जमा होती रही। इसका कारण यह था कि अमरिका कच्चे माल को इकट्ठा करने में लगा हुआ था और स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्य देश उसको माल बेच बेचकर डॉलर कमा रहे थे। परन्तु १९५१ में अमरीका ने कच्चा माल संग्रह करना बन्द कर दिया और तभी एक साथ डॉलर की कमी हो गई। दूसरी बात यह थी कि १९५१ की तृतीय तिमाही में अमरीका से तम्बाकू और कपास अधिक खरीदे जा रहे थे जिनके बदले में डॉलर चुकाए जा रहे थे। इसके विपरीत स्टर्लिङ्ग क्षेत्र से ऊन और कोकोआ का निर्यात कम हो रहा था जिससे डॉलर की आय कम हो रही थी। इस प्रकार डॉलर का भुगतान बढ़ने से तथा डॉलर की आय कम होने से दुहरी मार थी। अब परिस्थिति यह है कि सदस्य देशों को अपने अपने डॉलर व्यय में कमी कर देनी चाहिए। यदि अब भी सदस्य देश अपनी मनमानी व्यापार-नीति बरतते रहे तो स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के डॉलर

कोष शीघ्र ही (१९५२ के अन्त तक) समाप्त हो जायगे और तब संसार में स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के सभी सदस्यों को एक भारी संकट का सामना करना पड़ेगा।

इस विषय में एक नई बात यह है कि केन्द्रीय कोष में से इंगलैण्ड अपनी कमाई से अधिक व्यय करता रहा है तथा अन्य सदस्य-देश व्यय से अधिक कमाते रहे हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य देश इस व्यवस्था को तोड़ कर अपना सम्बन्ध-विच्छेद करलें। संसार का अधिकांश व्यापार आज स्टर्लिङ्ग के द्वारा होता है। अतः स्टर्लिङ्ग की साख बनाए रखना केवल स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के सदस्य-देशों का ही काम नहीं वरन् संसार के उन सब देशों का कर्तव्य है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को उन्नत करना चाहते हैं। कुछ लोगों का ख्याल है कि यदि किसी सदस्य देश को इङ्गलैण्ड स्थित कोष में से आवश्यक मात्रा में डॉलर न मिल सकें तो उसे स्टर्लिङ्ग क्षेत्र का सदस्य रहने से कोई लाभ नहीं—उसे क्षेत्र से अपना सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए। परन्तु यह बात व्यावहारिक नहीं है। स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र व्यवस्था से केवल यही एक लाभ नहीं कि सदस्य-देशों को आवश्यकतानुसार डॉलर मिलते रहें वरन् और भी कई लाभ हैं जिनके लिए स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र व्यवस्था का अक्षुण्ण रहना अनिवार्य है। इन लाभों को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है—

(अ) व्यापार-स्वातन्त्र्य की सुविधाएँ।

(ब) पूँजी के आदान प्रदान की सुविधाएं।

केन्द्रीय कोष के होने से स्टर्लिंग क्षेत्र भर का, विशेषतः क्षेत्र के सदस्यों का व्यापार डॉलर-क्षेत्र वाले देशों के साथ सरलता पूर्वक हो सकता है। सदस्य देश इस कोष पर निर्भर रहते हुए अपनी विदेशी व्यापार सम्बन्धी दीर्घकालीन नीतियाँ बनाकर अपने व्यापार को उन्नत बना सकते हैं। केन्द्रीय कोष के होने से सदस्य-देश इन साधनों का प्रयोग करने में स्वतंत्र और आश्वस्त रहते हैं। यदि कोष केन्द्रित करके न रक्खा जाय तो प्रत्येक देश को अपना अपनी आर्थिक व्यवस्था और विदेशी व्यापार नीति के अनुरूप अपने अपने व्यक्तिगत कोषों को घटाने बढ़ाने की आवश्यकता होगी। परन्तु इस प्रकार की दुविधा से अब प्रत्येक सदस्य-देश स्वतंत्र है। यह ठीक है कि युद्धकाल में तथा इसके पश्चात् भी समय-समय पर कई सदस्य-देशों को डॉलरों का अभाव रहा

है, परन्तु इस प्रकार इन देशों को डॉलर-क्षेत्र के साथ किए जाने वाले अपने व्यापार पर अधिक चौकसी की आवश्यकता नहीं रही। यदि प्रत्येक देश अपने अलग अलग डॉलर कोष बनाकर रखता तो उन्हें डॉलर क्षेत्र से होने वाले अपने व्यापार पर इससे भी अधिक चौकसी और नियन्त्रण की आवश्यकता होती और सम्भव है तब उनका व्यापार इतना विकसित न हो पाता। यह भी सम्भव है कि तब उनके वैदेशिक, विशेषत डॉलर क्षेत्र वाले व्यापार में अनिश्चित घटा बढ़ी होने के कारण उन्हें डॉलर क्षेत्र से होने वाले अपने आयातों पर अधिक काट छाँट करनी पड़ती जिससे उनकी विकास योजनाओं को भारी धक्का लगने की आशंका हो सकती थी।

केन्द्रीय कोष का सबसे महत्वपूर्ण लाभ यह रहा है कि इसके द्वारा क्षेत्र के सदस्य देशों में पारस्परिक व्यापार एवं भुगतान सरलता और स्वतन्त्रतापूर्वक चलते रहे हैं। स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र के सदस्यों में पारस्परिक व्यापार सम्बन्धी रोक-थाम इतनी अधिक नहीं है जितनी अन्य देशों में, और जो कुछ है भी वह नहीं के बराबर है। इंगलैण्ड ने तो स्टर्लिंग क्षेत्र से होने वाले आयातों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा रखा है। हाँ अन्य सदस्य देशों ने कुछ नियंत्रण और प्रतिबन्ध लगाए हैं परन्तु फिर भी संसार के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा इस क्षेत्र में व्यापार और भुगतान सम्बन्धी सुविधाएँ सबसे अधिक हैं। जिन देशों के साथ इंगलैण्ड ने व्यापारिक समझौते किए उनके साथ स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशों का लेन देन इस क्षेत्र में होने के कारण सरलतापूर्वक चलता रहा। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड ने योरपीय भुगतान संघ के देशों के साथ व्यापारिक लेन देन का कार्य आरम्भ करने की योजना की थी। इसका परिणाम यह हुआ कि स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के सदस्य देश भी इन देशों के साथ सरलता पूर्वक अपने व्यापारिक लेन देन करते रहे। कहने का अर्थ यह है कि इंगलैण्ड ने स्टर्लिङ्ग क्षेत्र और योरोपीय भुगतान संघीय देशों में होने वाले व्यापार में समाशोधन गृह का काम किया है।

स्टर्लिङ्ग क्षेत्र व्यवस्था होने के कारण इंगलैण्ड से अन्य देशों में पूँजी का अविरोध आवागमन होता रहा है। स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के किसी भी सदस्य देश को इंगलैण्ड में पूँजी प्राप्त करने की उतनी ही स्वतन्त्रता है जितनी इंगलैण्ड स्थित

किसी व्यापारिक कम्पनी को हो सकती है। अन्तर केवल यह है कि इंगलैण्ड में पूँजी एकत्रित करने वाली बाह्य कम्पनियों को इंगलैण्ड में यह विश्वास दिलाना होता है कि उन्हें पूंजी की वास्तविक आवश्यकता है और वह उनके अपने देश में पूर्ण नहीं हो सकती। आंकड़ों से ज्ञात होता है कि १९४७ से १९५१ तक इंगलैण्ड से कोई ६०,००,००,००० पौण्ड की पूँजी स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र के अन्य देशों में भेजी गई।

स्टर्लिंग-क्षेत्र की सदस्यता का एक विशेष लाभ यह है कि सदस्य-देशों को इंगलैण्ड के बाजारों में लेन-देन की सुविधा बनी रही है। यह कोई कम लाभ की बात नहीं है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस क्षेत्र को तोड़ने के बजाय सुदृढ़ बनाया जाय और सब सदस्य मिलकर केन्द्रीय कोष को भरपूर कर दें।

२६—पौण्ड-पावने तथा उनका भुगतान

द्वितीय विश्व युद्ध की भारत को एक देन यह रही कि इङ्गलैण्ड की सरकार पर भारत का करोड़ों रुपया का कर्जा हो गया। युद्ध से पहिले भारत इङ्गलैण्ड के साम्राज्यवादी ऋण से दबा हुआ था। युद्धकाल में यह सब ऋण चुका दिया गया। इतना ही नहीं, भारत ने भूखे पेट और नंगे शरीर रह कर इङ्गलण्ड को करोड़ों रुपये का माल भेजा। इस माल के बदले में जो राशि हमें मिलनी चाहिए थी वह हम उस समय न मिली वरन् हमारे हिसाब में जमा होता रहा। इस प्रकार देनदार से हम लेनदार (Creditor) बन गए और इङ्गलण्ड पर हमारा लगभग १७०० करोड़ रुपये का कर्जा हो गया। इसी ऋण को 'पौंड पावना' कहते हैं। इस ऋण को 'पौंड पावना' क्यों कहा जाता है तथा यह किस प्रकार इकट्ठा होता गया? यह सब कुछ जानना बहुत आवश्यक है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट की धारा ३३ के अनुसार रिजर्व बैंक को यह अधिकार था कि वह सोने चाँदी के अतिरिक्त कुछ सिक्यूरिटीज रख कर भी नोट चला सकता है। इन सिक्यूरिटीज में कुछ तो भारत सरकार के बिल होते थे तथा कुछ इङ्गलैण्ड की सरकार के बिल होते थे। इङ्गलैण्ड की सरकार के बिलों का भुगतान स्टर्लिङ्ग में होता था इसलिए इन्हें 'स्टर्लिङ्ग-सिक्यूरिटीज' कहते हैं। युद्धकाल में भारत सरकार इगलैण्ड की सरकार को माल खरीद खरीद कर भेजती रही और इङ्गलैण्ड की सरकार स्टर्लिङ्ग-सिक्यूरिटीज देकर इस माल का भुगतान चुकाती रही। ये स्टर्लिङ्ग सिक्यूरिटीज रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया में जमा होती रहीं और रिजर्व बैंक इनके आधार पर नोट छाप-छाप कर चलाता रहा। स्टर्लिङ्ग की यह राशि जो इङ्गलैण्ड में हमारे हिसाब में जमा होती रही और जिसके बदले में रिजर्व बैंक को स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज मिलती रहीं 'पौंड पावना' कहलाता है। इस प्रकार हमारे देश में नियन्त्रित मूल्यों (Controlled Prices) पर माल खरीदा गया और पौंड-पावने इकट्ठे होते रहे। वस्तुओं का उत्पादन भी अधिक न बढ़ सका।

इसलिए नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए माल मिलना बहुत कठिन हो गया और उन्हें चौगुने दसगुने मूल्यों पर चोर-बाजार से माल खरीदना पड़ता था।

यदि हमें इन पौण्ड-पावनों के स्थान पर सोना चाँदी या पूँजीगत माल, जैसे मशीनें आदि, मिलतीं तो पौंड-पावनों की इतनी वृद्धि नहीं होती और भारत में जनता को इतनी कठिनाइयाँ नहीं उठानी पड़तीं। प्रथम महायुद्ध काल में भारतीय मुद्रा का विदेशी मूल्य बढ़ता गया। एक समय ऐसा आया जबकि रुपये की दर २ शि० १० पें० हो गई। इसका यह परिणाम निकला कि वस्तुओं के मूल्य इतने नहीं घटे जितने द्वितीय युद्धकाल में बढ़े या उसके बाद अब बढ़ रहे हैं। द्वितीय युद्धकाल में रुपये की विनिमय-दर की स्थिरता पर विशेष ध्यान दिया गया। दर तो स्थिर रही परन्तु वस्तुओं के मूल्य धीरे धीरे बढ़ते गए। गल्ले का मूल्यदेशनांक १९३९ में १०० के बराबर था जो कि अगस्त १९४८ में ४७४·७ हो गया। यह बात सभी वस्तुओं के मूल्यों के साथ हुई। अतः इन पौंड-पावनों के एकत्रित होने से जनता के आर्थिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। हमारी धारणा यह है कि यदि वस्तुओं के मूल्यों की स्थिरता पर ध्यान दिया जाता और रुपये की दर को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता तो न तो ये पौंड-पावने इकट्ठे होते और न हमें इतनी आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ता। इसका कारण यह है कि ज्यों-ज्यों रुपये की दर ऊँची होती जाती इंगलैण्ड की सरकार को भी हमारे यहाँ का माल ऊँचे मूल्यों पर मिलता। फलस्वरूप या तो ब्रिटिश सरकार यहाँ से माल न खरीदकर अन्य देशों से खरीदती और या हमारे देश में माल की उत्पत्ति बढ़ाने के प्रयत्न किए जाते। इस सम्बन्ध में रिज़र्व बैंक ने भी सरकार को कोई सलाह नहीं दी जिससे दर की स्थिरता पर ध्यान न देकर मूल्यों की स्थिरता पर ध्यान दिया जाता। इन पावनों का एक बुरा परिणाम यह हुआ कि हमारे देश में मुद्रास्फीति अधिकाधिक बढ़ती गई। सन् १९३९ में हमारे देश में कुल १८० करोड़ रुपये के नोट चलते थे लेकिन १९४७-४८ में कुल नोट १२०४ करोड़ रुपये के हो गए। इस मुद्रास्फीति का परिणाम यह हुआ कि वस्तुओं के भाव लगातार बढ़ते ही गए और देशवासियों को अभूतपूर्व संकट का

सामना करना पड़ा। हाँ, इनके इकट्ठे होने से देश लेनदार अवश्य हो गया परन्तु इसके साथ-साथ देश का आर्थिक ढाँचा भी तितर-बितर हो गया। बंगाल का अकाल और आकाश को छूते हुए मूल्यस्तर इसी के परिणाम थे। पौंड-पावना हमारे त्याग और बलिदानों का समूह है। पौंड-पावने इङ्गलैण्ड में हमारी सबसे बड़ी सम्पत्ति थी। उसका समुचित उपयोग हमारे कई आर्थिक प्रश्नों को सरलता से हल कर सकता था। आज भारत के आर्थिक उत्थान की अनेक योजनाएँ मशीनों और दूसरे पूंजीगत माल के अभाव में अधूरी पड़ी हैं। देश के विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि पूँजीगत माल हमें मिले। इसको खरीदने के लिए हमारे पास एक मात्र साधन पौंड पावने ही थे। परन्तु इङ्गलैण्ड उस समय इस परिस्थिति में नहीं था कि वह हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाता। उसे तो खुद ही अमरीका का दरवाजा खटखटाना पड़ रहा था। परन्तु अमेरिका से माल खरीदने के लिए हमें पौंड पावनों को डालरों में बदलवाने की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए हमारे सामने एक समस्या थी जिसको सुलझाने के लिए भारत सरकार ने इङ्गलैण्ड के साथ कई समझौते किए।

१६४७ का समझौता

जनवरी १६४७ में भारत और इंगलैण्ड के एक समझौते के अनुसार भारत को इन पौंड पावनों के बदले में स्टर्लिंग-क्षेत्र से माल खरीदने का अधिकार था। परन्तु यह समझौता अधिक दिन न टिक सका। इसी बीच इंगलैण्ड और अमरीका में एक आर्थिक समझौता हुआ। इससे परिस्थिति बदल गई और इङ्गलैण्ड को फिर भारत के साथ एक नए सिरे से समझौता करना पड़ा। १४ अगस्त १६४७ को भारत और इंगलैण्ड के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार बैङ्क ऑफ इंगलैण्ड में इन पावनों के दो खाते खोल दिए गए। खाता नं० १ में ६$\frac{1}{2}$ करोड़ पौण्ड जमा किया गया जिनको खर्च करके किसी भी देश से माल खरीदा जा सकता था। बचा हुआ कोष जो लगभग ११६ करोड़ पौंड था खाता नं० २ में जमा किया गया। खाता नं० २ की राशि केवल पूँजीगत माल खरीदने के काम आ सकती थी। यह भी तय हुआ कि खाता नं० २ की राशि पर साधारण ब्याज दर से अधिक ब्याज दर पर ब्याज

मिलेगी। यह समझौता पत्र-व्यवहार द्वारा आगामी ६ महीने के लिए बढ़ा दिया गया। भारत को १ करोड़ पौंड और मिले। इस विषय में यह बात समझने योग्य है कि एक वर्ष के अन्दर भारत को जो स्टर्लिङ्ग खर्च करने के लिए मिला वह खर्च नहीं हो सका। उसका कारण यह था कि न तो सरकार के पास माल आयात करने की कोई योजना थी और न पूँजीपतियों को इतना समय मिल सका कि वे बाहर से माल मगा सकते।

जुलाई सन् १९४८ का समझौता

इस समझौते की शर्तें १५ जुलाई को एक साथ भारत और ब्रिटेन में प्रकाशित कर दी गई थीं। समझौते की मुख्य शर्तें ये थीं —

(अ) १ अप्रैल १९४७ को अविभाजित भारत की सरकार ने इङ्गलैण्ड द्वारा भारत में छोड़े गए सभी फौजी सामान को अपने अधिकार में ले लिया था। इसका मूल्य उस समय निश्चित नहीं किया गया था वरन् यह बात बाद में निश्चित करने के लिए छोड़ दी गई थी। इसका मूल्य ३७½ करोड़ पौंड या ५०० करोड़ रुपये आँका गया किन्तु १० करोड़ पौंड या १३३.३ करोड़ रुपयों में यह मूल्य तय हो गया। यह राशि हमारे पौंड-पावनों में से कम कर दी गई।

(ब) समझौते का दूसरा भाग पेंशनों के विषय में है। भारत स्वतन्त्र होने के बाद बहुत से अंग्रेज अफसर रिटायर (Retire) हो गए। इनकी पेंशन देने का भार भारत सरकार पर था। समझौते के अनुसार पेंशनों का मूल्य १४ करोड़ ६५ लाख पौण्ड या १६७ करोड़ रुपये निश्चित किया गया। पेंशन चुकाने के लिए भारत सरकार ने इंगलैण्ड की सरकार से एक वार्षिकी (Annuity) खरीद ली जिसके लिए १६७ करोड़ रुपये की राशि पौण्ड-पावनों में से कम कर दी गई। यह राशि केन्द्रीय अफसरों, जो रिटायर्ड हो गए थे, की पेंशनों के चुकाने के लिए निश्चित की गई थी। इसके अतिरिक्त भारत ने प्रान्तीय सरकारों के अंग्रेज अफसरों की पेंशन चुकाने के लिए भी २० करोड़ रुपयों की एक वार्षिकी खरीद ली और यह राशि भी पौण्ड-पावने में से कम कर दी गई। इस प्रकार वार्षिकी के खाते पर कुल २२४ करोड़ रुपये कम किए गए। यह भी निश्चित किया गया

कि वार्षिकी के बदले इंगलैण्ड की सरकार भारत सरकार को प्रति वर्ष एक निश्चित राशि दिया करेगी। यह राशि ६० वर्ष तक हमें मिलती रहेगी। परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि यह एक आर्थिक समझौता ही था—जहाँ तक पेंशन देने की जिम्मेदारी का प्रश्न है वह तो भारत सरकार ही की है।

(स) इससे पिछले समझौतों के अनुसार भारत को १११ करोड़ रुपयों के पौण्ड पावने लेने का अधिकार मिला था परन्तु इसमें से केवल ४ करोड़ रुपये की राशि का ही उपयोग किया जा सका। अतः इसमें से १०७ करोड़ भारत और ले सकता था। इसके अतिरिक्त अगले तीन वर्षों के लिए इंगलैण्ड ने इस समझौते के अनुसार १०७ करोड़ रुपये के पौण्ड पावने देना और स्वीकार किया। अतः कुल मिला कर जून १९५१ तक हमें २१४ करोड़ रुपये के पौण्ड पावनों का उपयोग करने का अधिकार मिला। यह भी निश्चय किया गया कि व्यापार-सतुलन से भारत का जो आधिक्य होगा उसकी राशि का प्रयोग भी माल मँगाने में किया जा सकेगा।

इस समझौते के समय पौण्ड पावनों की राशि १५५० करोड़ रुपये आँकी गई थी। इसमें से फौजी सामान के १३३ करोड़ रुपये, पेंशनों के २२४ करोड़ रुपये तथा पाकिस्तान के हिस्से के लगभग १२६ करोड़ रुपये निकाल कर शेष १०६७ करोड़ रुपये के पौण्ड-पावने शेष रहते थे। इस राशि में से २१४ करोड़ रुपये जून १९५१ तक निकालना तय किया गया। इस प्रकार ८५३ करोड़ रुपये के पौण्ड-पावने शेष समझे गए। निम्न तालिका से यह हिसाब सरलता से समझा जा सकेगा—

इस समझौते के समय पौण्ड पावनों का मूल्य		१५५० करोड़ रु.
व्यय— (१) फौजी सामान खरीदने में	१३३ करोड़ रु०	
(२) पेंशनों के लिए वार्षिकी	२२४ ,,	
(३) पाकिस्तान का हिस्सा	१२६ ,,	४८३ ,,
शेष		१०६७ करोड़ रु०

जून १९५१ तक मिलने को निश्चित की गई राशि

(१) पिछले समझौतों का शेष १०७ करोड़ रु.

(२) इस समझौते की नई राशि १०७ करोड़ रु० २१८ ,,

जून १९५१ को बचनेवाली अनुमानित राशि ८५३ करोड़ रु०

इस समझौते के अनुसार तय किया गया कि जून १९५१ तक मिलने वाली १०७ करोड़ रुपये की नई राशि में से अगले वर्ष में केवल २० करोड़ रुपये के पौण्ड-पावने ही डॉलर या अन्य किसी दुर्लभ-मुद्रा में बदले जा सकते हैं। यद्यपि एक वर्ष में २० करोड़ रुपये के मूल्य के ६ करोड़ डॉलर आवश्यकता से बहुत कम थे परन्तु एक वर्ष में इससे अधिक राशि इंगलैण्ड दे भी नहीं सकता था।

इस समझौते का भारत में मिश्रित स्वागत हुआ। एक ओर तो कई व्यापारिक संस्थाओं, उद्योगपतियों एवं अर्थशास्त्रियों ने इसे भारत के हित में बताया और दूसरी ओर कई अर्थशास्त्रियों एवं राजनीतिज्ञों ने इसे भारत के अहित में कहा। भारत की विधान सभा में भी इस समझौते पर काफी वाद-विवाद हुआ। आलोचकों में श्री मनु सूबेदार तथा श्री के० टी० शाह मुख्य थे। कुछ भी हो, भारत को उस समय राशि की आवश्यकता थी और इस समझौते से माल आयात करने के लिए राशि मिल गई।

१९४९ का स्टर्लिङ्ग समझौता

जुलाई १९४९ में स्टर्लिङ्ग प्राप्त करने के सम्बन्ध में लन्दन में फिर बातचीत हुई और एक नया समझौता हुआ। यह समझौता उस समय हुआ जबकि ब्रिटेन के आकाश में भीषण आर्थिक संकट के काले बादल छाये हुए थे। इंगलैण्ड में डॉलर-सम्पत्ति की विशेष कमी थी। इस समझौते के अनुसार भारत को १९४८-४९ में ८ करोड़ १० लाख पौंड मिलने का निश्चय हुआ। इसके साथ दोनों अगले वर्षों में अर्थात् जून १९५० के अन्त तक और जून १९५१ के अन्त तक ५ करोड़ पौंड प्रति वर्ष मिलना तय हुआ। इसके अतिरिक्त इसे लगभग ५ करोड़ पौंड की राशि मिलनी और तय हुई जो 'ओपन जनरल लाइसेंस' (११) के अन्तर्गत जुलाई १९४९ से पहिले मँगाए हुए माल के बदले में भुगतान चुकाने के लिए दी गई थी। अब रहा स्टर्लिङ्ग को डॉलर या दुर्लभ-मुद्रा में बदलने का प्रश्न। भारत को केन्द्रीय कोष

(Central Reserve) में १४ या १५ करोड़ डॉलर देने की व्यवस्था की गई। इसके साथ-साथ हमारे ऊपर एक जिम्मेदारी भी दी गई। जिम्मेदारी यह है कि भारत ने जितने मूल्य का माल डॉलर क्षेत्रों से १९४८ में मँगाया था, उसका ७५% ही अगले वर्षों में मंगाया जा सका अर्थात् अमरीका से होने वाले १९४८ के आयात में २५% कमी करके ही आयात किया जा सका है। लेकिन इस बात की छूट दे दी गई कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से उधार लेकर कितना ही माल आयात किया जा सकता था।

इस नए समझौते के अनुसार १९४८-४९ में हमें ८ करोड़ १० लाख पौंड मिले जो हमने जुलाई १९४९ से पहिले ही खर्च कर दिए थे और जिनके लिए जुलाई १९४८ वाले समझौते में कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। इस समझौते के अनुसार १९५० और १९५१ में प्रतिवर्ष जून के अन्त तक ५ करोड़ पौंड मिलने तय हुए, जबकि पिछले समझौते के अनुसार केवल ४ करोड़ पौंड प्रतिवर्ष मिलने की ही व्यवस्था की गई थी। १९४८ के समझौते के अनुसार केवल ६ करोड़ डॉलर १९४८-४९ जून तक मिलने की व्यवस्था की गई थी परन्तु नए समझौते के अनुसार १४ या १५ करोड़ डालर मिलने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार नया समझौता पुराने समझौते की अपेक्षा अधिक हितकर था। इंगलैण्ड के अखबारों ने तो इस समझौते के सम्पन्न होने पर इंगलैण्ड की सरकार के विरुद्ध आरोप लगाया था कि भारत सरकार की आशा से अधिक स्टर्लिङ्ग-राशि दे दी गई। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी परिस्थिति में इससे अच्छा और हितकर समझौता और दूसरा नहीं हो सकता था। परन्तु जो स्टर्लिङ्ग हमें डॉलरों में बदलने के लिए मिले थे उनका मूल्य स्टर्लिङ्ग का अमूल्यन होने के कारण ३०.५% प्रति शत कम हो गया है। इसी प्रकार यदि बचे हुए पौंड पावनों को डॉलरों में बदलवाया जाय तो उनका मूल्य ३०.५% कम हो जायगा।

१९५२ का समझौता

८ फरवरी १९५२ के अन्तिम आँकड़ों के अनुसार भारत की कुल स्टर्लिङ्ग पूँजी ५७ करोड़ पौण्ड अर्थात् ७६१ करोड़ रुपये है। भारत सरकार के रिज

मंत्री ने अपने पिछले इंगलैण्ड के दौरे पर, जहाँ वह कॉमनवेल्थ वित्त-मंत्रियों के सम्मेलन में भाग लेने गए थे, इंगलैण्ड की सरकार से एक और समझौता किया है जिसकी अवधि ३० जून १९५७ तक है। इस समझौते के अनुसार भारत अपने पौण्ड-पावनों में से ३० जून १९५७ तक ३½ करोड़ पौण्ड प्रति वर्ष के हिसाब से निकाल सकेगा। ब्रिटिश सरकार प्रति वर्ष ३½ करोड़ पौण्ड स्थिर खाते नं० २ में से खाता नं० १ में जमा करेगी। इसके अतिरिक्त नं० २ खाते में से ३१ करोड़ पौण्ड की एक और राशि नं० १ खाते में जमा की जायगी। यह राशि सुरक्षित राशि के तौर पर होगी तथा इसमें से केवल संकटकालीन स्थिति में ही इंगलैण्ड की सरकार की पूर्व सलाह के साथ राशि निकाली जा सकेगी। १९५७ में इस समझौते की अवधि समाप्त होने पर पुन: वार्ता की जायगी, जिसमें इस समझौते की अवधि बढ़ाने या इसके स्थान पर दूसरा समझौता करने पर विचार होगा।

इस समझौते की घोषणा से वे समस्त सन्देह तथा भय दूर हो गए हैं जो इंगलैण्ड में चर्चिल सरकार के बन जाने के कारण उत्पन्न हो गए थे। अब इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं कि हमारे पौण्ड-पावने हमें सम्मानपूर्वक वापिस मिल जाएंगे। पहिले यह भय होता था कि कहीं इंगलैण्ड की सरकार इनको चुकाने से मना न कर बैठे परन्तु अब इस प्रकार का कोई भय नहीं है।

कुछ भी हो, हमने अपनी स्टर्लिंग-सम्पत्ति को आशा से कम समय में लगभग समाप्त कर दिया। सारी सम्पत्ति अन्न तथा उपभोग की दूसरी वस्तुओं को खरीदने में ही समाप्त हो गई। युद्ध के बाद इन पौण्ड-पावनों पर भारत की आशा लगी हुई थी कि इनसे पूँजीगत माल, जैसे मशीन आदि, खरीद-खरीद कर देश की आर्थिक योजनाओं को सफल बनाया जायगा। परन्तु सारी सम्पत्ति पेट भरने में ही समाप्त हो चली और देश के औद्योगिक विकास की योजनाएं केवल अधूरी सपूरी ही रह गईं। जिन पौंड-पावनों के कारण देश में मुद्रा-स्फीति हुई, अकाल पड़े, भुखमरी फैली, लोग भूखे रहे और नंगे फिरे—वही पूँजी अन्न मंगाने में समाप्त हो गई और देश की उत्पादन शक्ति बढ़ाने में काम न आई। अब भी जो कुछ राशि शेष है उसका सदुपयोग कर लेना चाहिए।

———

३०—मुद्रा-स्फीति

युद्धकालीन व युद्धोत्तरकालीन रूपान्तर

भारतीय मुद्रा के इतिहास में द्वितीय विश्वयुद्ध की सबसे बड़ी देन 'मुद्रा स्फीति' है जिसके अन्तर्गत देश में मुद्रा की मात्रा बढती गई, परन्तु वस्तुओं का उत्पादन उतनी मात्रा में नहीं बढा। परिणाम यह हुआ कि मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो गई और वस्तुओं के भाव आकाश को छूने लगे। युद्धकाल में मुद्रा और साख का इतना अकल्पनीय विस्तार हुआ कि वस्तुओं की मात्रा की तुलना में लोगों की माल खरीदने की शक्ति बढ गई। इस दृष्टिकोण से भारत में मुद्रास्फीति युद्धकाल में भी थी और युद्धोत्तर काल में भी, परन्तु युद्धकालीन एव युद्धोत्तरकालीन मुद्रास्फीति में कुछ ऐसा रूपान्तर है जिसे समझना आवश्यक है।

युद्धकाल में सरकार की मुद्रानीति अधिक से अधिक मात्रा में पत्र मुद्रा चलाकर युद्ध-व्यय को पूरा करने की थी। अगस्त १६३६ में कुल मिलाकर १७६ करोड़ रुपए के नोट चलते थे, परन्तु १६४७ में नोटों की कुल संख्या १२४२.८६ करोड़ रुपये हो गई। नोट-वृद्धि के साथ साथ देश में मूल्य-स्तर भी बढता गया। अगस्त १६३६ के मूल्य-स्तर की अपेक्षा जनवरी १६४५ के मूल्य-स्तर में लगभग २५० प्रतिशत की बढोत्तरी हुई। मूल्यों की बढ़ोत्तरी निम्न तालिका से स्पष्ट होती है :—

वर्ष	नोटों की संख्या (करोड़ों में)	अर्थ-सलाहकार के मूल्याङ्क (१६३६ = १००)
१६३६	१७६	१००
१६४०	२३८	१३३
१६४१	२४५	११४
१६४२	३५६	१४५
१६४३	५६३	१६५
१६४४	८८२	२३२
१६४५	१०३४	२५०

इस तालिका के मूल्याङ्क उन वस्तुओं के हैं जिन पर सरकार का नियन्त्रण था और जिनके मूल्य भी सरकार ने नियत कर रक्खे थे। अगर उन वस्तुओं के मूल्यों को लिया जाय जो चोर-बाजार में बिकती थीं तो मूल्यों की बढ़ोतरी का प्रतिशत ८०० से भी आगे बढ़ जायगा।

इस प्रकार नोटों की संख्या बढ़ती गई और साथ ही साथ वस्तुओं के मूल्य भी चढ़ते गए। इन दोनों ही समस्याओं ने देश में मुद्रास्फीति का भान कराया। सबसे पहिले १६४३ में भारतीय अर्थशास्त्रियों ने यह आवाज उठाई कि देश में मुद्रास्फीति के चिह्न आ चुके हैं। उन्होंने समझाया कि देश में युद्ध के कारण मुद्रा की मात्रा बढ़ती जा रही है और उत्पादन उसकी अपेक्षा कम है। अर्थशास्त्रियों ने संकेत किया कि यह मुद्रास्फीति नोटों के बढ़ने के कारण पैदा हो रही है और बड़ी भयानक है। इण्डियन चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री के अधिकारियों ने भी सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। १६४६ में फिर अर्थशास्त्रियों ने सरकार को इस ओर सचेत किया और कहा कि मुद्रास्फीति के दोष बढ़ते ही जा रहे हैं इसलिए जनता को इन दोषों से बचाने के लिए सरकार को शीघ्र प्रयत्न करने चाहिएँ। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने भी इस बात को मान लिया कि देश में मुद्रास्फीति है परन्तु उसने इसको दूर करने के कोई उपाय नहीं बताये। रिजर्व बैंक के हिस्सेदारों की ८ वीं वार्षिक मीटिंग की रिपोर्ट में कहा गया था कि "देश में मुद्रा की संख्या बढ़ने के कारण मुद्रास्फीति पैदा हो गई है। परन्तु इसको दूर करने के उपाय सोचने से पहिले हमें यह सोचना होगा कि मुद्रा की संख्या क्यों बढ़ रही है। और यदि मुद्रा की संख्या बढ़ने के कारणों पर विचार करें तो पता लगता है कि उन कारणों को दूर करने में अकेला रिजर्व बैंक कुछ नहीं कर सकता।" इससे अगली रिपोर्ट में रिजर्व बैंक ने स्वीकार किया कि "मुद्रास्फीति को जीवन की आवश्यक वस्तुओं जैसे खाना, कपड़ा आदि के उत्पादन में कमी होने के कारण और भी बल मिलता जा रहा है जिससे वस्तुओं के भाव निरंतर बढ़ते जा रहे हैं।" १६४४ में रिजर्व बैंक ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में बताया कि "मुद्रास्फीति को दूर करने के लिए सरकार ने जनता से ऋण लेना आरम्भ कर दिया है तथा नए-नए टैक्स भी लगाए गए हैं। अगर इन दोनों बातों में सरकार को सफलता न

मिली तो देश में मूल्य-स्तर गिराना तथा जनता का जीवन व्यय कम करना असम्भव हो जायेगा।"

मुद्रा प्रसार का सबसे बड़ा कारण भारत सरकार द्वारा मित्र राष्ट्रों को युद्ध में आर्थिक सहायता देना था। भारत सरकार ने इंगलैण्ड और मित्र-राष्ट्रों के लिए भारत के बाजारों से अन्न, कपड़ा आदि आवश्यक माल खरीदा। यह माल युद्ध चलाने के लिए खरीदा गया था। इस माल के बदले में इंगलैंड की सरकार ने भारत सरकार को नकद रुपया नहीं दिया वरन् यह रुपया इंगलैंड भारत के हिसाब में जमा कर लिया जाता था और बदले में रिजर्व बैंक को स्टर्लिङ्ग-सिक्यूरिटियाँ दे दी जाती थीं। इन्हीं सिक्यूरिटियों के बल पर नोट छापकर चलाए जाते और व्यापारियों का भुगतान किया जाता था। इस प्रकार नोटों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती रही। पहिले पहिल इंगलैंड की सरकार ने ४२६ करोड़ रुपये का माल खरीदने के लिए भारत सरकार को आर्डर दिए। परन्तु जैसे जैसे युद्ध बढ़ता गया वैसे-वैसे अधिक माल खरीदा जाता रहा और नोटों की संख्या बढ़ती रही।

भारत जितना माल आयात करता था उससे कहीं अधिक माल निर्यात करता था। यह बात निम्नतालिका से स्पष्ट होती है:—

	व्यापाराधिक्य (भारत के पक्ष में)
वर्ष	करोड़ रुपयों में
१९३८-३९	+ १७.५६
१९३९-४०	+ ४८.८१
१९४०-४१	+ ४१.९९
१९४१-४२	+ ७९.६०
१९४२-४३	+ ८४.२५
१९४३-४४	+ ९१.३२
१९३४-४५	+ २६.०८

इस अनुकूल व्यापाराधिक्य के बदले में बाहर से न तो माल आ सका और न सोना ही मिला। इसके बदले में तो स्टर्लिङ्ग मिले जिनके आधार पर

सरकार ने नोट छापकर व्यापारियों के भुगतान चुकाए। युद्ध-काल में सोना-चाँदी भी देश से बाहर भेजे गए। फेडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री की १८वीं वार्षिक रिपोर्ट से पता चलता है कि १९४० में लगभग ३४ करोड़ रुपये का सोना बाहर भेजा गया जिसके बदले में स्टर्लिंग मिले जिनके आधार पर हमारे यहाँ मुद्रा प्रसार हुआ।

केन्द्रीय सरकार ने युद्ध काल में खर्चा भी खूब किया जिससे देश में मुद्रा प्रसार बढ़ता गया। सरकार ने रक्षा-विभाग पर काफी खर्च किया जो इस प्रकार है :—

वर्ष	रक्षा-व्यय (करोड़ रुपयों में)
१९३९-४०	४९·६४
१९४०-४१	७३·६१
१९४१-४२	१०३·९३
१९४२-४३	२६७·१३
१९४३-४४	३४५·८६
१९४४-४५	४५६·६४
१९४५-४६	३९१·२५
१९४६-४७	२९४·३४
योग—	१९८३·४०

इस प्रकार १९३९-४० से १९४६-४७ तक १९८३·४० करोड़ रुपये व्यय किए गए। इसका यह परिणाम हुआ कि देश में मुद्रा की मात्रा बढ़ती गई। इस खर्च के लिए सरकार ने जनता से ऋण लिए और भारी-भारी टैक्स भी लगाए। नोट भी छाप-छाप कर चलाये गए। सरकार ने स्टर्लिंग-सिक्यूरिटीज के आधार पर तो नोट चलाए ही—ट्रेजरी-बिलों (Treasury Bill) के आधार पर भी नोट छापे। १९३९-४० में ट्रेज़री बिलों की संख्या, जिनके आधार पर नोट छापे गए थे, २७ करोड़ रुपये थी परन्तु १९४१-४२ में इनकी संख्या ७५ करोड़ रुपये हो गई तथा १९४२-४३ में इनकी संख्या १३९ करोड़ रुपये तक जा पहुँची।

समस्या को हल करने के लिए सरकार ने जनता के प्रतिनिधियों से सलाह की। सब वर्गों ने समर्थन किया कि वस्तुओं के मूल्य बहुत ऊँचे हैं और अब उनको रोकना चाहिए। पूँजीवादियों ने उत्पादन वृद्धि पर जोर दिया और सुझाव दिए कि मजदूरों की मजदूरी निश्चित कर दी जाय, आवागमन के साधन सुव्यवस्थित किए जाए तथा आय-कर में छूट दी जाय और बैंक-दर न बढाई जाय। मजदूर-दल के नेताओं ने मनाफाखोरी तथा रिश्वतखोरी को कठोरतापूर्वक हटाने की सलाह दी। बैंको के प्रतिनिधियो ने बैंक-दर बढाने पर जोर दिया। परन्तु सभी वर्गों ने इस बात का समर्थन किया कि सरकार अपना व्यय कम करके बजट के घाटे को पूरा करे। सरकार ने इन सब सुझावों को सामने रख कर अनेक प्रयत्न किए। जीवन की आवश्यक वस्तुओं, विशेषत. अन्न और कपडे पर नियन्त्रण लगा दिए—इनके मूल्य निश्चित कर दिए गए तथा सरकार ही इन वस्तुओं के वेचने का प्रबन्ध करने लगी। मुद्रा की बढी हुई सख्या को कम करने के लिए नए-नए कर लगाए गए। सरकार ने जनता से ऋण लिए। बचत-बैंको में राशि जमा करने की सीमा बढा दी गई। कम्पनियों के द्वारा बाँटे जाने वाले लाभाश सीमित कर दिए। सरकार ने सोना भी वेचा जिससे लोग सोना खरीदकर क्रय शक्ति सरकार को लौटा दें। विदेशों से माल आयात करने की छूट दे दी गई जिससे लोग माल आयात करें और देश में माल का अभाव दूर हो। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने अपने अपने खर्चे कम करने के प्रयत्न किए। केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को दी जाने वाली सहायता कम कर दी। राज्य सरकारों ने कृषि आय-कर तथा बिक्री-कर लगा दिए। औद्योगिक उत्पादन बढाने के लिए नई-नई सुविधाएँ दी गईं। घोषणा की गई कि नए उद्योगों से कुछ निश्चित समय तक आय कर नहीं लिया जाय तथा विदेशों से यंत्रादि मँगाने पर उन पर आयात-कर की छूट दे दी गई। इससे नए उद्योग खुलने में सहायता मिली। परन्तु मुद्रास्फीति की मूल समस्या हल न हो सकी।

युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी देश में मुद्रा-स्फीति बनी रही और वस्तुओं के भाव ऊँचे चढते रहे। अगस्त १९४५ में अर्थ-सलाहकार का

मूल्यांक २४४·१ था जो नवम्बर १९४६ में बढ़कर २८९·६ हो गया। नवम्बर १९४६ के पश्चात् वस्तुओं के भाव और चढ़े और इतने बढ़ गए कि मार्च १९४७ तक मूल्यांक ३४४ हो गया और अगस्त १९४८ तक ३८३ हो गया। अन्न के भाव सबसे अधिक ऊँचे हो गए। सितम्बर १९४५ में अन्न का मूल्यांक २६४·२ था जो मार्च १९४८ में बढ़ कर ४०२ हो गया। अन्न के अतिरिक्त कच्चे माल के भाव भी बहुत ऊँचे रहे।

युद्ध के पश्चात् भी नोटों की संख्या बढ़ती ही रही। ३१ दिसम्बर १९४५ को कुल ११५४ करोड़ रुपये के नोट थे परन्तु जनवरी १९४६ में इनकी संख्या १२४८ करोड़ रुपये हो गई और जून १९४६ में यही संख्या आगे बढ़ कर १२५४ करोड़ रुपये हो गई। परिचलन (Circulation) में भी नोटों की संख्या बढ़ती ही गई। सितम्बर १९४५ में ११४१·८४ करोड़ रुपये के नोट चलते थे परन्तु जून १९४६ में यह संख्या बढ़ कर १२४१·९७ करोड़ रुपये हो गई। नीचे लिखी तालिका से यह बात स्पष्ट होती है।

(करोड़ रुपयों में)

	कुल नोटों की संख्या	चालू नोटों की संख्या	रिजर्व बैंक के पास जमा स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज
सितम्बर १९४५	११६२·७८	११४१·८४	१०४२·३२
अप्रैल १९४६	१२४५·९५	१२३५·१२	११२४७
जून १९४६	१२५४·२३	१२४१·९७	११३२·३२
नवम्बर १९४६	१२५८·८९	१२०१·२९	११३५·३२
दिसम्बर १९४६	१२५८·५९	१२१८·७८	११३५·३२
मार्च १९४७	१२५७·४७	१२४३·०३	११३५·३२

इससे एक बात यह स्पष्ट होती है कि रिजर्व बैंक के कोष में स्टर्लिंग सिक्यूरिटियों की संख्या, जिनके बल पर युद्धकाल में नोट छापे गए थे, लगभग स्थिर रही परन्तु नोटों की संख्या बढ़ती गई। इसका अर्थ यह निकलता है कि युद्धोत्तरकाल में युद्धकाल की भाँति स्टर्लिङ्ग के आधार पर नोट नहीं छापे गए वरन् देश में रुपये की आवश्यकता को पूरा करने के लिए व बजट के घाटे को

पूरा करने के लिए नोट छापकर चलाए गए। सरकार को काश्मीर की लड़ाई के लिए, हैदराबाद की चढ़ाई के लिए तथा बेघर लोगों को बसाने के लिए रुपये की आवश्यकता थी और इसलिए नोटों की संख्या बढ़ाई गई। सरकारी कर्मचारियों और मजदूरों के वेतन में वृद्धि होने के कारण भी सम्भवतः कुछ अधिक मुद्रा की आवश्यकता हुई, पर मुद्रा में यह वृद्धि उस समय हुई जबकि उत्पादन में एक तिहाई कमी हो गई थी। युद्धकाल में विदेशी सरकार की रुपये की कमी को पूरा करने के लिए मुद्रा प्रसार हुआ तथा युद्धोत्तरकाल में भारत सरकार की रुपये की कमी को पूरा करने के लिए नोट चलाए गए इसलिए मुद्राप्रसार हुआ।

युद्ध के पश्चात् केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के बजट घाटे में चलते रहे जिसे पूरा करने के लिए पहिले तो नोट छापे गए तथा बाद में रिजर्व बैंक की रोकड़ राशि में से खर्च किया गया। इससे मुद्रा की संख्या बढ़ती गई। बजट में घाटा होने के कारण थे—अन्न पर असाधारण खर्चा, बेघर लोगों को बसाने का खर्चा तथा सरकारी खर्चों में बढ़ोत्तरी आदि। केन्द्रीय सरकार के बजटों का घाटा इस प्रकार रहा:—

(करोड़ रुपयों में)

	१९४५-४६	१९४६-४७ संशोधित	१९४७-४८ संशोधित	१९४८-४९ संशोधित
आय	२६०·६७	३३६·१९	१७८·७७	३३८·२२
व्यय	४८४·५७	३८१·४८	१८५·२९	३३९·८७
घाटा	—१२३·९०	—४५·२९	—६·५२	—१·५५

इसी प्रकार प्रान्तीय सरकारों के बजट भी घाटे में चलते रहे जिसे पूरा करने के लिए मुद्रा शक्ति बढ़ाई गई परन्तु उत्पादन न बढ़ाया जा सका।

युद्ध के बाद माल का उत्पादन भी कम होता गया। 'ईस्टर्न एकौनोमिस्ट' द्वारा तैयार किए गए उत्पादन के अङ्कों से पता चलता है कि १९४३-४४ में औद्योगिक उत्पादन के अंक १२९·८ थे जो १९४६-४७ में १०५ हो गए। अन्न उत्पादन का तो और भी बुरा हाल रहा। १९३६-३७ व १९३७-३८ में अन्न उत्पादन के औसत अङ्क १०० थे जो १९४५-४६ में घटकर ९४ में आ गए

तथा १९४६-४७ में ९६ और १९४७-४८ में ९७ हो गए। इस प्रकार उत्पादन की कमी होने से बाजार में माल की कमी रही और भाव चढ़ते रहे। औद्योगिक उत्पादन गिरने के कारण ये थे—सरकार द्वारा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का विचार, कच्चे माल की कमी, मजदूरों की हड़ताल, मशीनों की खराबी, भारी-भारी टैक्स तथा ऊँची-ऊँची मजदूरी का भुगतान, आदि, आदि। १९४६ में उद्योगों में श्रम-विवादों के कारण १,२०,००,००० पुरुष-दिन खोये और १९४७ में १,७०,००,००० पुरुष-दिन खोए। इस प्रकार उत्पादन तो कम रहा ही परन्तु वितरण की दुर्व्यवस्था के कारण भी महगी बनी रही। लोगों ने माल छिपा छिपा कर इकट्ठा किया। सरकार ने संग्रह-विरोधी कानून भी बनाए परन्तु कोई फल न निकला। युद्ध के पश्चात् महात्मा गाँधी ने कण्ट्रोल हटाने का आन्दोलन उठाया। अन्न-नीति निर्धारण-समिति ने भी कण्ट्रोल हटा लेने की सिफारिश की। तदनुसार सरकार ने दिसम्बर १९४७ में कण्ट्रोल तोड़ दिए। कण्ट्रोल हटाते ही वस्तुओं के भाव आकाश में चढ़ने लगे और जनता को और भी अधिक कठिनाई रही। अक्तूबर १९४८ में कण्ट्रोल फिर लगा दिए गए परन्तु मूल्य ज्यों के त्यों रहे। यदि सच पूछा जाय तो अन्न की विकट समस्या ने मूल्यों के बढ़ने में काफी सहायता की। देश के विभाजन से तो स्थिति और भी अधिक गम्भीर हो गई।

व्यापार-चक्र के सिद्धान्तों के अनुसार १९४९ के पश्चात् मूल्य स्तर गिरने का अनुमान लगाया जाता था और आशा की जाती थी कि इस वर्ष के पश्चात् तो अवश्य ही मंदी होगी परन्तु इसी बीच में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक नई हलचल पैदा हो गई जिसने मूल्यों के बढ़ने में काफी योग दिया। पूर्व में कोरिया का युद्ध आरम्भ होते ही माल के भाव और अधिक चढ़ने लगे। देश भर में एक प्रकार का आतंक छा गया। अमरीका तथा इंगलैण्ड युद्ध के लिए पुनःशस्त्रीकरण के काम में जुटने लगे। अमरीका तथा अन्य यूरोपीय देशों में माल संग्रह करने की योजनाएं बन गईं। ये देश लड़ाई का अनुमान लगाकर कच्चा माल इकट्ठा करने लगे जिससे हमारे देश में इनकी माँग बढ़ गई और माल के भाव अधिक ऊँचे होने लगे। रुपये के अवमूल्यन का भी मूल्य-वृद्धि पर कुछ अनुकूल प्रभाव ही पड़ा।

सरकार ने स्थिति की गम्भीरता को देखकर मूल्य स्तर कम करने की ठानी। एक विस्तृत योजना बनाकर मूल्यों को कम करने का प्रयत्न किया गया। इस योजना की मुख्य-मुख्य बातें थीं—अन्न के उत्पादन में वृद्धि करके वितरण पर नियन्त्रण रखना, बजट के घाटे पूरा करके संतुलित बजट बनाने का प्रयत्न करना, सरकारी व्यय कम करना, सरकारी आय बढ़ाना, जनता को बचत करने की सुविधाएँ देना तथा कम्पनियों के लाभांश सीमित करना। १६५१-५२ के बजट में बजट बनाते समय ५ करोड़ रुपये का घाटा था जो ३१ करोड़ रुपये के नए प्रस्तावों के बाद बराबर करके बजट में २६ करोड़ रुपये का आधिक्य रक्खा गया। चालू वर्ष का बजट पेश करते समय ज्ञात हुआ कि गत वर्ष के बजट म ६२ करोड़ रुपये की बचत हुई। इससे क्रय शक्ति अवश्य कम हुई। गत १२ वर्षों में इतनी बचत का यह पहिला बजट है। नवम्बर १६५१ में साख-सुविधाएँ कम करके मूल्य गिराने की नीयत से सरकार ने एक नया कदम और उठाया। बैंक दर ३ प्रतिशत से बढ़ाकर ३॥ प्रतिशत कर दी गई तथा रिजर्व बैंक ने खुली बाजार क्रियाएँ बन्द कर दीं। इससे मुद्रा प्रसार पर बहुत उल्टा प्रभाव पड़ा। ये सरकार के अन्तिम उपाय थे जो उसने मूल्य स्तर को गिराने के लिए किए।

इन उपायों का कुछ चमत्कारी परिणाम निकला। मार्च सन् १६५२ के आरम्भ से ही मूल्यों म रुकट का वातावरण छा गया है। वस्तुओं के भावों में गिरावट छा गई है। लगभग सभी वस्तुओं, जैसे अन्न, तेल, गुड़, रुई, पटसन, सोना, चाँदी के भाव नीचे की ओर गिरते जा रहे हैं। ऐसा मालूम होता है कि मुद्रास्फीति का अन्त होकर व्यापार चक्र नीचे की ओर जा रहा है। वैसे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं नियमानुसार मन्दी आज से दो वर्ष पूर्व ही आनी थी, परन्तु राजनैतिक हलचलों ने इसे रोका। अब मन्दी की ओर रुख बदला है। थोक भाव बराबर गिरते जा रहे हैं और फुटकर भावों में भी गिरावट है, व्यापारी वर्ग इसके कारण विकल है परन्तु सरकार स्थिति का अध्ययन कर रही है। देखना है कि क्या यह मन्दी स्थायी रह सकेगी?

३१—डॉलर की समस्या

गत महायुद्ध ने लगभग सभी यूरोपीय देशों के आर्थिक कलेवर को पंगु बना दिया। युद्ध की भीषण बमबारी ने कुछ देशों के उद्योगों को नष्ट भ्रष्ट किया और कुछ देश युद्ध में धन कमाने की लालसा से युद्ध सामग्री ही बनाने में लगे रहे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बन्द रहा, खाद्य वस्तुएँ आवश्यक मात्रा में उत्पन्न न की जा सकीं तथा नागरिक आवश्यकताओं के लिए उद्योगों में माल बनाना बन्द हो गया। युद्ध समाप्त होने के पश्चात् सभी देशों ने आर्थिक पुनर्निर्माण का काम आरम्भ किया। नए-नए उद्योग स्थापित किए जाने लगे। परन्तु डॉलर के प्रश्न ने एक समस्या खड़ी कर दी। सितम्बर १९४९ से पहले वर्ष में तो इस समस्या ने बहुत ही भीषण रूप धारण कर लिया था। आज भी डॉलर का प्रश्न कोई कम टेढ़ी समस्या नहीं है। संसार के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ, उद्योगपति, अर्थशास्त्री इस समस्या को सुलझाने में व्यस्त हैं। सितम्बर १९४९ में स्टर्लिंग तथा उसके साथ-साथ संसार की अनेक मुद्राओं के डॉलर-मूल्य में कमी करने से इस समस्या की भीषणता कुछ कम हो गई थी और आशा थी कि यह समस्या सुलझ ही जायगी परन्तु १९५० के पश्चात् इस समस्या ने फिर भीषण रूप धारण कर लिया। देखना यह है कि यह समस्या है क्या?

डॉलर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की प्रतीक मुद्रा है। गत महायुद्ध में योरप के लगभग सभी देशों ने युद्ध में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भाग लिया। अमेरिका ने भी इसमें भाग लिया परन्तु इसका कार्य युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से लगे हुए देशों को युद्ध सामग्री बेचना ही रहा। सभी देशों ने अमेरिका से बहुत माल खरीदा। इसके बदले में अमेरिका की मुद्रा 'डॉलर' या सोना चुकाया गया। अमेरिका अपने उद्योग-धंधों को उन्नत करता गया और अन्य देशों में युद्ध के कारण यह उन्नति बन्द रही। युद्ध के पश्चात् आज भी अमेरिका में अन्य देशों की आवश्यकता की सामग्री है—पूँजी प्रधान सामान है, खाद्य-पदार्थ हैं, यंत्रादि हैं तथा कुशल कारीगर भी हैं। इन सभी वस्तुओं

की युद्ध से बिगड़े हुए देशों को आवश्यकता है। ये वस्तुएँ दो प्रकार से प्राप्त की जा सकती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नियमों के अनुसार अन्य देश अपने देश का सामान अमेरिका को निर्यात करें और उसके बदले में अमेरिका से सामग्री खरीदें या अमरिका को उसके माल का भुगतान डालर चुका कर किया जाय। यह भी हो सकता है कि अमरिका इन देशों को उधार माल बेच दे। अन्य देशों में अमरिका को निर्यात की जाने वाली कोई वस्तुएँ न तो थीं और न आवश्यक मात्रा में आज ही उपलब्ध हैं क्योंकि अमेरिका स्वयं समर्थ देश रहा है, आवश्यकता की सभी वस्तुएँ वहाँ के लोगों को प्राप्त हैं। यदि अन्य देशों में अमरिका की आवश्यकता की वस्तुएँ हैं भी तो उनके भाव बहुत ऊँचे रहे हैं। अन्य देशों के पास अमेरिका का भुगतान करने के लिए सोना या डॉलर भी नहीं रहे जिनके बदले में वहाँ से माल खरीद कर आर्थिक विकास की योजनाओं को पूर्ण किया जाता। अमेरिका ने करोड़ों डॉलर कुछ देशों को उधार और भेंट में दिए हैं कि जिससे किसी प्रकार डॉलर का अभाव टल जाय। मार्शल योजना व ट्रूमन की चतुर्मुखी योजना इस बात के प्रमाण हैं। परन्तु अमरिका भी निरन्तर अनिश्चित अवधि के लिए माल उधार नहीं बेच सकता और न असीमित मात्रा में भेंट ही स्वीकृत कर सकता है। और यह भी निश्चित है कि यूरोप के अन्य देश तथा भारत भी अमेरिका से यन्त्रादि, कुशल कारीगर तथा खाद्य पदार्थ के बिना आयात नहीं रह सकते। तो समस्या यह है कि अमेरिका से उक्त वस्तुएँ लाकर उसके बदले में भुगतान करने के लिए डॉलर कैसे प्राप्त किए जाएँ? डॉलर का उपार्जन व्यय से कम होने के कारण बाहर के देश अमेरिका के माल की खपत में कमी करने के लिए विवश होते रहे हैं। प्रति वर्ष डॉलर-क्षेत्र से होने वाले आयातों में कमी करने के सुझाव दिए जाते हैं और कमी होती भी रही है। इस विवशता के कारण अमेरिका के निर्यात में कमी आती है जिससे वहाँ का उत्पादन कम करना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि अमेरिका के वे उद्योग धंधे, जो विदेशी माँग पर निर्भर हैं, ध में पड़ जाते हैं और अन्त में वहाँ बेकारी की समस्या आने लगती है। फिर वह बाह्य-देशों से और भी कम वस्तुएँ ले सकता है। इसका परिणाम यह हुआ

है कि बाह्य-देशों की डॉलर-आय और भी अधिक गिर जाने से संसार में डॉलर की कमी अधिकाधिक होने लगी है। इस प्रकार डॉलर की समस्या केवल योरप या एशिया के देशों की ही समस्या नहीं है वरन् अमेरिका का भी प्रश्न है कि वहाँ बढ़ती हुई बेकारी और मन्दी को कैसे रोका जाय। मन्दी और बेकारी को टालने के लिए ही तो अमेरिका पिछले वर्षों से विपुल डॉलर राशि बाह्य-देशों को ऋण के रूप में या भेंट स्वरूप देता रहा है। परन्तु यह कब तक चल सकता है। आखिर समस्या दोनों ओर की है, अमेरिका की भी और योरपीय तथा अन्य देशों की भी। अन्य देशों की समस्या डॉलर प्राप्त करके अमेरिका से माल मँगाने की है तथा अमेरिका की समस्या अपने निर्यात बढ़ाकर उद्योगों की उत्पादन-शक्ति बनाए रखने की है।

यह समझना भूल होगी कि डॉलर की समस्या केवल गत महायुद्ध की ही देन है। युद्ध से पहिले भी १९३० के आसपास स्टर्लिङ्ग और डॉलर के बीच विषमता थी। आँकड़ों से ज्ञात होता है कि १९३० में इंगलैण्ड का वर्तमान स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के देशों के साथ १२ करोड़ पौण्ड का आधिक्य था और पश्चिमी गोलार्द्ध के देशों के साथ ११ करोड़ पौण्ड का अभाव था। अन्य स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के देशों का पश्चिमी गोलार्द्ध के साथ २ करोड़ पौण्ड का अभाव था। इस प्रकार इंगलैण्ड तथा स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के अन्य देशों का पश्चिमी गोलार्द्ध के देशों के साथ १३ करोड़ पौण्ड की कमी थी। स्टर्लिङ्ग क्षेत्र में प्राप्त सोना केवल ११ करोड़ ५० लाख पौण्ड का ही था। इस प्रकार १ करोड़ ५० लाख पौण्ड की डॉलर की कमी थी। लेकिन उस समय इंगलैण्ड के पास एक सुविधा थी। इंगलैण्ड के अमेरिका स्थित डॉलर कोष और डॉलर-विनियोग (Dollar Investments) इतने अधिक थे कि तब स्टर्लिंग-क्षेत्र अपनी डॉलर की कमी को इस विनियोजित पूँजी के लाभ से पूरा करता रहा। दूसरे, कुछ देशों की डॉलर की कमी अमेरिका की ओर से दिए गए ऋणों से कुछ वर्षों तक पूरी होती रही। अकस्मात्, १९३० के बाद अमरीका की सरकार ने और वहाँ के पूँजीपतियों ने ऋण देना बन्द कर दिया। यह समय एक प्रकार से बाह्य-देशों के लिए डॉलर के अकाल का था। इस अकाल में अधिकांश देशों ने अपने स्वर्ण कोष अमरीका को बेच

डाले और अत में संसार के सभी देशों को स्वर्ण-प्रमाण पद्धति का परित्याग करना पड़ा। द्वितीय युद्ध काल में इंगलैण्ड और दूसरे देशों ने अपनी डॉलर की कमी अपनी डॉलर सम्पत्ति तथा स्वर्ण कोष बेचकर पूरी की और जब वह सम्पत्ति समाप्त हो गई तो अमरीका ने डॉलर की कमी पट्टे और उधार सम्बन्धी ऋण देकर पूरी की। सितम्बर १९४६ तक बाह्य देशों को दो सौ अरब रुपये से भी अधिक के डॉलर इस योजना के अन्तर्गत मिले। युद्ध समाप्त होते ही यह सहायता भी बन्द कर दी गई और ससार में डॉलर की कमी फिर सामने आ गई। युद्ध के पश्चात् अमरीका में अन्य देशों से आयात कम होता गया। सयुक्त राज्य के वाणिज्य विभाग द्वारा प्राप्त किए आँकड़ों से ज्ञात होता है कि मार्च १९४९ में अमेरिका का आयात ६३ करोड़ ४० लाख डॉलर के बराबर था जो अगले माह ही घटकर ५३ करोड़ ४० लाख डॉलर के बराबर हो गया। इसी प्रकार अगले महीनों में भी अमेरिका का आयात और कम होता गया। युद्ध के पश्चात् स्टर्लिङ्ग क्षेत्र में डॉलर का अभाव इस प्रकार था —

वर्ष	डॉलर की कमी (०००,०००)	
१९४६	२२६	पौण्ड
१९४७	१०२४	,,
१९४८	४२३	,,
३० जून १९४९ तक	२३९	,,

इस प्रकार साढे तीन वर्षों में कुल डॉलर की कमी १,९१,२०,००,००० पौण्ड के बराबर थी जिसमें से केवल इंगलैण्ड के लेखे पर १,४६,८०,००,००० पौण्ड की डॉलर की कमी थी। उस समय इगलैण्ड ने इस कमी को पूरा करने का प्रयास किया। ९३० लाख पौण्ड १९४८ तक अमेरिका से उधार खाते पर लेकर पूरे किए गए। कैनेडा के उधार खाते पर इङ्गलैण्ड ने २६१ लाख पौण्ड के डॉलर लिए। मार्शल योजना के अनुसार ३६५ लाख पौण्ड से इँगलैण्ड ने डॉलर की कमी पूरी की। इगलैण्ड तथा भारत दोनों ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से क्रमश ७,५०,००,००० तथा २,५०,००,००० पौण्ड के बराबर डॉलरों का आहरण किया। दक्षिणी अमरीका ने इँगलैण्ड को ८,००,००,००० पौण्ड सोने मे उधार दिया। २०,६०,००,००० पौण्ड की डॉलर की कमी को इग

लैंण्ड ने अपने सोने तथा डॉलर-कोषों में से पूर्ण किया[1]।

इंगलैण्ड के ये स्वर्ण कोष ३० जून १६४६ तक ४०,६०,००,००० पौण्ड के बराबर थे। उस समय इंगलैण्ड तथा स्टर्लिंग-क्षेत्र के अन्य देशों का डलर-अभाव ६०,००,००,००० पौण्ड प्रतिवर्ष की दर से था। उस समय इस समस्या के कारण संसार दो भागों में बँटा हुआ था—(१) अमेरिका और डॉलर-प्रदेश, जैसे केनेडा, मेक्सिको, ब्राजील, क्यूबा, कोलम्बिया आदि जिनका आयात योरपीय-देशों से गिरता जा रहा था और जहाँ का आन्तरिक मूल्यस्तर अन्य देशों की अपेक्षा नीचा था। (२) इंगलैण्ड तथा स्टर्लिङ्ग-प्रदेश के अन्य प्रदेश जैसे भारत, ब्रह्मा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, मलाया, न्यूजीलैण्ड आदि जहाँ मूल्य-स्तर अपेक्षाकृत ऊँचा था, जहाँ का आर्थिक कलेवर छिन्न-भिन्न था और जहाँ से अमेरिका तथा डॉलर प्रदेशीय अन्य देशों को *माल निर्यात करने की अनिवार्य आवश्यकता थी। तो इस प्रकार डॉलर की समस्या ने संसार को दो ऐसे भागों में बाँट दिया जिनमें से एक भाग दूसरे पर आश्रित था परन्तु उस आश्रय को प्राप्त करने के लिए उसके पास डॉलर नहीं थे।*

इस समस्या को सुलझाने के लिए १६४६ के अन्त तक अनेक देशों के वित्त मन्त्री अनेक बार लन्दन तथा अन्य स्थानों पर मिले। विचार-विनिमय हुआ और फिर इसके निम्न उपाय सोचे गए—

१. *इंगलैण्ड तथा स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र के अन्य देश अमरीका और डॉलर-प्रदेशों को निर्यात करके बदले में आयात करें।* परन्तु, जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र में मूल्यस्तर ऊँचे थे और अमरीका के मूल्यस्तर नीचे थे अतः स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र से डॉलर-क्षेत्रीय देशों में निर्यात बढ़ाना सम्भव नहीं था।

२. अमरीका इंगलैण्ड तथा स्टर्लिङ्ग-प्रदेशादि अन्य देशों को डॉलर उधार दे अथवा माल और विशेषज्ञ भेजे। ऐसा किया भी गया। अमेरिका ने मार्शल योजना बना कर विपुल डॉलर राशि योरपीय देशों को दी। इसके

[1] कॉमर्स—जुलाई ३०, १६४६ पृ. स. १६०

अतिरिक्त अमरिका ने इङ्गलैण्ड को एक विशेष समझौते के अनुसार ३७५ करोड़ डॉलर उधार दिए। अमरीका ने स्टर्लिङ्ग प्रदेशीय देशों में पूँजी विनियोग भी का। भेंट भी दी गई तथा ऋण भी दिए गए। परन्तु ये उपाय दीर्घकालीन और स्थायी नहीं हो सकते थे।

३ तीसरा सुझाव रक्खा गया कि इंगलैण्ड और स्टर्लिङ्ग प्रदेशीय देश, जहाँ मूल्यस्तर ऊँचे हैं, अपना उत्पादन व्यय कम करके मूल्यस्तर नीचे करें जिससे इन देशों का माल अमरीका तथा डॉलर प्रदेशीय देशों में प्रतियोगिता के साथ बेचा जा सके।

४ अन्तिम सुझाव यह रक्खा गया कि स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन कर दिया जाय अर्थात् स्टर्लिङ्ग का डॉलर मूल्य कम कर दिया जाय जिससे अव मूल्यन करने वाले देशों का डॉलर प्रदेशीय देशों में निर्यात बढे और इस प्रकार वे डॉलर कमा कर डालर की कमी को दूर कर सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अधिकारियों ने तथा संयुक्त राष्ट्र अमरीका के वित्त-मंत्री श्री जॉन स्नाइडर ने इस बात पर जोर दिया कि स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन कर दिया जाय। श्री स्नाइडर ने बतलाया "कि यदि योरोपीय देश अमरीका तथा पश्चिमी गोलार्द्ध के अन्य देशों के साथ अपना भुगतान सन्तुलन करना चाहते हैं तो उन्हें अपनी अपनी मुद्राओं की विनिमय दरों में आवश्यक समायोजन कर लेना चाहिए"। उनका मत था कि यूरोप की मुद्राओं के भविष्य अनिश्चित होने के कारण अमरीका की पूँजी उन देशों में नहीं जा रही थी। अतः उन देशों की विनिमय-दरों में समायोजन करने से समस्या हल हो सकती थी। श्री स्नाइडर या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अधिकारियों में से किसी ने भी किसी विशेष मुद्रा के अवमूल्यन की ओर संकेत नहीं किया था परन्तु उनका अर्थ विशेषतः स्टर्लिङ्ग से था। और वही हुआ। इंग्लैण्ड, अमरीका और कैनेडा के वित्त मंत्रियों की वाशिंगटन में एक कान्फ्रेंस हुई। इंगलैण्ड के वित्त मंत्री सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने इस कान्फ्रेंस से लौटते लौटते अव मूल्यन की योजना स्वीकार कर ली और सितम्बर १९४९ में स्टर्लिङ्ग का डालर मूल्य ३०.५% कम कर दिया गया। स्टर्लिङ्ग के साथ साथ अन्य अनेक देशों व भारत ने भी अपनी अपनी मुद्राओं की विनिमय-दरों में आवश्यक

फेर-बदल कर ली। [अवमूल्यन का वर्णन आगे किया गया है]। अवमूल्यन करने के बाद इंगलैण्ड तथा भारत सहित अन्य स्टर्लिङ्ग-क्षेत्रीय देशों के निर्यात बढ़े और अगले ही वर्ष इन्होंने डॉलर और सोना कमा-कमा कर अपने केन्द्रीय कोष भर पूर कर लिए। उधर कोरिया की लड़ाई छिड़ गई जिससे अनेक देश कच्चे माल की माँग करने लगे और अमरीका कच्चा माल संग्रह करके जुटाने में लग गया। अन्य देश भी अपनी पुनः शस्त्रीकरण योजनाओं में जुट गए। इससे स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र के निर्यात को और भी अधिक बढ़ावा मिला। डॉलर की समस्या कुछ हल होती सी जान पड़ी। परन्तु १९५० के पश्चात् से स्थिति में फिर परिवर्तन हुआ और डॉलर की कमी फिर अनुभव होने लगी। १९५१ के अन्त तक तो समस्या फिर गम्भीर होती गई। स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र के केन्द्रीय कोष में से डॉलर और सोना घटता गया। इस समय भारत तथा अन्य देशों के साथ डॉलर की समस्या इतनी कठिन नहीं थी जितनी इंगलैण्ड के साथ थी। परन्तु तो भी स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र व्यवस्था को बनाए रखने के लिए सभी सदस्य-देशों के एक बड़ा भारी खतरा सामने था। समस्या पर सोच-विचार करने के लिए जनवरी १९५२ में कॉमनवेल्थ वित्त-मंत्रियों का एक सम्मेलन इंगलैण्ड में बुलाया गया। इस सम्मेलन में डॉलर की समस्या पर सब ओर से विचार करके निर्णय किया कि स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र के वे देश, जिनमें डॉलर की समस्या बहुत जटिल बन चुकी है, डॉलर प्रदेशीय देशों से अपने अपने आयात कम करें, अपने घरेलू-खर्चे कम करें तथा अपने आन्तरिक-मूल्यस्तरों को नीचा गिराने के प्रयत्न करें। इन सुझावों को कार्यान्वित करने के लिए सब सदस्य-देश सहमत हो गए। इंगलैण्ड की सरकार ने तो अपने नए बजट में आयात कम करने की विशेष व्यवस्था की है तथा अपने आन्तरिक खर्चे भी कम किए हैं। यदि यह योजना कार्यान्वित हो सकी तो डॉलर की समस्या सुलझ सकेगी। इस समय डॉलर का संकट इंगलैण्ड के सामने सबसे भारी है। इसलिए इंगलैण्ड को इसे दूर करने के लिए अपनी भुगतान-विषमता को दूर करना चाहिए।

३२—रुपये का अवमूल्यन

१८ सितम्बर १६४६ को इगलैण्ड के वित्त मंत्री सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने स्टर्लिङ्ग के डॉलर मूल्य में ३०.५ प्रतिशत की कमी करने की घोषणा की। इस घोषणा के अनुसार इंगलैण्ड का स्टर्लिङ्ग, जो पहिले ४.०३ डॉलर के बराबर था, अब २.८० डॉलर के बराबर रह गया। इगलैण्ड की सरकार को स्टर्लिङ्ग का यह अवमूल्यन अपनी परिस्थिति से बाध्य होकर करना पड़ा। इसका सबसे बड़ा कारण था 'डॉलर की कमी'। इगलैण्ड जितना माल डॉलर-प्रदेश को निर्यात करता था उससे कहा अधिक माल आयात करता था जिससे उसे भुगतान करने में डॉलरों की आवश्यकता होती थी। धीरे-धीरे उसका डॉलर कोष कम होता गया। सन् १६३८ में इंगलैण्ड के आयात उसके निर्यात की अपेक्षा बहुत अधिक थे। इस कमी का भुगतान इगलैण्ड ने अपनी विदेशों में लगी हुई पूंजी के लाभ और जहाजो, बैंकों तथा इन्श्योरेन्स कम्पनियों से होने वाली विदेशी आय से की। युद्धकाल में उसे अपनी बहुत सी विदेशी सम्पत्ति बेच देनी पड़ी। इस प्रकार विदेशी सम्पत्ति से होने वाली आय कम हो गई और अब आयात निर्यात के अन्तर का भुगतान पहिले की तरह नहीं चुकाया जा सकता था। सितम्बर १६३६ से जून १६४५ के अन्त तक इंगलैण्ड ने लगभग ४½ अरब डॉलर की अपनी विदेशी सम्पत्ति बेची और उसके विदेशों से लिए हुए ऋण मे ११.६ अरब डॉलर की वृद्धि हुई। इस काल में इंगलैण्ड के स्वर्ण और डॉलर कोष में लगभग ६१ करोड़ डॉलर की कमी हुई। सब मिलाकर युद्ध काल में इंगलैण्ड का लगभग १७ अरब डॉलर या तो विदेशों से ऋण लेने पड़े या अपनी उन देशों में लगी हुई सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ा। कुछ समय तक इगलैण्ड योरोपीय पुनरुत्थान योजना के अन्तर्गत दी हुई अमरीका की सहायता से अपने आयात निर्यात के अन्तर का भुगतान करता रहा परन्तु यह सहायता स्थायी नहीं थी। विदेशों के भुगतान में सतुलन प्राप्त करने के लिए उसे या तो अपने आयात कम करने थे या अपने माल का निर्यात बढाना

चाहिए था। आयात का अधिकांश भाग खाने-पीने की वस्तुओं और कच्चे माल का था जिनमें कमी करने से अकाल और बेकारी फैलने की आशंका हो सकती थी। फिर भी इँगलैण्ड की सरकार ने अमरीका व अन्य दुर्लभ मुद्रा वाले देशों से १६४८ के आयात की अपेक्षा अगले वर्षों में २५ प्रतिशत कमी करने का निश्चय किया। परन्तु इससे भी डॉलर की समस्या हल नहीं हो सकती थी। सन् १६४८ में इँगलैण्ड के आयात उसके निर्यात से ५५० करोड़ रुपये या ४० करोड़ पौण्ड से भी अधिक के थे। युद्ध के बाद इगलैण्ड ने निरन्तर अपने निर्यात बढ़ाने का प्रयत्न किया। परन्तु जैसे-जैसे इँगलैण्ड का उत्पादन बढ़ता गया विदेशों में उसके माल की माँग कम होती गई। इसका कारण यह था कि वहाँ का माल विदेशों में अधिक मँहगा पड़ता था। डॉलर क्षेत्र में तो यह बात और भी अधिक लागू होती थी। अतः मूल्य कम करने के दो उपाय हो सकते थे। या तो लागत-व्यय और मजदूरी घटा दी जाती जिससे माल के भाव नीचे हो जाते और या डॉलर-क्षेत्र में इँगलैण्ड के माल को सस्ता करने के लिए स्टर्लिङ्ग की डॉलर दर में कमी कर दी जाती। पहला उपाय स्थायी रूप से अधिक उपयुक्त था पर इसको कार्यान्वित करना बड़ा ही कठिन था। मजदूर अपनी मजदूरी कम करने के लिए तैयार न थे तथा लागत व्यय में किसी भी प्रकार कमी करना सम्भव नहीं था। दूसरा उपाय ही उपयुक्त समझा गया। इँगलैण्ड, अमरीका और कैनेडा की एक कान्फ्रेंस वाशिंगटन में बुलाई गई। इँगलैण्ड ने यह मान लिया कि स्टर्लिङ्ग का डॉलर-मूल्य कम कर दिया जाय जिससे दोनों मुद्राएँ अपने स्वर-मूल्य पर आ जायें। साथ ही साथ अमरीका ने भी अपने आयात-करों में कमी करने का निश्चय किया जिससे विदेशों का माल अमरीका में सस्ते मूल्यों पर आकर बिकने लगे। इस निर्णय के अनुसार इँगलैण्ड ने स्टर्लिङ्ग का डॉलर मूल्य ३०.५% कम कर दिया। एक पौण्ड जो पहिले ४ डॉलर २ सेण्ट के बराबर था अब केवल २ डॉलर ८० सेण्ट के बराबर ही रह गया। स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन इँगलैण्ड के अपने स्वार्थ में था पर इसका सम्बन्ध संसार की डॉलर-समस्या से भी उतना ही निकट है जिसके बिना सुलझाये संसार भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विभाजित होता जा रहा था।

स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन होते ही भारत सरकार ने भी रुपये के डॉलर-मूल्य

मे ३०.५% की कमी कर दी। पहिले एक रुपया लगभग ३० सेण्ट के बराबर था परन्तु अवमूल्यन के बाद लगभग २१ सेन्ट के बराबर रह गया। एक डॉलर का मूल्य ३ रुपये ५ आने से बढ़कर लगभग ४ रुपये १२ आने हो गया। प्रत्यक्ष रूप से इस परिवर्तन के यह अर्थ हैं कि हमारे देश में डॉलर क्षेत्र से आने वाली यदि कोई वस्तु पहिले ३३२ रुपये में मिलती थी तो अब उसका मूल्य ४७६ रुपये हो गया और इसी अनुपात मे हमारी वस्तुएँ अमरीका में सस्ती हो गईं। इस प्रकार हमारे आयात मँहगे हो गए तथा हमारे निर्यात बढ़ने लगे। जनता के कुछ वर्गों ने सरकार की अवमूल्यन नीति का विरोध किया और कहा कि रुपये की दर गिराने से हमारे निर्यात अवश्य बढ़ेंगे परन्तु डॉलर क्षेत्र से होने वाले आयात मँहगे हो जायगे। इससे देश को हानि रहेगी। अवमूल्यन के आलोचकों ने यह भी बताया कि देश को पूँजीगत माल की कठिन आवश्यकता है और यह माल अमरिका से मिल सकता है। अतः इस माल पर रुपये का अवमूल्यन करने से अधिक मूल्य चुकाना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यह भी अनुमान लगाया कि इंगलैण्ड में जमा हमारी स्टर्लिंग राशि को डॉलरों मे बदलवाने में भी हमें हानि रहेगी। परन्तु उस समय परिस्थिति बिल्कुल भिन्न थी। भारत सरकार के सामने उस समय तीन उपाय थे :—

(१) रुपये का अवमूल्यन नहीं किया जाता और स्टर्लिंग का अवमूल्यन होने पर भी रुपये का डालर मूल्य उतना ही रखा जाता जितना पहिले था। ऐसा करने से देश के सामने एक कठिन परिस्थिति आ जाती। भारत का निर्यात इंगलैण्ड तथा स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों में मँहगा हो जाता और तब बिल्कुल बन्द हो जाता। भारत का ६० प्रति शत निर्यात स्टर्लिंग क्षेत्र में होता है। यदि रुपये का अवमूल्यन न किया जाता तो ये निर्यात बन्द हो जाते। अमरीका में तो हमारे माल की खपत पहिले ही कम थी स्टर्लिंग क्षेत्र में भी कच्चे माल की खपत कम हो जाती। सन् १९४८-४९ में अमरीका ने केवल ७० करोड़ रुपये का माल हमसे खरीदा जब कि इससे पहिले वर्ष में ८० करोड़ रुपये की वस्तुएँ खरीदी थीं। रुपये का अवमूल्यन न करने का परिणाम यह होता कि हमारे निर्यात और भी कम हो जाते या हमें विदेशों में अपने देश की वस्तुएँ लागत से कम मूल्य पर नुकसान के साथ बेचनी पड़तीं। इससे हमारे व्यापार

को बड़ा धक्का लगता।

(२) दूसरा उपाय यह हो सकता था कि सरकार रुपये का स्टर्लिंग-मूल्य कम करके रुपये की विनिमय-दर १ शि० ४ पें० बना देती। इसका यह परिणाम होता कि देश में वस्तुओं के भाव और भी अधिक बढ़ जाते। स्टर्लिंग क्षेत्र से आने वाले माल के भाव भी बढ़ जाते और मूल्य-स्तर आगे बढ़ जाता। इससे जनता को बड़ी कठिनाई होती।

(३) तीसरा उपाय यही था कि रुपये की स्टर्लिंग-दर उतनी ही रक्खी जाती और स्टर्लिंग के साथ-साथ रुपये का भी अवमूल्यन कर दिया जाता। सरकार ने ऐसा ही किया। रुपये का डालर-मूल्य ३०.५ प्रति शत कम कर दिया गया। संसार के कुछ अन्य देशों ने भी अपनी-अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया। कैनेडा ने भी अपने डॉलर का मूल्य अमरीका के डॉलर में १० प्रतिशत कम कर दिया।

भारत सरकार को रुपये के अवमूल्यन की चाह न थी और न इँगलैण्ड या अमरीका ने ही सरकार को इसके लिए बाध्य किया था। यह तो भारत की अपनी ही आवश्यकता थी। परिस्थितियों से विवश होकर सरकार को ऐसा करना पड़ा। युद्ध से पहले भारत अमरीका से इतना माल आयात नहीं करता था जितना वह उसको निर्यात करता था। युद्ध-काल में भी भारत ने अमरीका से व्यापार में इतना माल नहीं मँगाया था जितना माल वहाँ भेजा गया था। स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के डॉलर कोष में हमने लगभग इन छः सात वर्षों में ६२ करोड़ रुपये के डॉलर जमा किये थे। परन्तु युद्ध के बाद हम अमरीका से बहुत अधिक मूल्य की वस्तुएँ मँगाने लगे और हमारा निर्यात कम हो गया। १९४६ में इस प्रकार हमें ५ करोड़ रुपये के डालरों की कमी पड़ी और सन् १९४७ में यह कमी ८५ करोड़ रुपये की थी। जून १९४९ को समाप्त होने वाले वर्ष में हमें ६३ करोड़ रुपये के डॉलर की कमी थी। इस कमी को पूरा करने के लिए हम ने कुछ तो अपनी स्टर्लिङ्ग पूँजी को डालरों में परिवर्तित किया और जब इस प्रकार भी आवश्यक मात्रा में डॉलर प्राप्त न हो सके तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से डॉलर खरीद कर कमी पूरी की गई। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से भी ३४ करोड़ डॉलर, १ करोड़ डॉलर तथा १ करोड़ ८५ लाख डॉलर के तीन ऋण लिए। इस प्रकार

डॉलर की कमी पूर्ण होती रही। परन्तु इससे डॉलर की समस्या हल नहीं हो सकती थी। डॉलर की समस्या हल करने के लिये तो डॉलर कमाने की आवश्यकता थी। डॉलर तभी कमाये जा सकते थे जब कि डॉलर क्षेत्र में माल का निर्यात किया जाता। माल का निर्यात तभी हो सकता था जब कि उसके भाव कम किए जाते। भाव कम करने के लिये लागत व्यय कम करने की आवश्यकता थी। परन्तु लागत-व्यय कम करना बहुत कठिन था। इसलिए डॉलर-क्षेत्र के देशों के लिए माल का भाव कम करने का रुपये का डॉलर मूल्य कम करना पड़ा जिससे हमारा माल डॉलर क्षेत्र में भी बिक सके और स्टर्लिङ्ग क्षेत्र में भी खप सके। सरकार ने योजना बनाई कि रुपये के अवमूल्यन से अधिक से अधिक लाभ उठाया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत सरकार ने अवमूल्यन करने के पश्चात् एक आठ-सूत्री योजना बनाई। इसमें निम्न सुझाव दिए गए :—

१. देश की वैदेशिक व्यापार नीति ऐसे हो जिसमें विदेशी मुद्राओं की कम से कम आवश्यकता पड़े।

२. अमरीका तथा डॉलर क्षेत्रीय अन्य देशों से कम से कम माल आयात किया जाय।

३. देश में खाद्य-नियंत्रण करके वस्तुओं के भावों को नीचा रखने का प्रयत्न किया जाय। आवश्यकतानुसार इसके लिए सरकारी कानून भी बनाए जायँ।

४ जो माल दुर्लभ-मुद्रा-क्षेत्रों में निर्यात किया जाय उस पर निर्यात कर लगाकर आय बढ़ाई जाय।

५. उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न किए जाय; लोगों को बचत करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय तथा देहातों में बैंकिंग सुविधाएं देकर लोगों को बचत करना सिखाया जाय।

६. जिन लोगों ने युद्धकाल में बड़े-बड़े लाभ कमाए थे परन्तु सरकारी टैक्स की चोरी की थी उनसे फैसला करके रुपया निकलवाया जाय जिससे उस रुपये को काम में लाकर उत्पादन बढ़ाया जाय।

७. सरकारी खर्चे कम कर दिए जाए — १९४९ ५० में कम से कम ४०

करोड़ रुपये की बचत करने का सुझाव दिया गया और १९५०-५१ में कम से कम ८० करोड़ की बचत की सिफारिश की गई। यह भी सुझाव दिया गया कि यदि आवश्यकता समझी जाय तो विकास की योजनाओं पर अधिक राशि व्यय करके उन्हें शीघ्र पूरा किया जाय जिससे देश का उत्पादन बढ़ाने में योग मिले।

८. देश में वस्तुओं के भाव नीचे लाए जायें। अन्न, कच्चामाल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के भाव कम से कम १० प्रतिशत कम कर दिए जायें।

इस प्रकार सरकार ने अवमूल्यन से लाभ उठाने के लिए सब प्रकार की रोक-थाम की। परन्तु अवमूल्यन से हमारे डॉलर-आयात मँहगे अवश्य हो गए और बदले में हमें अधिक रुपया चुकाना पड़ा। हमारी स्टर्लिङ्ग-पूँजी को भी डॉलरों में बदलवाने में हमें हानि रही। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से लिए ऋणों को चुकाने में भी हमें अधिक राशि चुकानी पड़ेगी और आयात मँहगे होने के कारण हो सकता है कि हमारे मूल्य-स्तरों पर भी उसका प्रभाव पड़े। परन्तु अवमूल्यन न करने से हमारी समस्याएँ और भी जटिल बन जातीं। हमारे निर्यात बिल्कुल ठप्प हो जाते। हमारा माल न अमरीका को जाता, न डॉलर-क्षेत्र में बिकता और न स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र में खपता। इस प्रकार माल आयात करने के लिए न हमारे पास सोना होता और न डॉलर होते। हमारा वैदेशिक व्यापार एक प्रकार से समाप्त सा ही हो जाता, हमारे उद्योग बन्द हो जाते, बेकारी फैल जाती और व्यवसाय ठप्प हो जाते। इन कारणों से रुपये का अवमूल्यन करना अपने हित में सोचा गया।

भारत सरकार ने अपने रुपये का अवमूल्यन किया परन्तु पड़ोसी पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया। पाकिस्तान के इस निश्चय के अनुसार वहाँ के रुपये की विनिमय-दर ३०'३ से० प्रति रुपया हो गई। एक पौण्ड जो पहिले १३ रु० ५ आ० ४ पाई के बराबर था अब घटकर ९'२६ पाकिस्तानी रुपयों के बराबर हो गया। भारत के रुपये और पाक-रुपये में भी विषमता आ गई। भारत के १०० रुपये पाकिस्तान के ६९'५० रुपयों के बराबर हो गए या पाकिस्तान के १०० रुपये भारत के १४४ रुपयों के बराबर हो गए। पाकिस्तान को समझाया गया कि वह भी अपने रुपये का अवमूल्यन कर दे परन्तु पाकिस्तान ने अपने हित में यही उचित समझा कि पाक-रुपये का अवमूल्यन

न किया जाय। भारत सरकार ने पाकिस्तानी रुपये की नई विनिमय दर (१०० पाक रुपये = १४४ भारत के रुपय) को न माना। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत और पाकिस्तान का आपस का व्यापार बिलकुल बन्द सा हो गया। पाकिस्तान से भारत आने वाला माल जैसे रुई, जूट, चमड़ा, चावल आना बन्द हो गया तथा भारत से पाकिस्तान जाने वाला माल भी जैसे चीनी, कोयला, कपड़ा आदि जाना बन्द हो गया। पाकिस्तान की ६० लाख जूट (पटसन) की गाँठों में से ५० लाख गाँठ भारत की मिलों में काम आता थी। इन सबका आना बन्द हो गया जिससे कलकत्ते की जूट मिलों का उत्पादन भी बहुत कम हो गया। भारत से पाकिस्तान को कोयला जाना भी बन्द हो गया। विनिमय दर की विषमता के कारण आपस का व्यापार बन्द हो जाने से दोनों ही पड़ौसियों को मुसीबत उठानी पड़ी। भारत का जूट उद्योग तो एक प्रकार से ठप्प ही हो गया था। पाकिस्तान से गहूँ व चावल न आने के कारण अन्न समस्या भी विकट होती गई। प्रयत्न किए गए कि किसी भी प्रकार दोनों देश समझौता करके आपस की विनिमय दर की समस्या को सुलझावें परन्तु कोई समझौता न हो सका। अन्त में इस मामले को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में ले जाया गया। अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा कोष के अधिकारियों ने इस प्रश्न पर विचार न किया। मुद्रा कोष के वार्षिक सम्मेलन में इस प्रश्न पर विचार होना था परन्तु किसी भी प्रकार इस प्रश्न को तब टाल दिया गया। आश्चर्य की बात है कि वार्षिक सम्मेलन के प्रधान भारत के सर चिन्तामणि द्वारकादास देशमुख थे परन्तु फिर भी इस प्रश्न को सम्मेलन के कार्य क्रम में सम्मिलित न किया जा सका और आनाकानी करके बात टाल दी गई। सितम्बर १९४९ से लेकर फर्वरी सन् १९५१ तक इसी प्रकार बात टलती रही। भारत सरकार ने अब इस स्थिति को बढ़ाना ठीक न समझा। भारत को अन्न, जूट व रुई की कठिन आवश्यकता थी। अतः २६ फर्वरी १९५१ को भारत सरकार ने कराची में पाकिस्तान से एक व्यापार समझौता किया जिसके अन्तर्गत भारत ने कोयला, लोहा, सीमेंट आदि भेजना तय किया तथा पाकिस्तान ने भारत को चावल, गेहूँ, पटसन, रुई तथा चमड़ा आदि भेजना स्वीकार कर लिया। भारत सरकार को पाकिस्तान की विनिमय-दर (१०० पाक रुपय = १४४ भारतीय रुपये) माननी पड़ी। समझौता ३०

जून १९५२ तक के लिए किया गया। २६ फर्वरी १९५१ को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने एक विज्ञप्ति निकाल कर पाकिस्तानी रुपये की विनिमय दर को मान लिया।

२६ फर्वरी १९५१ से रिजर्व बैंक ने अपने बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा कानपुर के कार्यालयों पर भारतीय रुपये के बदले में पाकिस्तानी रुपये का खरीदना-बेचना आरम्भ कर दिया। अब रिजर्व बैंक अधिकृत लोगों (Authorized Persons) को १०० भारतीय रुपयों के बदले पाकिस्तान के ६९ रु० ६ आ० ६ पाई बेचने लगा तथा उन लोगों से १०० भारतीय रुपयों के बदले में पाकिस्तान के ६९ रु० ८ आ० ३ पाई खरीदने लगा। इसी प्रकार २७ फर्वरी १९५१ से स्टेट बैंक ऑफ पाकिस्तान अपने कराची, लाहौर, ढाका और चिटगाँव के कार्यालयों पर १०० पाकिस्तानी रुपयों के बदले में भारत के १४४ रु० ६ पाई खरीदने लगा तथा १४३ रु० १२ आ० ३ पाई बेचने लगा। दोनों पड़ौसियों ने एक दूसरे की विनिमय-दर मान ली और आपस का व्यावारिक लेन-देन फिर आरम्भ हो गया। भारत को सितम्बर १९४९ से फर्वरी १९५१ तक पाकिस्तान से व्यापार बन्द होने के कारण बहुत हानि उठानी पड़ी। अन्न आना बन्द हो गया, रूई न मिलने के कारण कपड़े की कई मिलें बन्द करनी पड़ीं तथा पटसन न मिलने के कारण पटसन का पक्का माल न बनाया जा सका जिससे उसे निर्यात करके डालर कमाए जाते। भारत सरकार को आखिर अवमूल्यन की तिथि से ठीक १७ महीने के पश्चात् पाकिस्तानी रुपये की दर को मानना ही पड़ा। जैसे ही भारत ने पाकिस्तान की दर को स्वीकार किया अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने भी तुरन्त ही पाकिस्तान के रुपये की दर को मान लिया और मान्यता दे दी। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि १७ महीने तक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने पाकिस्तान रुपये की विनिमय दर के विषय में कोई निर्णय नहीं किया यहाँ तक कि कोष के वार्षिक सम्मेलन में भारत के बार-बार कहने पर भी इस विषय को सम्मेलन के कार्यक्रम में सम्मिलित तक नहीं किया। परन्तु जैसे ही भारत ने पाक रुपये की दर मानी, कोष ने भी उसका निर्णय करके उसी दर को मान्यता दे दी।

कुछ भी हो, भारत सरकार ने अपने देश के व्यापारिक हितों को सामने रखकर ही रुपये का अवमूल्यन किया था—उस पर न किसी का दबाव था और

न किसी की जबरदस्ती थी। अपने ही हितों की रक्षा में हमने पाकिस्तान की दर स्वीकार की। परन्तु अब हम पाकिस्तान की रुई, अन्न या पटसन पर ही निर्भर नहीं रहे। अवमूल्यन के पश्चात् तो हमने काफी प्रगति की है जिसका वर्णन अगले निबन्ध में किया गया है।

३३—अवमूल्यन की प्रतिक्रियाएँ

अवमूल्यन के द्वारा, निस्सन्देह अमरीका, इँगलैण्ड और भारत को भी अभीष्ट फल मिला। अमरीका के व्यापार एवं उद्योगों को गति मिली जिससे योरप और एशिया के अन्य देशों को भी अमरीका में कच्चा माल निर्यात करने का अवसर मिला। अवमूल्यन के पश्चात् ६ महीनों में ही इँगलैण्ड के स्वर्ण एवं डॉलर-कोष में लगभग ४५ प्रतिशत बढ़ोत्तरी हुई। १९४९ के अन्त में इँगलैण्ड का यह कोष १,६८,८०,००,००० डॉलर के समान था जो १९५० के मध्य तक २,४२,२०,००,००० डालर हो गया तथा १९५० के अन्त में ३० करोड़ डॉलर से भी अधिक हो गया। इस प्रकार एक तरह से स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन सफल रहा। इँगलैण्ड की डॉलर की भूख शान्त होने लगी तथा भुगतान-संतुलन का असामंजस्य भी मिट गया। रुपये का अवमूल्यन करने से भारत की आशा भी पूर्ण हुई। भारत के निर्यात बढ़ने लगे। अवमूल्यन से पहिले १९४९ में भारत ने डॉलर-प्रदेश को ५६२ करोड़ रुपये का माल भेजा था जबकि वहाँ से ९३·८६ करोड़ रुपये का माल मँगाया था। परन्तु अवमूल्यन के पश्चात् निर्यात बढ़े और आयात कम हो गए जिनसे मार्च १९५१ तक कुल २५ करोड़ रुपये के मूल्य के डॉलर भारत ने कमाए। यह ठीक है कि अवमूल्यन के कारण भारत के आयात मँहगे हो गए और यह भी ठीक है कि पाकिस्तान की हठधर्मी के कारण हमें काफी असुविधाएँ रहीं परन्तु तो भी हमारे निर्यात व्यापार में काफी बढ़ोत्तरी हुई।

सूती कपड़ा, मसाले, तमाखू, माइका (Mica), मैंगनीज, ऊन तथा चमड़े का निर्यात बहुत बढ़ा। अवमूल्यन से पहिले अक्टूबर १९४८ से अगस्त १९४९ तक लगभग ४ करोड़ रुपये का सूती कपड़ा निर्यात किया गया था परन्तु अवमूल्यन के बाद अगस्त १९५० तक लगभग १८ करोड़ रुपये का कपड़ा निर्यात किया गया। जितने मसाले अगस्त १९४९ को समाप्त होने वाले वर्ष में निर्यात किए गए थे उसके ठीक दुगुनी राशि के मसाले अवमूल्यन के बाद अगस्त

१९५० तक निर्यात किए गए। यही बात माइका (Mica) के साथ रही। अगस्त १९४९ को समाप्त होने वाले वर्ष में लगभग ४½ करोड़ रुपये का माइका निर्यात किया गया था परन्तु अवमूल्यन के बाद अगस्त १९५० तक लगभग ९ करोड़ रुपये का माइका (मुड़मुड़) निर्यात किया गया। मैंगनीज, ऊन तथा चमड़े का निर्यात भी अवमूल्यन के पश्चात् बहुत हुआ। १९५० में तो भारत के वैदेशिक व्यापार की स्थिति बहुत अच्छी रही। निम्न तालिका से यह बात स्पष्ट होती है —

[करोड़ रुपयों में]

	१९४९	१९५०	
निर्यात	४४१'३१	५४१'४४	+ १००
आयात	६२८'८२	४९४ ४४	—१३४
शेष	—१८७'५१	+ ४६'९५	

१९४९ में भारत के वैदेशिक व्यापार में १८७'५१ करोड़ रुपये की कमी थी अर्थात् जितना माल निर्यात किया गया था उससे १८७'५१ करोड़ रुपये का माल अधिक आयात किया गया। यह कमी १९५० में दूर हो गई। १९४९ के निर्यात की अपेक्षा १९५० में १०० करोड़ रुपये के निर्यात अधिक हुए। १९५० में भारत का व्यापार-संतुलन (Balance of Trade) लगभग ४७ करोड़ रुपये से भारत के पक्ष में रहा। इसका अर्थ यह है कि अवमूल्यन के बाद १९५० में १८७ करोड़ की व्यापार की कमी पूरी हो गई और ४७ करोड़ रुपये का आधिक्य (Surplus) और कमा लिया गया। इस आधिक्य के कमाने में एक बात अवश्य हुई और वह यह कि १९५० में १९४९ की अपेक्षा १३४ करोड़ रुपये के आयात कम हो गए। यह तो होना ही था क्योंकि अवमूल्यन का उद्देश्य निर्यात बढ़ाना और आयात कम करना था। इस बात में अवमूल्यन सफल रहा। इतना ही नहीं, भारत का निर्यात सुलभ और दुर्लभ दोनों

ही मुद्रा क्षेत्रों में बढ़ा—

[करोड़ रुपयों में]

	दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र		सुलभ मुद्रा क्षेत्र	
	१९४९	१९५०	१९४९	१९५०
निर्यात	१२०.६४	१४०.७६	३१८.१७	३५०.०४
आयात	१७२.००	१२४.२०	४४५.७८	३२८.९२
शेष	-५१.३६	+१६.५६	-१२७.६१	+२१.१२

ऊपर दिए गए आँकड़ों से ज्ञात होता है कि अवमूल्यन के पश्चात् १९५० में भारत के निर्यात सुलभ मुद्रा-क्षेत्र वाले देशों में बहुत बढ़े। १९४९ में इन देशों के साथ भारत के वैदेशिक व्यापार में लगभग १२८ करोड़ रुपये की कमी थी। अवमूल्यन के बाद १९५० में यह कमी पूरी हो गई और लगभग २१ करोड़ रुपये का आधिक्य रहा। इसी प्रकार दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र वाले देशों से भी भारत का निर्यात १९४९ की अपेक्षा १९५० में लगभग २० करोड़ रुपये से अधिक बढ़ा और कुल मिला कर इन देशों के साथ भारत के व्यापार में लगभग ६७ करोड़ रुपये की बचत हुई। १९५० में अमरीका की अपेक्षा इंगलैण्ड में अधिक माल निर्यात किया—

[करोड़ रुपयों में]

	अमरीका		इंगलैण्ड	
	१९४९	१९५०	१९४९	१९५०
निर्यात	७१.२८	१०१.४२	११५.२४	१२२.०१
आयात	१०२.८१	९३.३०	१४३.४५	११७.२५
शेष	-३१.५३	+८.१२	-२८.२१	+४.७६

इन आँकडों से ज्ञात होता है कि भारत का निर्यात अमरीका की अपेक्षा इँगलैण्ड में अधिक हुआ। परन्तु अमरीका में भी भारत का निर्यात १९४९ की अपेक्षा १९५० में लगभग ३० करोड़ रुपये अधिक हुआ। १९५० में गत वर्षों की कमी पूरी हो गई और २ करोड़ रुपये की बचत रही।

इस प्रकार अवमूल्यन के पश्चात् भारत के निर्यात व्यापार में वृद्धि हुई। पौण्ड भी मिल और डॉलर की समस्या तब उतनी भीषण न रही जितनी सितम्बर १९४९ से पहिले थी। परन्तु एक बात ऐसी हुई जिसके लिए भारत सरकार को और भारतीय जनता को विचार करना आवश्यक है। बात यह हुई कि हमारे आयात मँहगे हो गए और कम भी हुए। अन्न की समस्या को हल करने के लिए अमरीका तथा डॉलर प्रदेश के अन्य देशों से और पाकिस्तान से आयात किया हुआ अन्न हमें महँगा पड़ने लगा। दूसरे, हमारे औद्योगिक विकास के लिए तथा विकास योजनाओं के लिए पूँजीगत माल के आयात में भी हमें नुकसान रहने लगा। अवमूल्यन के कारण ही भारत और पाकिस्तान के रुपयों में विषमता पैदा हो गई जिससे भारत और पाकिस्तान का आपस में लेन-देन बन्द हो गया। भारत और पाकिस्तान का स्वतन्त्र व्यापार बन्द होने से भारत को हानि उठानी पड़ी। पाकिस्तान से आने वाला अन्न, कपास, पटसन तथा दूसरा माल आना बन्द हो गया। अन्न का आयात बन्द होने से देश में अन्न की समस्या विकट होती गई। कपास तथा पटसन न आने से कपडे और जूट की मिलों का भारी नुकसान रहा। कहीं कहीं तो कपडे और जूट की मिलें बन्द करनी पड़ीं।

यद्यपि अवमूल्यन के पश्चात् हमारे निर्यात बढ़े और इस प्रकार हमारे भुगतान संतुलन (Balance of Payments) की विषमता दूर हो गई परन्तु देश के मूल्य स्तर में कोई सुधार नहीं हुआ। निस्सन्देह, अवमूल्यन करते ही सरकार ने अन्न, सूत, कपड़े तथा इस्पात के मूल्य गिराने की भरसक कोशिश की और इसमें कुछ सफलता भी मिली। सामान्य मूल्यांक में ३% की कमी हो गई और मूल्यांक ३८१·२ हो गए। परन्तु मूल्य-स्तर फिर बढ़ने लगे और जून १९५० तक मूल्यांक ३९५.६ हो गए। तब से बराबर मूल्य-स्तर बढ़ते ही रहे। नदियों में बाढ़ आ जाने के कारण कहीं वर्षा न होने के

फसल तथा भूचाल के कारण अन्न की समस्या और विकट हो गई जिससे अन्न के मूल्य बहुत ऊँचे चढ़ गए। जहाँ तक कपास और जूट (पटसन) का प्रश्न है ये दोनों वस्तुएँ पाक-रुपये का अवमूल्यन न होने के कारण दुर्लभ हो गईं। आयात महँगे हो गए और पहिले की अपेक्षा कम भी हुए। आयात कम होने के कारण वस्तुओं की कमी हो गई जिससे उनका मूल्य-स्तर और भी बढ़ गया। कोरिया के युद्ध ने, यूरोप में पुनः शस्त्रीकरण की योजना ने तथा अमरीका की कच्चे माल को संग्रह करके रखने की नीति ने परिस्थिति और भी गम्भीर बना दी। इन सब कारणों से मूल्यों में और भी बढ़ोत्तरी होने लगी। अक्टूबर १९५० में तो मूल्यांक ४१३.५ हो गया। इस प्रकार अवमूल्यन के पश्चात् वस्तुओं के भाव बढ़ते ही गए और सरकार प्रयत्न करने पर भी इनको वश में न कर सकी। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसके द्वारा भारत के निर्यात व्यापार में आशातीत वृद्धि हुई। परन्तु पिछले कुछ महीनों से निर्यात में फिर कमी दिखलाई दे रही है। कुछ लोगों का तर्क है कि भारत के निर्यात बढ़ने का कारण रुपये का अवमूल्यन नहीं वरन् कोरिया का युद्ध था, अमरीका तथा यूरोप की पुनः शस्त्रीकरण की नीति थी और अमरीका का कच्चा माल संग्रह करने की योजना थी। यह ठीक है कि इन कारणों से भी भारत के निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन मिला परन्तु निर्यात बढ़ने के केवल ये ही कारण नहीं रहे। किसी भी एक कारण-विशेष को उठाकर यह कहना कि इसकी वजह से निर्यात बढ़े, ठीक नहीं जान पड़ता। हम किसी भी एक कारण को निर्यात-वृद्धि का श्रेय नहीं दे सकते (We cannot isolate the cause of Exports)। वास्तव में निर्यात तो अवमूल्यन के कारण तथा अन्य उक्त कारणों के योग से बढ़े। अवमूल्यन की वास्तविकता को पहिचानने के लिए तो हमें पक्षपात रहित बनना पड़ेगा। भुगतान-संतुलन की विषमता दूर करने में, निर्यात बढ़ाने में तथा स्वर्ण और डालर कोष बढ़ाने में अवमूल्यन का जो हाथ रहा वह छिपाया नहीं जा सकता। यदि देखा जाय तो अवमूल्यन एक ऐसा कृत्रिम साधन मात्र है जिसके द्वारा देश का माल विदेशों में सस्ता बेचा जा सकता है। आर्थिक संकट का वास्तविक उपाय तो उत्पादन बढ़ाना है और उत्पादन भी ऐसा जिसमें लागत-व्यय कम हो। उत्पादन

बढ़ाकर ही अवमूल्यन से सच्चे लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं। आज इँगलैंड और स्टर्लिङ्ग क्षेत्र में डॉलर का अभाव जो फिर उठ खड़ा हुआ है उसका कारण यही है कि इन देशों में उत्पादन वृद्धि में आशातीत प्रगति न हुई। अब कुछ लोग रुपये के पुनर्मूल्यन के विषय में कानाफूसी करने लगे हैं। इस सम्बन्ध में हम आगे देखेंगे कि क्या यह उपाय सार्थक हो सकता है?

२४—रुपये के पुनर्मूल्यन का प्रश्न

भारतीय रुपये के अवमूल्यन करने की घोषणा के लगभग एक वर्ष पश्चात से ही देश के अर्थशास्त्रियों की जिह्वा पर 'पुनर्मूल्यन' शब्द भी प्रयोग में आने लगा। देश के शिथिल आर्थिक जीवन में विभिन्न मतों की पुष्टि करने के लिए 'पुनर्मूल्यन' शब्द इतना पनपा कि आज सरकार व जनता, उत्पादक व उपभोक्ता, व्यवसायी व उद्योगपति, अर्थशास्त्र के प्रगतिशील व रूढ़िवादी विद्वानों आदि के लिए यह एक विवादग्रस्त व जटिल प्रश्न बन कर खड़ा है। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी करवट लेने लगी हैं कि इस विषय से सम्बन्धित कुछ चोटी के विचारकों का ऐसा मत हो चला है कि 'भारतीय रुपये का अविलम्ब पुनर्मूल्यन होना चाहिए'। आज करोड़ों रुपये के अत्यन्त मंहगे अन्न, रुई व पटसन के आयात गूँज-गूँज कर यह कह रहे हैं कि रुपये का पुनर्मूल्यन देश को करोड़ों रुपये की सम्भव हानि से बचा देगा। पाक रुपये की विनिमय दर को देश विदेशों से दी गई मान्यता भी आज उपरोक्त मत का समर्थन कर रही है। किन्तु यह सब तस्वीर का एक पृष्ठ है। पुनर्मूल्यन का विरोधी दल भी आज अपनी दलीलों से यह सिद्ध कर रहा है कि आये दिन देश की मुद्रा के साथ मनचाही विनिमय-दर बांध कर हम अपनी मुद्रा के साथ 'बन्दर नीति' बरत कर संसार के सामने अपनी अदूरदर्शिता का परिचय नहीं देना चाहते। देश का राजनैतिक ढाँचा आर्थिक जीवन की स्थिरता एवं स्थायित्व पर आज भूतकाल से भी अधिक जोर दे रहा है। पुनर्मूल्यन के विरोधियों का मत है कि पुनर्मूल्यन से सम्भव है हमें सस्ते आयात मिलने लगें पर यह सब कतिपय वस्तुओं पर केवल अल्पकाल के लिए ही लागू होगा। इसलिए वैदेशिक व्यापार के कुछ वस्तुओं के लिए अस्थायी लाभ पाने की भावना से प्रेरित होकर रुपये का पुनर्मूल्यन करना देश के हित में नहीं कहा जा सकता।

इस विवादग्रस्त प्रश्न को निर्विवाद बनाने के लिए कुछ सम्बन्धित व आवश्यक वस्तुओं पर विचार करना आवश्यक है।

पुनर्मूल्यन की विभिन्न सीढ़ियाँ—पुनर्मूल्यन के परिणामों को तटस्थतापूर्वक तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि यह न जाना जाय कि आखिर पुनर्मूल्यन किस दिशा में, किस मात्रा तक व किसके साथ रहकर करना है। इस ओर ये सम्भावनाएँ हो सकती हैं —

१. स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के देशों, विशेषकर इँगलैण्ड के पौण्ड के साथ साथ ही भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन।

२. स्टर्लिंग क्षेत्र के देश अपनी अपनी मुद्राओं का पुनर्मूल्यन चाहे करें या न करें परन्तु भारतीय रुपये का अविलम्ब पुनर्मूल्यन।

३. क्या भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन उस मात्रा तक किया जाय (३०.५%) कि भारतीय रुपये की विनिमय दर अवमूल्यन से पूर्ववत्-सी हो जाय?

४. क्या भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन अवमूल्यन की हुई दर से अधिक या समदर पर किया जाय अर्थात् ३०.५% से कम या अधिक किया जाय?

यदि पुनर्मूल्यन के पक्ष की दलीलों के अनुसार आज भारतीय रुपये के डॉलर मूल्य में परिवर्तन कर दिया जाय तो उसका प्रभाव देश के समस्त आर्थिक शरीर पर पड़ेगा। देश का वैदेशिक व्यापार, भारत-पाक सम्बन्ध, राष्ट्रीय सम्मान आदि विषय भी अपनी गम्भीरता लिये खड़े हैं।

(क) देश का वैदेशिक व्यापार

आयात—सन् १९५० में भारतवर्ष के कुल आयात ५४२ करोड़ रुपये के थे। इस वर्ष अन्न आयात की विशेष योजना के कारण सन् १९५२ में आयात की मात्रा लगभग ६०० से ६५० करोड़ रुपये की होगी, ऐसी सम्भावना है। यदि भारतीय रुपये का संसार की मुद्राओं के विपरीत पुनर्मूल्यन कर दिया जाय तो ऐसी दशा में भारतवर्ष को लगभग १८३ करोड़ रुपये का लाभ हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमें निश्चित मात्रा के आयातों के लिये १८३ करोड़ रुपये कम देने पड़ेंगे। इस धन राशि का प्रभाव हमारे वैदेशिक विनिमय कोष (Foreign Exchange Fund) पर भी बड़ा स्वास्थ्यप्रद होगा और उपरोक्त कम दिये जाने वाले करोड़ों रुपये का भार हमें नहीं झेलना

पड़ेगा। सस्ते आयात से देश की आर्थिक दशा कुछ उन्नत हो सकेगी क्योंकि सस्ते आयात का अर्थ रहन सहन के मूल्य में कमी होना है जिसकी कि आज भारतवर्ष में अत्यंत आवश्यकता है। हमारे यहाँ रहन-सहन का स्तर अन्य देशों की अपेक्षा नीचा होते हुए भी काफी मूल्यसूचक है जिसका कि विशेष कारण मंहगे आयात हैं। यदि पुनर्मूल्यन से आयात खूब सस्ते हो जायँ तो सचमुच देश के मध्यम वर्ग की दशा कुछ सन्तोषजनक हो सकती है।

निर्यात—जिस प्रकार पुनर्मूल्यन से हमें आयात सस्ते पड़ते हैं उसी प्रकार हमारे निर्यात भी पुनर्मूल्यन के पश्चात् विदेशों को महगे पड़ेंगे और हम उनसे आज की अपेक्षा उनकी मुद्रा में अधिक कीमत ले सकेंगे। अर्थ यह है कि हमारे निर्यात की वस्तुओं को जिनका कि उपभोग अमेरिका आदि देशों के लिए अनिवार्य-सा है या पुनः शस्त्रीकरण की योजना से हो गया है, अधिक डालर मिलेंगे। जूट का माल, मैगनीज व चाय आदि कुछ ऐसी वस्तुएं हैं जिनका दुर्लभ मुद्रा वाले देशों को प्रति वर्ष हमारे यहाँ से आयात करना पड़ता है। भारतवर्ष को पटसन की चीजों में तो एक प्रकार का सर्वाधिकार सा प्राप्त है। पौंड-पावने वाले देशों को भी यदि उन्होंने पुनर्मूल्यन नहीं किया हम मँहगे निर्यात भेजकर काफी रुपया कमायेंगे। पटसन का माल, गुड़गुड़, मैंगनीज व चाय आदि कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जो भारी-भारी मात्रा में दुर्लभ मुद्रा वाले देशों को हमारे यहाँ से निर्यात की जाती हैं। पुनर्मूल्यन करने से इस निर्यात पर अधिक डालर कमाए जा सकेंगे। स्टर्लिंग-क्षेत्र वाले देशों को भी, यदि उन्होंने पुनर्मूल्यन नहीं किया, तो हम मँहगे निर्यात भेजकर काफी रुपया कमा सकेंगे।

(ग) भारत-पाक व्यापार

अवमूल्यन के पश्चात् हमें अपने पड़ोसी देश पाकिस्तान से व्यापार में कम लेना और अधिक देना पड़ा है। यदि हम पाकिस्तान के साथ व्यावारिक लेन-देन को अपने अनुकूल बनाना चाहते हैं तो पुनर्मूल्यन इसमें खूब सहायक हो सकता है। हम पाकिस्तान से अधिकतर कच्चा जूट, रुई, खाल व चर्म और अन्न आदि मंगाते हैं जिस पर हमें ४४ प्रति शत अधिक देना पड़ता है अर्थात् पाकिस्तानी १०० रुपये के माल के बदले में १४४ रुपये चुकाने पड़ते हैं। यदि

भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन कर दिया जाय तो हमें पाकिस्तान से माल मँगाने पर काफी बचत हो सकती है। निम्नांकित तालिका इस बात की पुष्टि कर रही है :—

पुनर्मूल्यित भारतीय रुपये के आधार पर पाकिस्तान से किए जाने वाले आयात लागत में अनुमानत: बचत-निर्देशक तालिका*

वस्तु	अनुमानतः लागत जून १९५२ तक के समय के लिए (करोड़ रुपये)	३०·५ प्रतिशत के हिसाब से आयात लागत पर बचत
पटसन	८२·००	२८·०२
रुई	५१·०४	१८·०४
खाल व चर्म	८·४०	१·२०
योग	१४१·४४	४७·२६

पुनर्मूल्यन के विरोध की युक्तियाँ

(१) जैसा कि पहिले बताया गया है रुपये के पुनर्मूल्यन से हमारे आयात सस्ते हो जायेंगे। यदि यह दलील पूर्ण सत्य हो तो कहना ही क्या? सस्ते आयात की दलील को स्वीकार करते हुए यह ध्यान में रखना चाहिए कि अन्न, पटसन व रुई आदि के आयात हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। ये वस्तुएँ हमें किसी भी दर पर विदेशों से मँगानी पड़ेंगी। हमारी इस कमजोरी को अमेरिका व पाकिस्तान पूर्णतया समझते हैं व इसका लाभ भी उठा रहे हैं। इसलिए इस सत्य की अवहेलना नहीं की जा सकती कि भविष्य में भी, चाहे हम रुपये का पुनर्मूल्यन कर दें, ये देश किन्हीं कृत्रिम साधनों से (निर्यात कर लगाकर) हमें सस्ते आयातों का सुअवसर नहीं देंगे। अत: सब वस्तुओं के आयात सस्ते होने की सम्भावना कोरा स्वप्न है जो शायद कभी भी हितकर सिद्ध न हो। विरोधियों का कहना है कि पुनर्मूल्यन के कारण यदि आयात सस्ते भी हुए तो १८३ करोड़ रुपये का लाभ तो सन्देहजनक है।

* ईस्टर्न इकौनोमिस्ट के सौजन्य से

(२) पीछे बताया गया है कि पुनर्मूल्यन करने से भारत के निर्यात व्यापार द्वारा भारी-भारी मात्रा में विदेशी मुद्रा कमाई जा सकेगी। किन्तु यदि इतनी सरलता से हमें दुर्लभ व सुलभ मुद्रा उपलब्ध होने लगे तो कौन अभागा देश इस अवसर का उपयोग नहीं करेगा। परन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। हमें यह नहीं भुलाना चाहिए कि यदि हमारे निर्यात निरन्तर मँहगे रहे तो अमेरिका आदि देशों के उपभोक्ता बहुत कम मात्रा में इनका उपयोग करेंगे जिसका अर्थ यह होगा कि हमारे निर्यात व्यापार में कमी होने लगेगी; स्टर्लिङ्ग क्षेत्र वाले देश, जिनसे हमारा अधिकांश व्यापार होता है, हमारे यहाँ से माल मँगाना बहुत कम कर देंगे। पुनर्मूल्यन के विरोधियों का कहना है कि हमारे कुछ निर्यात ऐसे हैं जिनका डालर-मूल्य बढ़ाया जा सकता है किन्तु यह बात समूचे निर्यात की समस्त वस्तुओं पर लागू नहीं हो सकती। योरपीय देशों की पुनःशस्त्रीकरण की योजना में भी काफी कटौती कर दी गई है इसलिए अनिवार्य वस्तुओं का निर्यात भी कम मात्रा में होने लगेगा। हमारे निर्यात की सारी वस्तुएँ विदेशों के लिए अत्यन्त आवश्यक नहीं हैं। इसलिए पुनर्मूल्यन के कारण बढ़ी हुई डालर कीमत पर सम्भव है विदेशवाले हमारी कई चीजों को न खरीदें। इन सब का सारांश यह है कि पुनर्मूल्यन से देश के निर्यात व्यापार को, अधिक डालर कमाने वाले निर्यातों को दृष्टिगत रखते हुए भी, कुछ क्षति हो सकती है जिसके लिए वर्तमान परिस्थिति में देश कभी भी राजी न होगा।

(३) पुनर्मूल्यन के समर्थकों का कहना है कि पुनर्मूल्यन के द्वारा भारत-पाक व्यापार में भारत को पाकिस्तान से आयात करने से लाभ रहेगा। इस बात की पुष्टि के लिए पीछे आँकड़े भी दिए गए हैं। इन आँकड़ों को मान्यता देते समय हमें दूसरे सत्य का भी अनुसरण करना चाहिये। पाकिस्तान से लिए जाने वाले आयातों में कच्चे जूट का आयात ऐसा है जिसमें कि उस देश का सर्वाधिकार सा प्राप्त है। देखने में तो तालिका में अंकित २२·०२ करोड़ रुपये की बचत बड़ी सुहावनी लगती है पर पाकिस्तान भी आर्थिक दृष्टि से अपने राष्ट्रीय हितों को देख सकता है। हम अपने रुपये का पुनर्मूल्यन करके पाकिस्तान से आज की अपेक्षा सस्ता पटसन खरीदें और उसका माल बनाकर मँहगे भावों पर उसका निर्यात करें—इस बात को क्या पाकिस्तान

बैठा बैठा देखता रहेगा ? क्या पाकिस्तान इस दुधारी तलवार पर कटने मरने को राजी हो जायगा ? कदापि नहीं। पाकिस्तान अपने निर्यात की कीमत बढा सकता है और सम्भवत. कच्चे पटसन के बारे में अपने हित को दृष्टिगत रखते हुए वह मनचाही भी बरतने लग सकता है। ऐसी दशा में पिछली तालिका में अंकित अनुमानत बचत अपूर्ण सत्य सिद्ध होगा। यह तो बड़ी साधारण सी बात है कि पाकिस्तान कच्चा पटसन सस्त भाव पर देकर पटसन का माल आज से ३० प्रतिशत अधिक मूल्य पर क्यों खरादेगा। पिछले २४ महीनों का अनुभव इस बात का परिचायक है कि हमारा जूट उद्योग पाकिस्तान से आये कच्चे माल को सदा तरसता है। *ऐसी स्थिति में यह सोच लेना भी असंगत नहीं जान* पड़ता कि ज्यों ही हम भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन करेंगे त्योंही पाकिस्तान में कच्चे पटसन के भाव बढ जायेंगे और हमारी तालिका की प्रस्तावित बचत एक *वर्णन सी रहेगी।*

यदि पुनर्मूल्यन के वैदेशिक व्यापार पर होनेवाले प्रभावों को हम थोड़े समय के लिये ताक में रख दें तो भी देश के वार्षिक बजट पर इसका पूरा प्रभाव पड़ेगा। हमारे देश में निर्यात कर (Export Duty) से पिछले वर्षों में मालगुजारी की काफी सहायता हुई है व सन् १९५२-५३ के आय-व्यय पत्रक में भी इस कर से सहायता होने की काफी आशा है। भारतीय निर्यात की वस्तुओं को विदेशों में उपलब्ध ऊँचे भावों पर बेचने के लिए यह कर लगाया जाता है, जिसका लाभ देश की सरकार को होता है। यदि रुपये का पुनर्मूल्यन कर दिया गया तो हमारे निर्यात स्वतः ही मँहगे हो जायेंगे और इसकी आवश्यकता न रहेगी। इसका अर्थ यह होगा कि करोड़ों रुपये की आय, जो कि सरकार को इस कर के द्वारा होती थी, तब वह उससे वंचित रह जायगी।

पुनर्मूल्यन का विरोध करनेवालों की अन्य ठोस दलीलें

वैसे तो पुनर्मूल्यन के होने वाले प्रभावों को जाँचते समय ही पुनर्मूल्यन के विरोधियों की दलीलों को ध्यान में रखा गया है किन्तु उनके अतिरिक्त यह अन्य दलीलें भी वे समय-समय पर रख रहे हैं :—

(१) विश्व की डाँवाडोल आर्थिक स्थिति को देखते हुए हमें अपनी मुद्रा का मूल्य हर समय नहीं बदलना चाहिये। आज के भारतीय निर्यात बाजार में शान्ति होने पर रुक भी सकते हैं और कम भी हो सकते हैं। यदि कोई अस्थायी लाभ वैदेशिक व्यापार में उठाना भी हो तो निर्यात-कर के शस्त्र द्वारा ही उसको प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। निर्यात-कर को आवश्यकतानुसार घटा-बढ़ा कर भी हम काम चला सकते हैं।

(२) यह योजना कि पाकिस्तान को अवमूल्यन न करने से बहुत लाभ हुआ है इसलिए भारत को भी रुपये का पुनर्मूल्यन कर लेना चाहिए, कोई निर्विवाद सत्य नहीं है। योरुप में पुनः शस्त्रीकरण की योजना, कोरिया युद्ध, व विश्व की अधमरी आर्थिक-स्थिति के कारण विदेशों में पाकिस्तान के कच्चे माल की सदा माँग रही है। किन्तु भारत को परिस्थिति बिलकुल भिन्न है। अन्न की समस्या को दूर करने के लिए भारत को भारी-भारी आयात करने पड़ रहे हैं—इस परिस्थिति में रुपये का पुनर्मूल्यन न करना ही हितकर है।

(३) जब रुपये का अवमूल्यन किया गया तब इसी बात को लेकर कि हमारा अधिकांश व्यापार स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र के देशों से है इस काम को बुद्धिमानी का कदम बताया गया था। आज यदि स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र के देश पुनर्मूल्यन न करें तो भारतीय मुद्रा का पुनर्मूल्यन इस बात को बताएगा कि या तो अवमूल्यन करते समय हमने अपनी क्षीण बुद्धि का परिचय दिया था और यदि यह ऐसा नहीं था तो स्टर्लिङ्ग-क्षेत्र के साथ अपने व्यापार का अवहेलना करके हम आज अपनी कुण्ठित बुद्धि का परिचय दे रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के देशों से हमारे व्यापारिक सम्बन्ध बहुत प्रौढ़ हो चुके हैं इसलिए हमारे एकाकी पुनर्मूल्यन से उन सम्बन्धों को गहरी चोट लगने की संभावना है।

(४) आए दिन किसी अस्थायी आर्थिक स्थिति से साधारण सा लाभ उठाने की चेष्टा को सफल बनाने के लिए हमें अपनी मुद्रा की विनिमय-दर से खिलवाड़ नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे राष्ट्रीय सम्मान को ठेस लगती है और हमारे भविष्य में किए जाने वाले प्रत्येक 'निश्चय' को सदा 'निर्बल' और 'अस्थायी' शब्दों से पुकारे जाने की शंका बनी रहती है।

रुपये के पुनर्मूल्यन का विरोध करनेवालों की सबसे बड़ी दलील यही है कि पुनर्मूल्यन से होने वाला लाभ निर्यात कर लगा कर भी प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु निर्यात कर लगाकर ही लाभ उठाने की नीति कोई स्थायी उपाय नहीं कहा जा सकता। उसे भी समय-समय पर बदलना पड़ेगा जैसे कि आज विनिमय दर को बदलने की माँग की जा रही है। विनिमय दर तो उद्देश्य पूर्ति का एक साधन मात्र है। उसे बदल लेने से हम अपना उद्देश्य नहीं बदल लेते हैं। इसलिए हम चाहे मुद्रा की विनिमय दर बदलें या निर्यात-कर—उनके बदलने में सिद्धान्त रूप से हमारे सम्मान और अपमान में कोई अन्तर नहीं पड़ता। निर्यात कर के विरुद्ध एक और भी दलील है। यह कर हमें निर्यात करने में लाभ दिला सकता है परन्तु इससे हमारे आयात सस्ते होने की समस्या पूर्ण नहीं हो सकती। इस समय हमें इस बात की आवश्यकता है कि सस्ते आयात करके अन्न की कमी पूरी की जाय तथा देश का उद्योगीकरण किया जाय और यह तभी हो सकता है जबकि रुपये का पुनर्मूल्यन न हो। अतः वर्तमान परिस्थिति में अपने हितों को ठुकरा कर ही रुपये का पुनर्मूल्यन किया जा सकता है।

सब परिणामों का ध्यान में रखकर यही कहा जा सकता है कि रुपये का पुनर्मूल्यन इस समय हमारे हित में नहीं है। पुनर्मूल्यन हमारे समाज के कुछ विभागों के लिए लाभकारी होगा, परन्तु अन्य विभागों को बहुत हानि पहुँचायेगा। अब तो भारत में भाव गिर गए हैं, इसलिए रुपये के पुनर्मूल्यन का प्रश्न और भी कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त, शेष संसार में मुद्रा सकोच की प्रवृत्ति उदित हो जाने के कारण, जो इंगलैण्ड की बैंक दरों में हाल की भारी वृद्धि से स्पष्ट है, रुपये का पुनर्मूल्यन अव्यावहारिक भी हो सकता है। इन सब परिस्थितियों से अतत भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन देश के लिए हितकर न होगा।

वित्तमन्त्री का अस्थायी निर्णयात्मक वक्तव्य

पुनर्मूल्यन के इसी विवादग्रस्त प्रश्न को लेकर भारत के माननीय वित्त-मन्त्री श्री देशमुख ने एक वक्तव्य देते हुए बताया है कि अभी हम पुनर्मूल्यन

न करने का निश्चय कर चुके हैं क्योंकि इसी में देश का हित है। किन्तु इस निर्णय का अर्थ यह नहीं कि हमारा यह निर्णय अमिट और स्थायी हो। यदि परिस्थितियों ने हमारे अनुकूल करवट ली तो सम्भव है हम भविष्य में इस प्रश्न को सरकार के सामने फिर विचार करने को रख सकते हैं। भारत सरकार द्वारा बैठाई गई पुनर्मूल्यन समिति के अधिवेशन में भी वित्त-मंत्री ने इसी बात पर जोर दिया था कि इस प्रश्न को अभी छुआ न जाय वरन् समय पड़ने पर फिर उस पर विचार किया जाय।

वैसे तो संसार भर के अर्थशास्त्रियों ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स की उस घोषणा को भी सुना था कि 'पौण्ड का अवमूल्यन मेरी लाश पर होगा' किन्तु कुछ ही दिनों बाद उन्होंने स्वयं ही पौण्ड पावने के अवमूल्यन की घोषणा कर दी। वित्त मंत्री माननीय श्री देशमुख के वक्तव्य को भी हम उस स्तर पर ले सकते हैं किन्तु फिर भी सरकारी निश्चयानुसार बहुत ही निकट भविष्य में भारतीय रुपये के पुनर्मूल्यन की सम्भावना बहुत कम है।

आज समस्त संसार में आर्थिक दरारें पड़ रही हैं, प्रत्येक देश उपलब्ध अवसर का आर्थिक उन्नति के लिए विदोहन कर रहा है, कभी अमेरिका की पुनः शस्त्रीकरण की योजना में कटौती की जाती है तो कभी सारा यूरोप शस्त्रीकरण पर तुला हुआ है। ऐसी डगमगाती दशा में संसार के किसी भी भूकम्प के धक्के से भारत सरकार द्वारा रुपये के पुनर्मूल्यन की घोषणा हम किसी भी दिन सुन कर विस्मय में नहीं पड़ सकते।

३५--अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष और भारत

आज संसार का प्रत्येक देश यह चाहता है कि वहाँ के निवासियों का जीवन स्तर उंचा हो तथा वहाँ के सभी लोग राष्ट्रीय आय बढ़ाने के लिए कुछ न कुछ काम करें। परन्तु यह तभी हो सकता है जबकि संसार के सभी, और सभी नहीं तो अधिकांश देश मिलकर काम करें, उनकी आर्थिक तथा मुद्रा नीति एकसी हो तथा उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध न हों। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सुविधा के लिए यह आवश्यक है कि उन देशों की मुद्राओं का आपस का विनिमय दर स्थायी रहे और उसमें कोई असाधारण उतार चढ़ाव न हो। युद्ध के पश्चात तो इस बात को और भी अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक समझा गया है कि संसार में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्वतंत्रता होनी चाहिये जिससे युद्ध में बिगड़े हुए राष्ट्र युद्ध के पश्चात् अपना अपना पुनः संगठन और आर्थिक-निर्माण कर सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए युद्धकाल में ही अनेक योजनाएँ बनाई गईं। एक योजना इंगलैण्ड ने बनाई जिसके अन्तर्गत 'अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ' (International Clearing Union) बनाने का प्रस्ताव किया था। दूसरी योजना अमरीका ने बनाई जिसमें 'अन्तर्राष्ट्रीय स्थायिक कोष' (International Stabilization Fund) बनाने का सुझाव दिया था। ये दोनों योजनाएँ १९४३ में प्रकाशित की गईं। १९४४ में इंगलैण्ड और अमरीका ने मिलकर एक सम्मिलित योजना बनाई जिस पर विचार करने के लिए ब्रेटनवुड्स (Brettonwoods) नामक स्थान पर एक कान्फ्रेंस हुई। इस कान्फ्रेंस में ४४ देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। कान्फ्रेंस ने सर्वसम्मति से पास किया कि संसार के सभी देशों के आर्थिक विकास के लिए दो मुद्रा संस्थाएँ बनाई जाएँ। सभी देशों की सरकारों ने इस योजना को मान लिया और दो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा संस्थाएँ बनाई गईं। उनमें से एक तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष है तथा दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक। यहाँ हम अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का अध्ययन करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के निम्न उद्देश्य हैं :—

(१) संसार के देशों में मुद्रा सम्बन्धी एकता पैदा करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाना।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने तथा उन्नत करने की सुविधाएँ देना जिससे कोष के सभी सदस्य देश अपना-अपना आर्थिक विकास कर सकें और अपने-अपने आर्थिक साधनों का विदोहन करके देशवासियों को भरपूर काम दे सकें।

(३) सदस्य देशों की मुद्राओं की आपस की विनिमय दर का प्रबन्ध करना तथा विनिमय दर को स्थिर बनाने का प्रयत्न करना।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान लेने देने में सहायता करना तथा किसी भी सदस्य देश में लगाए गए विदेशी-विनिमय सम्बन्धी नियंत्रणों को दूर करने का प्रयत्न करना जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई अड़चन न हो।

(५) सदस्य देशों की भुगतान सम्बन्धी विषमताओं को दूर करने के लिए विदेशी मुद्राएँ उधार सदस्य-देशों को सहायता करना।

(६) जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी भुगतान सम्बन्धी विषमताओं को दूर करना।

इस प्रकार मुद्रा-कोष का एकमात्र उद्देश्य सदस्य-देशों को विदेशी-विनिमय सम्बन्धी सुविधाएं देना है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति हो और इसके द्वारा सदस्य देश अपना अपना अधिक से अधिक आर्थिक विकास कर सकें। यह ध्यान रहे कि मुद्रा-कोष युद्ध में दिए लिए गये ऋणों का भुगतान चुकाने में या युद्ध के कारण नष्ट हुए देशों के आर्थिक नव निर्माण में कोई सहायता नहीं करता और न इसका यह उद्देश्य है।

वे सब देश जिनके प्रतिनिधियों ने ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में भाग लिया था तथा, जिन्होंने ३१ दिसम्बर १९४५ से पहिले कोष का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था, कोष के मौलिक-सदस्य माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त और दूसरे देश भी कोष के सदस्य बन सकते हैं। कोई भी सदस्य-देश लिखित सूचना देकर कोष से अपना सम्बन्ध तोड़ सकता है। यदि कोई सदस्य देश

कोष के प्रति अपने कर्त्तव्य न निभाए तो कोष का अधिकार है कि वह उस सदस्य को अलग कर दे। प्रत्येक सदस्य की कोष में कुछ राशि निश्चित कर दी गई है। जिसे 'कोटा' (Quota) कहते हैं। प्रत्येक सदस्य देश को अपने कोटे की राशि कोष में जमा करना पड़ती है। 'कोटे' इस प्रकार नियत किए गए हैं—

	डॉलरों में (000,000)		डॉलरों में (000,000)
अमरीका	२७५०	बेल्जियम	२२५
इंगलैण्ड	१३००	आस्ट्रेलिया	२००
रूस	१२००	ब्राजील	१५०
चीन	५५०	जैकोस्लाविया	१२५
फ्रांस	४५०	पोलैण्ड	१२५
भारत	४००	अमाना	१००
केनेडा	३००	अन्य देश	१०० से कम
नैदरलैण्ड	२७५		

प्रत्येक सदस्य को अपना कोटा बदलवाने का अधिकार है। कोष को भी अधिकार है कि वह पाँच वर्ष के बाद सदस्य-देश की अनुमति लेकर उसकी कोटा राशि में फेर बदल कर सकता है। कोटा प्रत्येक देश के स्वर्ण कोष तथा युद्ध पूर्व के विदेशी व्यापार को ध्यान में रख कर निश्चित किए गए हैं। सदस्यों को अपने कोटे की राशि कोष में जमा करनी पड़ती है—यह राशि इस भाँति जमा करनी होती है—

(१) कुल 'कोटे' का २५% या सदस्य देश के स्वर्ण तथा डॉलर-कोष का १०%, इन दोनों में जो भी कम हो, सोने के रूप में जमा करना पड़ता है।

(२) कोटे का शेष भाग सदस्य देश को अपनी अपनी मुद्राओं या सिक्यूरिटियों में जमा करना पड़ता है।

मुद्रा-कोष का प्रबन्ध करने के लिए एक बोर्ड ऑफ गवर्नर्स, एक सचालक समिति तथा एक प्रबन्ध सचालक है। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स में प्रत्येक सदस्य-देश

द्वारा चुने हुए एक गवर्नर तथा स्थानापन्न-गवर्नर होते हैं जो पाँच वर्ष के लिए चुने जाते हैं, परन्तु अवधि समाप्त होने पर इनको फिर चुना जा सकता है। संचालक समिति में १२ संचालक होते हैं जिनमें ५ उन देशों के होते हैं जिनको अधिक से अधिक 'कोटा'-राशि नियत की गई है, २ अमरीका-गणतन्त्र द्वारा चुने हुए होते हैं तथा ५ अन्य दूसरे सदस्य-देशों द्वारा चुने हुए होते हैं। संचालक-समिति एक प्रबन्ध-संचालक चुनती है जो कोष के दिन-प्रतिदिन के काम की देख-भाल करता है। प्रबन्ध संचालक को मत देने का अधिकार नहीं होता परन्तु आवश्यकता के समय प्रबन्ध-संचालक अपना निर्णायक-मत (Casting Vote) दे सकता है।

मुद्रा-कोष का प्रधान कार्यालय अमरीका में है। कोष का आधा सोना अमरीका में रक्खा गया है तथा ४० % सोना अन्य बड़े 'कोटा' वाले चार देशों में रक्खा गया है और शेष सोना अन्य देशों में रक्खा गया है।

सभी सदस्य-देशों ने अपनी-अपनी मुद्राओं के सम-मूल्य (Par Values) निश्चित कर दिए हैं। ये सम मूल्य (Par Values) या तो सोने के अनुपात में निश्चित किए गए हैं और या अमरीका के डॉलरों के अनुपात में रक्खे गए हैं। जब कोई सदस्य-देश कोष में से विदेशी-विनिमय या सोना खरीदता या बेचता है तो उसका मूल्य इन्हीं सम-मूल्यों के हिसाब से चुकाया जाता है। इससे सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि मुद्राओं की आपस की विनिमय दर में कोई उतार-चढ़ाव नहीं होते और दर स्थायी बनी रहती हैं। सदस्य-देशों की मुद्राओं के इन सम-मूल्यों में परिवर्तन भी किया जा सकता है परन्तु यह परिवर्तन मुद्रा-कोष की सलाह से ही हो सकता है। सम-मूल्यों में परिवर्तन करने की निम्न व्यवस्था की गई है :—

(अ) कोई भी सदस्य-देश अपनी मुद्रा के सम-मूल्य में १० % तक की फेर-बदल बिना कोष की सलाह के भी कर सकता है।

(ब) यदि इससे अधिक फेर-बदल करनी हो तो उसके लिए कोष से आज्ञा लेने की आवश्यकता होती है। कोष को इस विषय में अपना निर्णय ७२ घंटे के अन्दर दे देना पड़ता है।

(स) मुद्राओं के सम-मूल्यों में परिवर्तन तभी किया जा सकता है जबकि भुगतान विषमता व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अड़चनों को दूर करने के लिए उसकी आवश्यकता हो।

(द) कोष की सलाह के बिना सम मूल्य परिवर्तन करने वाले सदस्य देश को दण्ड (जुर्माना) देना पड़ता है।

इस प्रकार सदस्य देशों की मुद्राओं की विनिमय दर सोने या डॉलरों के आधार पर निश्चित की गई हैं। सोना ही एक प्रकार से इन देशों की मुद्राओं के मूल्य को माप दण्ड (Measuring Rod) है, अर्थात् सभी मुद्राओं के मूल्य सोने पर आश्रित हैं।

सदस्य देश मुद्रा-कोष से लेन देन का काम अपने-अपने केन्द्रीय बैंकों, राज्य कोषों तथा अन्य ऐसी ही सस्थाओं द्वारा करते हैं।। कोई भी सदस्य देश अपनी मुद्रा या सोना देकर बदले में कोष से दूसरे देश की मुद्रा खरीद सकता है परन्तु कोष विदेशी मुद्रा तभी बेचता है जबकि—

(१) कोष को यह विश्वास हो जाय कि खरीदने वाले देश को उसकी वास्तव में आवश्यकता है और वह उसे कोष के आदर्शों की पूर्ति करने में लगाएगा।

(२) कोष के पास उस विदेशी मुद्रा की कमी न हो।

कोई भी सदस्य देश एक वर्ष (बारह महीने) में अपने 'कोटा', के २५ प्रतिशत से अधिक राशि की विदेशी मुद्रा कोष से नहीं खरीद सकता तथा वह देश कुल मिलाकर अपने 'कोटा' के २०० प्रतिशत से अधिक राशि की विदेशी मुद्रा कोष से नहीं खरीद सकता।

कोष से ली हुई राशि कोष के उद्देश्यों को छोड़ अन्य किसी काम में नहीं लगाई जा सकती। केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सुविधा के लिए या विनिमय-दर स्थायी बनाने के लिए ही कोष की राशि काम में लाई जा सकती है।

यदि किसी समय कोष में किसी भी सदस्य देश की मुद्रा की कमी हो जाय तो कोष उस मुद्रा को दुर्लभ-मुद्रा (Scarce Currency) घोषित कर सकता है। ऐसा करते समय यह आवश्यक है कि कोष एक रिपोर्ट तैयार करे

और सभी सदस्यों को सूचित कर दे कि अमुक मुद्रा अमुक कारणों से 'दुर्लभ मुद्रा' घोषित कर दी गई है। दुर्लभ-मुद्रा घोषित करने के बाद कोष का यह कर्तव्य है कि वह उस मुद्रा को प्राप्त करके पूर्ति करने का प्रयत्न करे। इसके लिए चाहे तो कोष उस सदस्य-देश से, जिसकी मुद्रा दुर्लभ घोषित की गई है, सोना देकर उसकी मुद्रा खरीद ले और चाहे उससे उधार ले ले। और यदि ऐसा सम्भव न हो तो अन्य किसी सदस्य देश से सोने के बदले में दुर्लभ-मुद्रा खरीदकर उसकी पूर्ति करे जिससे उस मुद्रा का अभाव दूर हो जाय।

मुद्रा-कोष के उद्देश्यों और आदर्शों की पूर्ति के लिए सदस्य-देशों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था भी की गई है। प्रतिबन्ध इस प्रकार हैं—

१. सदस्य-देश मुद्रा के लेन-देन पर कोई प्रतिबन्ध और रोक-थाम न लगावें।

२. वे मुद्रा सम्बन्धी नीति में किसी प्रकार का पक्षपात न करें।

३. वे कोष के आदेशों का पालन करें तथा जो कुछ भी सूचना कोष के अधिकारी माँगें उसे तुरन्त कोष को भेजते रहें।

४. वे सम-मूल्य से अधिक या कम-दर पर सोना न खरीदें और न बेचें।

परन्तु कोष ने सक्रान्ति काल में विदेशी-विनिमय के लेन-देन पर नियन्त्रण लगाने की स्वीकृति दे रक्खी है। कोष बनने के पाँच वर्ष तक सदस्य-देश विदेशी विनिमय पर रोक-थाम लगा सकते हैं परन्तु इसके पश्चात् रोक-थाम लगाने के लिए कोष से आज्ञा लेना अनिवार्य होगा। यदि कोई सदस्य-देश कोष बनने के पाँच वर्ष के बाद भी कोष की आज्ञा के बिना विदेशी-विनिमय पर नियंत्रण लगायेगा तो कोष को अधिकार होगा कि वह उस सदस्य-देश को कोष में से निकाल दे। परन्तु परिस्थितियों वश कोष ने ३१ मार्च १६५२ के पश्चात् भी विदेशी-विनिमय सम्बन्धी रोक-थाम लगाए रखने पर सदस्यों को अनुमति दे दी है। इसी प्रकार कोष ने गत वर्ष सोने को निश्चित मूल्य से अधिक दर पर प्रीमियम के साथ क्रय-विक्रय करने की भी स्वीकृति दे दी है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के उद्देश्यों तथा क्रिया-प्रणाली का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कोष का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को उन्नत

करना है। कोष का यह उद्देश्य सराहनीय है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उन्नत होने से ही ससार के भिन्न-भिन्न देशवासियों को भरपूर काम मिल सकता है और तभी उनका रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा हो सकता है। अगर युद्ध-ध्वसित देशों की आर्थिक उन्नति करनी है तो यह आवश्यक है कि उनके वैदेशिक व्यापार को उन्नत बनाया जाय क्योंकि तभी ससार के करोड़ों नर नारियों को रोटी कपड़ा मिल सकता है। यही सब कुछ करने के लिए मुद्रा-कोष प्रयत्नशील है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एक ऐसी सस्था है जिसके द्वारा ससार भर की मुद्राओं की विनिमय दर को स्थायी रखने का प्रयत्न किया जायगा जिससे ससार के सभी देश आर्थिक उन्नति कर सकें। यह एक ऐसा साधन है जिसमें ससार के अनेक देशों की मुद्राएँ जमा रक्खी जायेंगी जिससे देनदार देश अपने लेनदार-देश की मुद्रा खरीद कर उसका भुगतान चुका सकें। इसके द्वारा भुगतान चुकाने वाले देशों को सुविधा हो जायगी क्योंकि अब उन्हें विदेशी मुद्रा में भुगतान चुकाने के लिए इधर-उधर नहीं भटकना पड़ेगा। कोष का काम विदेशी मुद्राएँ उधार देना नहीं है वरन् विदेशी मुद्राएँ बेचना है। विदेशी मुद्रा बेचकर कोष सदस्य देशों की आवश्यकता पूर्ण करता है जिससे वे अपनी कठिनाइयों का सरलता से सामना कर सकें।

अब कोष के बन जाने से आगामी भविष्य में ससार के देशों को विदेशी-विनिमय पर नियत्रण लगाने की अधिक आवश्यकता नहीं रहेगी, ऐसी आशा है, क्योंकि उनकी आवश्यकताएँ अब कोष के द्वारा पूर्ण हो जाया करेंगी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एक प्रकार का ऐसा व्यापारी है जो विदेशी मुद्राओं की खरीद बेच करता है परन्तु अपने लाभ के लिए नहीं वरन् सदस्य-देशों के हित के लिए। कोष सदस्य देशों की मुद्राओं के सम-मूल्यों को स्थिर रखने का एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा ससार भर की मुद्राओं की विनिमय दर स्थायी बनाई जा सकती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई कठिनाई न हो।

मुद्रा-कोष ने सोने को एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया है। सभी सदस्य-

देशों ने अपनी अपनी मुद्रा का सम मूल्य सोने में व्यक्त किया है। इसमे सोना सब देशों की मुद्राओं का माप-दण्ड बन गया है। परन्तु इसमे यह नहीं समझना चाहिए कि संसार मे वही स्वर्ण-प्रमाप आ गया है जो १६३१ से पहिले अनेक देशों में था। हाँ, इतना अवश्य है कि कोष का उद्देश्य वही है जो स्वर्ण-प्रमाप का होता था, जैसे (१) संसार की मुद्राओं के बीच आराम की अदल-बदल की सुविधाएँ देना, (२) मुद्राओं के मूल्यों में स्थिरता लाना। इस प्रकार कोष और स्वर्ण-प्रमाप के उद्देश्य एक ही से हैं परन्तु इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के साधन भिन्न-भिन्न हैं। स्वर्ण-प्रमाप किसी और प्रकार से इन उद्देश्यों की पूर्ति करता रहा था और कोष किसी और प्रकार से इन उद्देश्यों की पूर्ति करना चाहता है। अतः यह कह सकते हैं कि कोष ने एक विशेष प्रकार का स्वर्ण-प्रमाप संसार को दिया है जिसके अन्तर्गत सोना मुद्राओं का मूल्य-मापक है। परन्तु सोने के सिक्के नहीं चलाए जाते।

भारत और कोष

जिस समय मुद्रा-कोष की योजना पर ब्रेटनवुड्स नामक स्थान पर विचार हो रहा था तो भारत के प्रतिनिधि भी उसमें सम्मिलित थे। भारत के प्रतिनिधि मण्डल में निम्न व्यक्ति थे—सर जैरमी रईसमैन, सर चिन्तामणि द्वारकादास, सर थियोडोर ग्रेगरी, सर षणमुखम चेट्टी, ए० डी० शराफ तथा बी० के० मदन। प्रतिनिधि मण्डल ने ब्रेटनवुड्स कान्फ्रेंस में ही इस योजना को मान लिया और इसके बाद भारत सरकार ने भी इसे स्वीकार कर लिया और रुपये का सम-मूल्य भी घोषित कर दिया। भारत ने रुपये का सम मूल्य ३०.२२ ० प्रति डालर अथवा ०.२६८६१ ग्रेन्स स्वर्ण प्रति रुपया निश्चित किया।[1] इस प्रकार भारत मुद्रा-कोष का 'मौलिक-सदस्य' बना रहा। मुद्रा-कोष

[1] अब रुपये के डालर मूल्य मे कमी हो जाने के कारण रुपये का सम-मूल्य १ रु० = २१ सेण्ट = ०.१८६६२१ ग्रेन्स स्वर्ण रह गया है। इस दर से सोने का मूल्य १६६.६६७ रुपये प्रति औंस है। यह परिवर्तन सितम्बर १६४६ से हुआ है जबकि रुपये का अवमूल्यन कर दिया था।

में रूस के सम्मिलित न होने के कारण भारत अब पाँच बड़े-बड़े सदस्यों में गिना जाता है क्योंकि इसका 'कोटा' (Quota) चार देशों को छोड़कर सबसे अधिक है। भारत को मुद्रा-कोष में सम्मिलित होने से निम्न लाभ हैं :—

(१) भारत को मुद्रा कोष से आवश्यक मात्रा में विदेशी मुद्राएं मिलती रहेंगी जिनकी भारत को विदेशों से पूँजीगत माल आयात करने के लिए आवश्यकता होगी। मार्च १६४८ से मार्च १६४६ तक भारत ने कोष से लगभग ६,२०,००,००० डॉलर लिए थे जो भुगतान-सन्तुलन के काम आए।

(२) कोष के द्वारा उन देशों का जो स्टर्लिंग क्षेत्र में नहीं हैं भारत की मुद्रा मिलती रहेगी जिससे वे देश भारत से व्यापार बढ़ाते रहेंगे और भारत का माल उन देशों में निर्यात होता रहेगा।

(३) मुद्रा कोष का 'मौलिक'-सदस्य बनने से भारत कोष के नीति निर्माण में हाथ बँटा सकेगा जिससे उसकी ख्याति बढ़ेगी।

इन उद्देश्यों को लेकर भारत मुद्रा-कोष का सदस्य बन गया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति के लिए भारत ने प्रयत्न भी किए। भारत ने कोष से ६६'६८ मिलियन डॉलर लिए। इसके ब्याज में १६५०-५१ में ३८ लाख रुपये कोष को चुकाए गए तथा १६५१-५२ में कोई ५५ लाख चुकाए। कोष की सदस्यता स्वीकार करने के बाद हमारी मौलिक पद्धति में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए जिनको कार्यान्वित करने के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट में संशोधन किए गए। एक संशोधन के अनुसार भारतीय मुद्रा का अन्य सदस्य-देशों की मुद्राओं में बहुमुखी परिवर्तनशीलता स्थापित करने के लिए रिजर्व बैंक अब अपने कोष में स्टर्लिङ्ग के साथ-साथ अन्य देशों की मुद्रा भी रखता है एवं इनका क्रय विक्रय कोष की शर्तों की निश्चित दरों पर किया जाता है। दूसरे, कोष की सदस्यता के साथ साथ हमारे रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध टूट गया है। और अब हमारा रुपया स्वतन्त्र है (इसे आगे 'हमारा रुपये' लेख में पढ़िए)। तीसरे, विदेशी मुद्राओं में भारतीय रुपये की महत्तम एवं न्यूनतम दर में कोष द्वारा निश्चित दरों के आधार पर तत्क्षण-लेनदेन में १ प्रतिशत से अधिक अन्तर न होगा। चौथे, रिजर्व बैंक किसी भी देश की सरकारी

सिक्युरिटियों का क्रय-विक्रय कर सकता है, बशर्ते कि वह देश कोष का सदस्य हो। पाँचवें, विदेशी-विनिमय की वर्तमान स्थिति में नियंत्रण करने के लिए एवं उसका महत्तम उपयोग करने के लिए १६४७ में एक कानून विदेशी-विनिमय-नियंत्रण-ऐक्ट पास किया गया जो अभी तक चल रहा है।

३६—विश्व बैंक और भारत

द्वितीय युद्ध के पश्चात् युद्ध ध्वंसित देशों के पुनर्संगठन तथा अवनत देशों की आर्थिक उन्नति के लिए यह आवश्यक हो गया कि संसार के सभी राष्ट्रों में पारस्परिक मौद्रिक सहयोग हो जिससे एक देश दूसरे देश को पूँजी तथा पूँजीगत माल देकर सहायता कर सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में विश्व बैंक बनाने की योजना स्वीकार की गई। विश्व बैंक के निम्न उद्देश्य रक्खे गए—

१. सदस्य-देशों की आर्थिक उन्नति के लिए उत्पादन बढाने में पूँजी का प्रबन्ध करना, युद्ध में बिगडे हुए देशों के आर्थिक-कलेवर को उन्नत बनाने की सुविधाएँ देना तथा पिछड़े हुए देशों में उत्पादन के साधनों को बढाने में सहायता करना।

२. उत्पादन बढाने के उद्देश्य से सदस्य-देशों को अपनी पूँजी तथा कोष में से राशि उधार देना; एक देश के पूँजीपतियों को दूसरे देशों में पूँजी लगाने के लिए उत्साहित करना तथा उनके द्वारा दिए गये ऋणों की गारण्टी करना।

३ दीर्घकालीन (Long term) ऋण देना तथा दीर्घकालीन ऋण देने के लिए लोगों या देशों की सरकारों को प्रोत्साहित करना जिससे उत्पादन बढाने में सहायता मिल सके और लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो सके।

४. सदस्य देशों के बीच आपस में पूँजी का लेन-देन बढाना जिससे पूँजी का अधिक से अधिक उपयोग हो सके और अधिक उपयोगी तथा आवश्यक योजनाएँ सबसे पहिले पूरी की जा सकें।

५. अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का इस प्रकार प्रबन्ध करना कि युद्धकालीन असाधारण परिस्थिति शीघ्र ही समाप्त हो जाय और सभी देश एक दूसरे की सहायता से उन्नत हो जाएँ।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का प्रधान उद्देश्य सदस्य-देशों की आर्थिक उन्नति करना है। इसके लिए बैंक एक देश के पूंजीपतियों को दूसरे देशों में पूँजी लगाने के लिए उत्साहित करेगा। यदि कोई सदस्य-देश इस प्रकार पूँजी प्राप्त न कर सके तो बैंक अपनी पूँजी तथा कोष में से सदस्य देशों को राशि उधार देगा।

बैंक की पूँजी—बैंक की अधिकृत-पूँजी (Authorized Capital) १०,००,००,००,००० डालर है। इसमें से ६ १०,०० ००,००० डालर तो उन सदस्य-देशों के लिए निश्चित किए गए जो ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में सम्मिलित हुए थे और जिन्होंने उसी समय बैंक का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था। शेष पूँजी आगे बनने वाले सदस्यों को निश्चित कर दी गई थी। पूँजी में १०,००० हिस्से हैं और प्रत्येक हिस्सा १०,००० डालर के बराबर है। बैंक की पूँजी में सदस्य देशों को हिस्से निश्चित कर दिये गये हैं जिन्हें कोटा (Quota) कहते हैं। कोटा इस प्रकार हैं।

अमरीका	३,४३,५०,००,००० डॉलर
इंगलैण्ड	१,००,००,००,००० डॉलर
चीन	६,००,००,००० डॉलर
फ्रांस	४५,००,००,००० डॉलर
भारत	४०,००,००,००० डॉलर

अन्य देशों के कोटे भी इसी प्रकार निश्चित कर दिए गए हैं जो भारत के कोटे से कम राशि के हैं।

बैंक में कुल मिलाकर ४८ राष्ट्र सदस्य थे परन्तु १४ मार्च १६५० को पोलैण्ड इससे अलग हो गया। इस समय ४७ राष्ट्र इसके सदस्य हैं। रूस इसका सदस्य नहीं है। ३१ मार्च १६५० तक बैंक की प्रार्थित-पूँजी ८,३३,६०,००,००० डॉलर के बराबर थी। प्रत्येक सदस्य-देश को अपने-अपने कोटा का २०% भाग बैंक में जमा करना पड़ता है जिसमें से २% सोने में जमा करना पड़ता है तथा १८% सदस्य-देश की अपनी मुद्रा में जमा करना होता है। कोटे का शेष भाग उस समय लिया जाने का निश्चय है जबकि बैंक को उसकी आवश्यकता हो। जिन सदस्यों ने ३१ दिसम्बर १६४५ को कोष की

सदस्यता स्वीकार का थी वे ही देश इस बैंक के भी मौलिक-सदस्य माने जाते हैं। अन्य देश भी इसके सदस्य बन सकते हैं। जो सदस्य मुद्रा कोष को छोड़ देते हैं वह इसके सदस्य भी नहीं रह सकते। जो सदस्य बैंक के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते उन्हें बैंक से निकाल दिया जाता है। परन्तु कोई सदस्य मुद्रा कोष का सदस्य न रहने पर भी ७५% मतों से बैंक का सदस्य रह सकता है। लिखित सूचना देकर कोई भी सदस्य बैंक से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है।

ऋण देने की कुछ शर्तें—बैंक सदस्य-देशों को नीचे लिखी शर्तों पर ऋण देता है—

(१) जबकि उधार माँगने वाले सदस्य देश को अन्य किसी प्रकार से उचित शर्तों पर ऋण प्राप्त न हो सके, (२) जबकि ऋण माँगने वाले सदस्य-देश की सरकार उस ऋण की गारंटी करे, तथा (३) जबकि ऋण लेने वाले सदस्य-देश उसे उसी काम में लगाएँ जिन कामों के लिए ऋण दिया गया है।

बैंक केवल आर्थिक पुनः संगठन तथा विकास की योजनाओं के लिए ही ऋण देता है। ऋण लेने से पहिले सदस्य देश को ऐसी योजनाओं की एक सूची बैंक के पास भेजनी पड़ती है। ऋण देने से पहिले बैंक इस बात की पूरी पूरी छानबीन कर लेता है कि ऋण लेने वाला सदस्य देश ऋण का भुगतान वापिस चुका सकेगा या नहीं। ऋण देने से पहिले बैंक ऋण चाहने वाले सदस्य-देश की आर्थिक योजनाओं का भली भाँति निरीक्षण कर लेता है। इस काम के लिए वह केवल कागजी-कार्यवाही से ही सन्तुष्ट नहीं होता वरन् अपने प्रतिनिधि भेजकर उन योजनाओं की भली भाँति जाँच पड़ताल करा लेता है। ऋण देने के बाद भी बैंक समय समय पर इस बात की जाँच करता रहता है कि जिस काम को ऋण दिया गया है वह उसी काम में लगाया जा रहा है या नहीं। श्री होर ने जो, बैंक के उपाध्यक्ष थे, अपने व्याख्यान में बतलाया था कि कोई भी ऋण किसी सदस्य देश को तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक कि (१) उस योजना की जिसके लिए ऋण लिया जा रहा है ऋण लेने वाले सदस्य-देश के आर्थिक निर्माण में कठिन आवश्यकता ही न हो। (२) वह योजना निश्चित समय में पूर्ण हो जाने योग्य न हो (३) उस योजना पर

विशेषज्ञों की सम्मति न ले ली गई हो। श्री होर ने भारत आकर इस बात को स्पष्ट किया कि "बैंक अधिक उपयोगी तथा अति आवश्यक योजनाओं पर ही सबसे पहिले विचार करता है और यह भी देखता है कि ऋण लेने वाला सदस्य-देश ऋण लेकर निश्चित समय के पश्चात् उसे लौटा भी सकेगा या नहीं।"

बैंक ने २५ जून १९४६ से अपना कार्य आरम्भ किया। दिसम्बर १९४८ तक कुल १६ देशों ने ऋण लेने के लिए आवेदन पत्र भेजे जिनमें से फ्रांस को २५० मिलियन, नीदरलैण्ड्स को १९५ मिलियन डॉलर, मैक्सिको को दो ऋण ३५ मिलियन डॉलर तथा फिलिपाइन्स को १५ मिलियन डॉलर के ऋण दिए गए। ३० अक्टूबर सन् १९४९ तक बैंक ने जो ऋण दिए वह अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका से स्पष्ट हैं—

विश्व बैंक और भारत

भारत ने बैंक से अभी तक तीन ऋण लिए हैं जो इस प्रकार है —

१. पहिला ऋण ३,४०,००,००० डॉलर का संयुक्त राज्य तथा कनाडा से रेलवे एंजिन खरीदने के लिए लिया गया था। यह ऋण १५ वर्ष की अवधि का है। इस पर ३% व्याज तथा १ प्रतिशत कमीशन प्रतिवर्ष भारत को देना है। इस ऋण का भुगतान अगस्त १९५० से आरम्भ हुआ। इस ऋण में से १,७०,००,००० डॉलर की खरीद कैनेडा से तथा १,००,००,००० डॉलर की खरीद अमेरिका से करना निश्चित किया गया था तथा शेष आवश्यकता के लिए रख दिया गया था। यह ऋण १८ अगस्त १९४९ को मिला था।

२. दूसरा ऋण १,००,००,००० डॉलर का २६ सितम्बर १९४९ को कृषि विकास एवं सुधार के लिए स्वीकृत किया गया था। इसकी अवधि ७ वर्ष है। इस पर २$\frac{1}{2}$% व्याज तथा १ प्रतिशत कमीशन प्रति वर्ष लिया जायगा। इसका भुगतान १ जून १९५२ से आरम्भ होगा। इस ऋण से भारत सरकार ने अमरीका से ट्रेक्टर खरीदे हैं जो बंजर भूमि को कृषि-योग्य बनाने में काम आ रहे हैं।

३. तीसरा ऋण १८ अप्रैल १९५० को १८·५ मिलियन डॉलर का दामोदर घाटी योजना के अन्तर्गत बोकारो बिजली-घर बनाने के लिए दिया

३० अक्टूबर १९४९ तक प्रयोजन के अनुसार दिए गए ऋण
(अङ्क हजार अमरीकन डॉलरों में)

प्रयोजन—	कृषि		उद्योग		यातायात	विद्युत शक्ति	अन्यान्य	योग
देश	कच्चेमाल	यंत्र + नहर के यंत्र	कच्चे माल	यंत्र	यंत्र	प्लाण्ट, बिजली भेजने का यंत्र		
फ्रांस	२८,०००	२,३००	१७४,५००	११,०००	३३,३००	९००	—	२,५०,०००
नीदरलैंड		३०,८००	६०,०००	५३,१००	७८,१००			२,२२,०००
डेनमार्क		७,५००	१६,६००	६,८००	४,८००			४०,०००
लक्समबर्ग	४,०००			७,५००	४,५००			१२,०००
बेलजियम				१०,३००		५,७००		१६,०००
फिनलैंड				१२,६५०		२,०००	१५०	१४,८००
चिली		२,८००				११,८९३	१,३०७	१६,०००
मेक्सीको						३४,१००		३४,०००
ब्राजिल					२२,१४०	५२,८६०		७५,०००
कोलम्बिया		५,०००						५,०००
*भारत		१०,०००			३४,०००		१८,५००	६२,५००
युगोस्लोविया				२,७००				२,७००
योग	३२,०००	५८,४००	२५१,६००	१,०४,०५०	१,८६,८४०	१,०७,४५३	१,४५७	७,३४,६००

बैंक ने ये ऋण अपनी पूँजी में से दिए तथा दूसरे ऋणों की गारंटी भी की।

*अभी ५० मिलियन डॉलर के ऋण और मिलने वाले हैं।

गया है। इस ऋण की अवधि २० वर्ष है। इस पर ३% ब्याज तथा १% कमीशन प्रति वर्ष दिया जायगा। इसका भुगतान १ अप्रैल १६५५ से आरम्भ होगा।

इस प्रकार बैंक से भारत ने कुल मिलाकर ६,२५,००,००० डालर के ऋण लिए हैं, जिनमें से १२,००,००० डालर रद्द करा दिए। अब भारत को ६,१२,००,००० डॉलर के ऋण चुकाने बाकी हैं। ये ऋण हमारी औद्योगिक एवं अन्य विकास की योजनाओं को देखते हुए बहुत कम हैं। अभी गत वर्ष बैंक के प्रधान मि० ब्लेक ने भारतका दौरा करके घोषित किया था कि 'भारत के साधन प्रचुर हैं और इनका विदोहन करने के लिए बैंक और भी ऋण दे सकेगा।' इससे ज्ञात होता है कि बैंक में भारत के प्रति साख बनी हुई है। सरकार को चाहिए कि नवीन ऋण के लिए बैंक से बातचीत करके विकास की योजनाओं को प्रगति दे।

बैंक के सामने अविकसित देशों के आर्थिक विकास को बड़ी भारी समस्या है। बैंक को इन देशों की ओर काफी ध्यान देना चाहिए। यदि शीघ्र ही इन देशों के आर्थिक-विकास के लिए सही कदम नहीं उठाया गया तो ये शीघ्र ही समाजवादी अर्थ-तन्त्र की ओर झुक जाएँगे। चीन के आर्थिक विकास के लिए रूस ने १% ब्याज दर पर ऋण दिया है। अतः बैंक को भी उदार होकर ऐसे पिछड़े राष्ट्रों को आर्थिक सहायता देनी चाहिए। अब तक जो कुछ हुआ है उससे तो यह स्पष्ट है कि विश्व बैंक अपने प्रकार की एक अद्भुत संस्था है जो संसार के अधिकांश राष्ट्रों को, जो युद्ध के कारण लुटे हो गए हैं, सहायता देती है। सभी राष्ट्रों के आर्थिक विकास और पुनर्निर्माण के उद्देश्यों को लेकर चलने वाली यह पहली ही संस्था है। यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा निठल्ली पूँजी राष्ट्रों के हित में काम लाई जा सकती है। यह एक प्रकार का ऐसा सुरक्षित पुल है जिसके द्वारा पूँजीपतियों की पूँजी अन्तर्राष्ट्रीय-क्षेत्र में पहुँचती है। बैंक राष्ट्रों के आर्थिक और राजनैतिक स्वास्थ्य को बल देने वाली संस्था है जो युद्ध के कारण बिगड़ गया था। बैंक एक प्रकार का संघ है जिसमें अनेक राष्ट्र सदस्य हैं और सब सदस्य मिलकर ऋण लेने वाले सदस्य का भार बाँट लेते हैं। लार्ड कीन्स ने इसके विषय में एक बार कहा था, "इस संस्था से होने

वाले लाभों को आसानी से नहीं आँका जा सकता। राष्ट्रों के विकास के लिए इससे उन्हें साधन प्राप्त होंगे, लेनदार तथा देनदार में पारस्परिक सहयोग होगा—भुगतान सतुलन होगा। इतने बडे पैमाने पर ससार के प्रश्न को एक साथ लेकर चलने वाली संस्था आज से पहले कभी स्थापित नहीं हुई।"

बैंक का भविष्य अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा कोष की सफलता पर निर्भर है। बैंक तभी सफल हो सकता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं में पारस्परिक परिवर्त्यता (Convertibility) हो और यह बात कोष की सफलता पर निर्भर है। बैंक की सफलता उसके प्रबन्ध एव सचालकों की विशेषताओं पर भी निर्भर है, लेनदार देशों की राजकोषीय नीति पर भी निर्भर है एव युद्धोत्तर-काल में सभी राष्ट्रों की ईमानदारी पर भी निर्भर है। प्रत्येक ऋण की जमानत व सारा ऋण लेने वाले सदस्य देश की भुगतान करने की इच्छा एव शक्ति ही है। परन्तु यदि उधार लेने वाला ही अपनी नीयत गिरा दे तो ससार की कोई भी सस्था तथा कितने ही राष्ट्रों का कितना ही सहयोग सफल नहीं हो सकता।

जो कुछ भी परिस्थिति आज है उससे तो यही कहा जा सकता है कि बैंक विश्व के आर्थिक कल्याण की भावना लेकर आया है। ससार में उत्पादन के लिए साधनों की कमी नहीं, जन सख्या का अभाव नहीं और इच्छा की भी कमी नहीं, कमी केवल पूँजी की है। परन्तु केवल पूँजी भी अकेली सहायता नहीं कर सकती। आवश्यकता तो राष्ट्रों को पारस्परिक सम्पर्क में लाने की है। बैंक का उद्देश्य राष्ट्रों तथा पूँजी दोनों को समीप लाना है। अब यदि राष्ट्रों ने मिलकर सहयोग किया तो जो कुछ आज आवश्यकता है मिलकर रहेगा—स्थायित्व, उन्नति एव प्रगति।

३७—हमारी वर्तमान मौद्रिक व्यवस्था

मुद्रा-मंडी के दोष

हमारी वर्तमान मौद्रिक-व्यवस्था देश के केन्द्रीय बैंक—रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया द्वारा प्रबन्धित होती है। देश में तीन प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित हैं—(१) धातु-मुद्रा, (२) पत्र-मुद्रा, (३) साख-मुद्रा।

धातु-मुद्रा अर्थात् सिक्के सरकारी टकसालों में बनाए जाते हैं। जनता को धातु के बदले में सिक्के बनवाने का अधिकार नहीं मिला हुआ है—केवल सरकार के लेखे पर ही सिक्के बनाकर चलाए जाते हैं। छोटी-बड़ी राशि के अनेक प्रकार के सिक्के देश में काम आते हैं, जिनमें रुपया, अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी, अधन्ना और पैसा सम्मिलित हैं। द्वितीय युद्ध से पूर्व एक समय था जबकि रुपया, अठन्नी, चवन्नी तथा दुअन्नी चाँदी की बनी होती थीं, परन्तु आज तो ये सब गिलट की बनाई जाती हैं। युद्ध काल में चाँदी का अभाव होने के कारण ऐसा करना पड़ा था। जनवरी १९४२ से दो पैसे का सिक्का, जिसे अधन्ना कहते हैं, बनने लगा है। पैसे ताँबे के बने होते हैं। सिक्कों का लेखा रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया के पास रहता है। देश में रुपया ही प्रमाणिक-सिक्का तथा प्रमुख-मुद्रा माना जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य सिक्के सहायक-सिक्के कहे जाते हैं।

१९३५ में रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया बनने पर नोट चलाने का काम इसी बैंक को सौंप दिया गया। अब यही बैंक नोट चलाती है। इस समय हमारे देश में परिवर्तनीय और अपरिवर्तनीय दोनों प्रकार के नोट चलते हैं। २, ५, १०, १०० रुपये के नोट परिवर्तनीय-नोट हैं जिनके बदले में रिज़र्व-बैंक सिक्के देने का वचन देती है। १ रुपये के नोट अपरिवर्तनीय-नोट हैं जिन्हें भारत सरकार का वित्त-विभाग छाप कर चलाता है। एक और दो रुपये के नोट द्वितीय युद्धकाल में चलाए गए थे और आज भी चलते हैं। एक रुपये के नोटों के बदले में सरकार सिक्के देने का वचन नहीं देती। प्रतिनिधि रूप कागज़ के नोट (Representative Paper Money) हमारे देश में नहीं चलते।

नोट चलाने के लिए अब हमारे देश में "बैंकिंग-सिद्धान्त" का पालन किया जाता है जिसके अनुसार देश के केन्द्रीय-बैंक (रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया) को नोट चलाने का एकाधिकार मिला हुआ है। रिज़र्व बैंक बनने से पहिले देश में "करैंसी सिद्धान्त" का पालन किया जाता था जिसके अनुसार सरकार नोट चलाती थी।

नोट छापकर चलाने में रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया "आनुपातिक-कोष प्रणाली" का पालन करती है। इस प्रणाली के अनुसार नोट चलाने से पहिले रिज़र्व बैंक को नोटों के बदल में एक संचित-कोष रखना पड़ता है जिसमें सोना, सोने के सिक्के, विदेशी सिक्यूरिटीज, रुपया तथा रुपये की सिक्यूरिटीज रक्खी जाती हैं। चलाए जाने वाले नोटों के कुल मूल्य के बदले में संचित-कोष का कम-से-कम ४०% भाग सोना, सोने के सिक्के तथा विदेशी-सिक्यूरिटीज में रखना पड़ता है। इसमें भी हर समय कम से कम ४० करोड़ रुपये के मूल्य का सोना या सोने के सिक्के रखना अनिवार्य है। संचित कोष का शेष ६०% भाग रुपया, रुपये की सिक्यूरिटीज या अन्य देशी बिलों में रक्खा जा सकता है। १६४६ से पहिले, जब अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा कोष नहीं बना था, रिज़र्व बैंक को अपने संचित-कोष में स्टलिंग सिक्यूरिटीज रखकर उनके बल पर नोट चलाने का अधिकार था। परन्तु जब भारत अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष का सदस्य हो गया तो रिज़र्व बैंक केवल स्टलिङ्ग सिक्यूरिटीज के बल पर ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सब सदस्य देशों की सिक्यूरिटीज के बल पर नोट चला सकता है। अब हमारे देश की नोट-व्यवस्था काफी लोचदार है। चूँकि १ जनवरी १६४६ से रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण हो गया है इसलिए रिज़र्व बैंक द्वारा नोट चलाने का उत्तरदायित्व अब सरकार का भी उत्तरदायित्व बन गया है।

संक्षेप में भारत की वर्तमान नोट व्यवस्था की मुख्य-मुख्य बातें ये हैं :—

(१) परिवर्तनीय और अपरिवर्तनीय दोनों प्रकार के नोटों का चलन,

(२) नोट चलाने के बैंकिंग सिद्धान्त का पालन, तथा

(३) 'आनुपातिक कोष' प्रणाली के अनुसार नोटों का प्रचलन।

इन तीनों विशेषताओं के कारण देश की नोट-व्यवस्था में लोच आ गई है।

साख-व्यवस्था

भारत में साख-व्यवस्था इतनी उन्नत नहीं है जितनी अमरीका तथा यूरोप के अन्य देशों में पाई जाती है। न तो हमारे देश में बहुत सी साख-संस्थाएँ (बैंक आदि) हैं और न साख-मुद्रा (चेक, बिल आदि) का ही अधिक चलन है। देश के कुछ व्यापारिक केन्द्रों में जैसे बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, कानपुर आदि में साख-संस्थाएँ भी हैं और साख-मुद्रा का भी प्रचार बढ़ गया है; परन्तु देश के आन्तरिक भागों में साख का लेन-देन व साख मुद्रा का चलन ना के बराबर है। इसका कारण यह है कि हमारे देश की अधिकांश जनता अशिक्षित है—वे लोग चेकों, बिलों तथा अन्य साख-मुद्राओं का लिखना तथा उनका प्रयोग करना ही नहीं जानते। दूसरे, यहाँ के लोग राशि को इकट्ठा करके संचित करने में विश्वास करते हैं। वे न तो आपस में ही उधार लेते-देते हैं और न बैंकों में ही जमा करते हैं। बैंकों ने भी साख-व्यवस्था को उन्नत बनाने का अधिक प्रयास नहीं किया है। जिन बैंकों ने साख के लेन-देन किए भी वे व्यापार की परिस्थिति से धोखा खाकर नष्ट हो गए। हमारे देश में साख उन्नत न होने का सबसे बड़ा कारण यह है कि पिछले वर्षों में हमारे देश की बैंकिंग-व्यवस्था बड़ी अस्त-व्यस्त रही। न तो देश में कोई केन्द्रीय बैंक था जो साख-नियंत्रण का काम करता और न बैंकिंग कम्पनी कानून ही था जो बैंकों पर अंकुश रखता। अब हमारे देश में केन्द्रीय बैंक भी है और बैंकिंग कानून भी बन गया है। अब केवल एक बात की आवश्यकता है कि लोगों को साक्षर बनाकर उनको साख-मुद्रा का प्रयोग सिखाया जाय तभी देश की साख-व्यवस्था उन्नत बनाई जा सकेगी।

भारतीय मुद्रा-मण्डी के दोष

भारतीय मुद्रा-मण्डी कई भागों में विभाजित है। इन भागों में न तो संगठन है और न आपसी सहयोग ही है। इतना ही नहीं, इस मण्डी में कुछ अङ्ग तो ऐसे हैं जिनमें पारस्परिक सहयोग तो दूर, उल्टी प्रतियोगिता है। स्वदेशी बैंकरों तथा व्यापारिक बैंकों में पारस्परिक प्रतियोगिता रहती है और ये स्वतन्त्र रूप से रुपये का लेन-देन करते हैं। इसी के साथ-साथ इम्पीरियल बैंक भी

अन्य व्यापारिक बैंकों का प्रतियोगी है क्योंकि इस बैंक को कानून से कुछ विशेष अधिकार तथा सुविधाएँ मिली हुई हैं।

मुद्रा-मण्डी में ऋण प्रदायक संस्थाओं का अभाव है। पाश्चात्य देशों की भाँति कोई भी संस्थाएँ ऐसी नहीं हैं जो विभिन्न व्यवसायों और उद्योगों की आवश्यकतानुसार राशि की पूर्ति कर सकें। ऋण देने के लिए मुद्रामण्डी में आवश्यक मात्रा में राशि भी नहीं रहती। मुद्रामण्डी में न लोच है और न स्थायित्व ही है।

मण्डी के विभिन्न अंगों का किसी भी प्रकार सहयोग न होने के कारण ब्याज की दरों में बहुत उच्चावचन रहता है। कहीं पर ब्याज दर ऊँची होती तो कहीं बहुत नीची। इसी प्रकार किसी व्यवसाय में ऊँची होती है तो किसी व्यवसाय में नीची दर पर उधार मिलता है।

मण्डी में बैंकिंग सुविधाओं का भी अभाव है। देहातों में जहाँ बैंकों की बहुत आवश्यकता है, बैंक हैं ही नहीं। हमारे यहाँ ६२,५०० व्यक्तियों के पीछे एक बैंक कार्यालय है जबकि अमेरिका में ७००० व्यक्तियों के पीछे एक बैंक-कार्यालय है।[1]

अन्य देशों की भाँति हमारी मुद्रा-मण्डी में बिलों का बहुत ही कम उपयोग होता है तथा बिलों की कटौती की सुविधाएँ भी नहीं हैं क्योंकि रिजर्व बैंक केवल उन्हीं बिलों की कटौती करता है जो मान्य हों तथा उसके द्वारा निर्धारित शर्तों के अनुसार हों।

---

[1] ग्रामीण बैंकिंग जाँच कमेटी रिपोर्ट—पृ० सं० २४

३८—अन्तर्राष्ट्रीय प्रांगण में हमारा रुपया

(एक नवीन परिवर्तन)

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र में हमारा रुपया सदैव से इंगलैण्ड की मुद्रा—स्टर्लिंग के साथ बँधा हुआ रहा। भारत के शासक-अंग्रेजों ने देश में राजनैतिक आधिपत्य तो जमाया ही साथ ही साथ देश की मुद्रा-व्यवस्था को इस प्रकार संचालित किया कि हम मौद्रिक क्षेत्र में भी उनका मुँह देखते रहे। जैसे और जब वे चाहते तैसे और तभी हमारे रुपये को विनिमय दर में फेर-बदल कर दिया करते थे। हमारे रुपये का भाग्य विदेशी मुद्रा के साथ बंधा हुआ था। जब-जब उस मुद्रा में कोई फेर-बदल होती तो उसका पाप हमारा मुद्रा को भी भोगना पड़ता था और इस प्रकार हमारे व्यापार पर भी प्रभाव पड़ता था। यही कारण था कि १६२० के पश्चात भारत के अनेक व्यापारी दिवालिया बन गए। १६२५ में भी हिल्टन यंग कमीशन ने रुपये का भाग्य स्टर्लिंग के साथ बाँधना निश्चित किया था। १६३१ में इंगलैण्ड में स्वर्ण-प्रमाप टूट जाने पर हमारे रुपये को स्वर्ण-हीन स्टर्लिङ्ग के साथ बँधना पड़ा। १६३५ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बन जाने पर भी इस परिस्थिति में कोई फेर-बदल नहीं हुई वरन् रिज़र्व बैंक को कानून के अनुसार रुपये के बदले में स्टर्लिंग की खरीद-बेच करने का दायित्व और दे दिया गया। उस समय रुपये की विनिमय-दर १ शि० ६ पेंस थी और रिज़र्व बैंक १ शि० ६ ३/१६ पेंस प्रति रुपये की दर से स्टर्लिंग खरीदता तथा १ शि० ५ ४९/६४ पेंस प्रति रुपया की दर से स्टर्लिंग बेचा करता था। समय-समय पर अनेक बार रुपये के स्टर्लिंग के साथ गठबन्धन पर वाद-विवाद होते रहे और पक्ष तथा विपक्ष में तरह-तरह की युक्तियाँ दी जाती थीं परन्तु कोई परिणाम न निकला। और भी, रिज़र्व बैंक ऐक्ट की धारा ३३ के अनुसार यह व्यवस्था कर दी गई कि स्टर्लिंग सिक्यूरिटियों के बल पर भारत में नोट चलाए जा सकते हैं। इसी व्यवस्था का तो यह दुष्परिणाम था कि गत युद्धकाल में भारत की विदेशी सरकार रिजर्व बैंक के कोष में स्टर्लिंग सिक्यूरिटियों के ढेर लगाती रही और देश में नोट

छाप कर चलाती रही जिससे हमारे देश में मुद्रा-स्फीति हुई, वस्तुओं के भाव आकाश तक जा लगे और देशवासियो का वस्तुओं के अभाव में नारकीय यातनाओं का सामना करना पड़ा।

परन्तु अब परिस्थिति बिलकुल भिन्न है। युद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष बनने से और भारत सरकार द्वारा उसकी सदस्यता स्वीकार लेने से हमारा रुपया अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र में अब किसी भी देश की मुद्रा विशेष के साथ बँधा हुआ नहीं है। १२ दिसम्बर १६४६ का भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता स्वीकार की और उसी दिन से हमारा रुपया स्वतन्त्र हो गया। कोष के विधान के अनुसार रुपये का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य सोने तथा अमरीकन डॉलरों में व्यक्त करके कोष में निश्चित कर दिया गया। एक रुपया ० २६८६०१ ग्राम सोने के बराबर घोषित किया गया। दूसरे शब्दों में १ अमरीकन डॉलर ३ ३०८५२ रुपयों के बराबर निश्चित किया गया। इसी प्रकार कोष के सभी सदस्य देशों ने अपनी अपनी मुद्राओं का मूल्य सोने तथा अमरीकन डॉलरों में व्यक्त करके कोष के अधिकारियों के पास भेज दिया। इस प्रकार ससार के अधिकाश देशों, जो कोष के सदस्य है, की मुद्राएँ एक प्रकार से सोने से सम्बन्धित हो गई और उनका पारस्परिक विनिमय अनुपात भी सोने के माध्यम द्वारा निकाला जाने लगा। भारत सरकार ने अपने रुपये का जो स्वर्ण-मूल्य रक्खा वही इगलैण्ड की सरकार ने १ शि० ६ पें० का रक्खा। इस प्रकार सोने के माध्यम का रख कर आज भी १ रुपया १ शि० ६ पें० के समान है। भारत सरकार यदि चाहती तो उस समय अपने रुपये के स्वर्ण मूल्य में परिवर्तन कर सकती थी और आज भी वह कोष के नियमानुसार उसमें परिवर्तन कर सकती है। परन्तु सरकार ने अपने देश के आन्तरिक और वैदेशिक व्यापार के हित में रुपये के स्वर्ण-मूल्य में परिवर्तन न करना ही उचित समझा।

रुपये का स्वर्ण-मूल्य निश्चित करने से हमारा रुपया, अन्य मुद्राओं की भाँति पूर्ण रूपेण 'स्वतन्त्र' है। परन्तु 'स्वतन्त्र' शब्द का यह अर्थ नहीं कि कोई भी व्यक्ति स्वेच्छानुसार किसी भी समय कितनी भी मात्रा में और किसी भी विदेशी-मुद्रा में रुपये को बदलवा सके। 'स्वतन्त्र' शब्द का अर्थ तो यह है कि

भारत सरकार अपने देश के हितों को सामने रखकर रुपये की विनिमय दर में परिवर्तन कर सकती है। ऐसा करते समय उसे, कोष को छोड़ अन्य किसी बाह्य सरकार से आज्ञा या अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है। १९४६ से पहिले तो रुपये की विनिमय-दर में परिवर्तन करने के लिए इंगलैण्ड की सरकार से आज्ञा लेना आवश्यक था और स्टर्लिङ्ग में परिवर्तन होने के साथ साथ हमारे रुपये में भी स्वतः ही परिवर्तन हो जाते थे। आज यह बात नहीं है। यदि आज स्टर्लिङ्ग के मूल्य में कोई घटा-बढ़ी हो या की जाय तो उसका रुपये पर भी प्रभाव पड़े यह आवश्यक नहीं है।

कुछ लोग समझते होंगे कि चूंकि अब भी १ रुपया १ शि० ६ पें० के बराबर है तो रुपया स्टर्लिङ्ग पर आश्रित होगा, यह बात नहीं है। इसका कारण तो यह है कि हमने १ रुपये का जो स्वर्ण-मूल्य दिया है वही इंगलैण्ड की सरकार ने १ शि० ६ पें० का दिया है इसलिए १ रुपया १ शि० ६ पेंस के बराबर है। दूसरे, हमारा अधिकांश व्यापार इंगलैण्ड तथा स्टर्लिङ्ग प्रदेशीय देशों के साथ होने के कारण हमने अदल बदल तथा भुगतान सम्बन्धी सुविधाओं की दृष्टि से अपने रुपये का मूल्य शि० पेंस में व्यक्त करने की प्रथा बना रखी है अन्यथा हमारे ऊपर इंगलैण्ड का या स्टर्लिङ्ग का पहिले की भाँति कोई दबाव या जोर-जबरदस्ती नहीं है। हम जब भी चाहें तभी रुपये का मूल्य स्टर्लिङ्ग में व्यक्त करना बन्द कर सकते हैं। मुद्रा-कोष की सदस्यता के साथ हमारा स्टर्लिङ्ग से नाता टूट गया है। यह नाता टूट जाने के कारण अब रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया ऐक्ट की धाराओं में भी परिवर्तन कर दिए गए हैं। ऐक्ट की धाराएँ ४० और ४१ को रद्द करके एक नई व्यवस्था की गई है कि रिज़र्व बैंक पहिले की भाँति अब केवल स्टर्लिंग ही नहीं वरन् मुद्रा-कोष के सभी सदस्य-देशों की मुद्राओं का क्रय विक्रय कर सकता है परन्तु यह क्रय विक्रय २ लाख रुपये से कम मूल्य की मुद्राओं का नहीं हो सकता। मुद्राओं का क्रय विक्रय केवल अधिकृत व्यक्तियों के साथ ही किया जा सकता है और अधिकृत-व्यक्ति वे ही होते हैं जिन्हें सरकार १९४७ के विदेशी-विनिमय कानून के अनुसार ऐसा करने के लिए अधिकार देती है। इसी प्रकार ऐक्ट की धारा ३३ में भी परिवर्तन करके यह व्यवस्था कर दी गई है कि बैंक मुद्रा-कोष के सभी सदस्य देशों की

सिक्यूरिटीयों के बल पर नोट छापकर चला सकती है। पहिले की भाँति अब केवल स्टर्लिंग सिक्यूरिटियों के बल पर ही नहीं कोष के सभी सदस्यों की सिक्यूरिटियों के बल पर नोट छापे जा सकते हैं। ऐक्ट की धारा १७ में भी स्टर्लिंग के स्थान पर विदेशी-सिक्यूरिटियों या विदेशी विनिमय शब्दों का प्रयोग कर दिया गया है। इस प्रकार रिजर्व बैंक एक्ट में फेर बदल करके हमारे रुपये की स्वतन्त्रता वैधानिक बना दी गई है। स्टर्लिंग में रुपये का विनिमय मूल्य यद्यपि आज भी १ शि० ६ पेंस है लेकिन हमारी आर्थिक एव मौद्रिक परिस्थिति के अनुसार इसमें परिवर्तन करने का अधिकार हमारी सरकार को है।

१९४९ में स्टर्लिङ्ग तथा अन्य मुद्राओं के साथ साथ हमारे रुपये का जो अवमूल्यन किया गया उससे कुछ लोगो को अभी यह सदेह बाकी है कि हमारा रुपया स्वतत्र नहीं वरन् स्टर्लिंग पर ही आश्रित बना हुआ है। परन्तु ऐसा समझना उनका भ्रम है। जैसा कि रुपये का अवमूल्यन शीर्षक लेख में बताया गया है, हमारी सरकार ने स्टर्लिङ्ग की देखा-देखी या इगलैंड के दबाव में आकर रुपये का डॉलर मूल्य कम नहीं किया था। वरन् वह तो स्वतन्त्र सरकार का अपने स्वतन्त्र-रुपये के लिए देश के हित में एक स्वतन्त्र-कदम था। इगलैण्ड ने डॉलर-सकट को टालने के लिए स्टर्लिंग का अवमूल्यन किया था तो हमने भी अपने सामने आए हुए डॉलर संकट को दूर करने तथा अपने वैदेशिक व्यापार को बढाकर विदेशी मुद्रा कमाने के लिए रुपये का अवमूल्यन किया। यदि हमारी सरकार यह उचित समझती कि रुपये का अवमूल्यन नहीं करना चाहिए तो अवमूल्यन करने के लिए उसे कोई बाध्य नहीं कर सकता था। पाकिस्तान ने अवमूल्यन नहीं किया तो क्या किसी ने उसे अवमूल्यन करने के लिए बाध्य किया ? अवमूल्यन करते समय वित्त मंत्री ने स्पष्ट कहा था कि रुपये का अवमूल्यन किसी भी शक्ति के दबाव के कारण नहीं वरन् देश के वैदेशिक व्यापार की वृद्धि के लिए किया जा रहा है।

अब कुछ दिनों से फिर पुनर्मूल्यन की लहर दौड़ने लगी है। लोगों का अनुमान है कि स्टर्लिङ्ग की दर में फिर फेर-बदल की जायगा। यदि ऐसा

हुआ तो भारत सरकार भी रुपये के साथ यही बन्दर-नीति बरते यह आवश्यक नहीं है। हो सकता है स्टर्लिङ्ग के पुनर्मूल्यन पर भारत-सरकार भी वैसा ही करे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होगा कि रुपये का स्टर्लिङ्ग के साथ गठबन्धन है वरन् उसका अर्थ यह समझना चाहिए कि देश के हित में सरकार रुपये की दर में परिवर्तन करने को तैयार है। यदि स्टर्लिंग के पुनर्मूल्यन पर सरकार उचित न समझे तो रुपये की दर में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए। परन्तु इसका निर्णय सरकार देश के प्रमुख व्यापारियों, उद्योगियों तथा अन्य विशेषज्ञों से ताल-मेल रखकर ही कर सकती है। राजनैतिक-स्वतन्त्रता के साथ-साथ मौद्रिक स्वतन्त्रता भी हमारे पास है—हम जैसा चाहें उसका उपयोग करें। यदि हमने इस ओर स्वतन्त्र पग उठाये तो अवश्य ही अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रांगण में हमारी मुद्रा का सम्मान बहुत बढ़ जायगा।

३६—हमारा वैदेशिक व्यापार

समस्याएँ और सम्भावनाएँ

गत महायुद्ध से उत्पन्न हुई परिस्थितियों के कारण ससार के सम्मुख विभिन्न आर्थिक समस्याएँ उपस्थित हुई, जिनके परिणामस्वरूप ससार का पिछला आर्थिक सगठन बदल सा गया। अमरीका, कनाडा आदि कुछ देशों ने अधिक वैभव और समृद्धि प्राप्त की। उनकी आर्थिक स्थिति और भी बलवती और विकासमयी बनी। ब्रिटेन तथा यूरोप के देश महायुद्ध की विध्वसात्मक क्रियाओं के प्रतिफल तथा उपनिवेशों के समाप्त होने से आर्थिक सकट का सामना करने लगे। उनके आर्थिक ढाँचे ने क्षीणता ही प्राप्त न की, उसमें विशृङ्खलता भी आई। उनके अतिरिक्त भारत आदि अन्य एशियाई देश है जो स्वतन्त्रता प्राप्त कर अपनी औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था को राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का रूप देने में सलग्न है। इस प्रकार महायुद्ध के पश्चात ससार के तीन भिन्न भाग विविध आर्थिक ढाँचों को लेकर आगे बढे। यद्यपि सबका लक्ष्य राष्ट्रीय आर्थिक सगठन था, फिर भी उन्होंने भिन्न समस्याओं को हल करने के लिए परिस्थितियों के अनुकूल साधनों को अपनाया। ससार के बहुभाग की आर्थिक स्थिति को डाँवाडोल देख अमरीका इस तथ्य पर पहुँचा कि ससार के लघुभाग की समृद्धि बहुभाग का सकट मिटाये बिना अधिक समय तक टिकी नहीं रह सकती। अतएव उसने यूरोप के युद्ध से विध्वस्त देशों के आर्थिक ढाँचे के बिखरे हुए अवयवों को पुन सगठित करने में सहयोग दिया। उसके सहयोग के कारण यूरोप के देशों ने अपनी अर्थ व्यवस्था का पुनर्सस्थापन अति शीघ्र किया। उत्पादन बढने लगा और आज कुछ वस्तुओं का उत्पादन ससार की आवश्यकता से भी अधिक है। यह सहयोग अब भारत आदि अन्य एशियाई देशों को भी प्राप्त होने लगा है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है वह इस सहयोग द्वारा कृषि और उद्योग का विशेष ज्ञान प्राप्त कर उनके उत्पादनों में वृद्धि अवश्य ही करेगा। इससे अन्न के आयात में कमी और निर्मित वस्तुओं के निर्यात म वृद्धि की आशा की जा सकती है।

ब्रिटेन आदि अन्य देश अमरीका के सहयोग पर ही निर्भर न रहें। उन्होंने घरेलू उत्पादन को बढ़ाने तथा युद्ध के अनन्तर खोई हुई मंडियों को फिर प्राप्त करने के लिए राज्यकर (फ़िस्कल) तथा चलन (मॉनेटरी) दोनों ही साधनों को अपनाया। आयात न्यूनतम आवश्यकताओं के अनुसार नियमित किया गया और निर्यात को हर प्रकार से बढ़ावा दिया गया, किन्तु, युद्ध-काल में मुद्रास्फीति और वस्तु तथा सेवाओं की अल्पता के कारण उपभोक्ताओं की संचित माँग विस्फुटित हो उठी और फलस्वरूप, आयात में भी वृद्धि होने लगी। इसमें लेखा-संतुलन की कठिनाई उपस्थित हुई। इसे दूर करने के लिए सभी व्यापारिक घाटेवाले देशों ने कुछ कार्यवाहियाँ कीं, जिसमें महत्वपूर्ण स्थान विनिमय और परिमाणात्मक निर्बन्धनों का है। ये दो निर्बन्धन अमरीका आदि देशों में भी बरते जा रहे हैं। भारत आदि कई देशों ने मुद्रा का अवमूल्यन किया। इससे लेखा-सन्तुलन की कठिनाई कुछ समय के लिए दूर अवश्य हो गई परन्तु विदेशी माल की एक इकाई के लिए उन्हें एक तिहाई माल अधिक देना पड़ा। संसार के प्रायः सभी देशों ने युद्ध से पूर्व कुछ देशों में बरती जानेवाली द्विदेशिक व्यापार-प्रणाली को अपनाया। इस प्रणाली के अन्तर्गत कोई भी दो देश पारस्परिक समझौता करते हैं और अपनी आवश्यकता के अनुसार आयात-निर्यात के 'कोटा' निश्चित करते हैं। कहा जाता है कि इस प्रकार के नियमित व्यापार से लेखा-संतुलन में सरलता होती है। भारत का व्यापार अभी स्वतन्त्र नहीं है। भारत सरकार अपनी नीति बदलने में देर नहीं करती और द्विदेशिक समझौतों को ध्यान में रखते हुए लाइसन्स देती है। इस सूक्ष्म वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज संसार का व्यापार राजनैतिक और आर्थिक परिस्थिति के अनुकूल नियमित और नियंत्रित है।

संसार की आम समस्याओं के अतिरिक्त भारत के सामने कुछ विशेष समस्याएँ भी आईं जिनके कारण उसके व्यापार के ढाँचे में बड़ा अन्तर आया। युद्धकाल में उपभोक्ता वस्तुओं के आयात में कमी होने से घरेलू उद्योगों को बढ़ावा मिला। भारतीय उद्योगपतियों ने समय से लाभ उठाया और उद्योगों के विकास के साथ नये उद्योगों को भी स्थापित किया। युद्ध के पश्चात् भारत से उपभोक्ता वस्तुएँ भी निर्यात होने लगीं। १९४६ के आयात-निर्यात के देशानुसार

से ज्ञात होता है कि आयात का देशनाक २४४ और निर्यात का २६० था (१६३८-१००)। दु.ख है कि राजनीतिक परिस्थिति ने साथ न दिया और व्यापार की गति गिरने लगी। देश-विभाजित होते ही भारत के आर्थिक सगठन में ऐसे परिवतन आये जिनका व्यापार पर गहरा प्रभाव पड़ा। यह भारत के व्यापार का एक महत्वपूर्ण अध्याय है जिसमें उसके आयात निर्यात की नई कहानी आरम्भ होती है। उसे पटसन, रूई और अन्न के लिए विदेशों पर आश्रित होना पड़ता है। यह सत्य है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विकट प्रयास कर रहा है और पटसन तथा रूई के उत्पादन को काफी अधिक बढ़ा लिया है। अन्न का प्रश्न ही उसकी आर्थिक स्थिति की एक विचित्र पहेली बना हुआ है। निम्न तालिका भारत के बढ़ते हुए व्यापार को बताती है :—

मूल्य का देशनांक

साल	आयात				निर्यात			
	खाद्यवस्तु व तम्बाकू	कच्चा माल	निर्मित माल	कुल	खाद्यवस्तु व तम्बाकू	कच्चा माल	निर्मित माल	कुल
१६४६*	१०७	१०४	८६	६६	११०	१०२	६७	१०१
१६५०	१०४	११३	६६	१०३	१२७	११४	१०३	११०
१६५१*	११२	१५७	१२०	१२७	१५५	२४८	१६४	१५७

मात्रा का देशनांक

साल	खाद्यवस्तु व तम्बाकू	कच्चा माल	निर्मित माल	कुल	खाद्यवस्तु व तम्बाकू	कच्चा माल	निर्मित माल	कुल
१६४६*	१००	११४	१२१	११५	१२७	६७	८८	१०२
१६५०	७१	११२	७६	८८	१०६	१०३	११२	११५
१६५१*	१३६	१०८	६०	१०५	११५	१२८	११६	१२१

उपर्युक्त तालिका भारत के आयात-निर्यात के मूल्य तथा उसकी प्रमात्रा के पिछले तीन सालों में घटाव-बढ़ाव को प्रदर्शित करती है। साथ ही वह हमारे व्यापार के ढाँचे पर भी प्रकाश डालती है। घटाव बढ़ाव का एक मात्र

* दस माह की औसत

कारण देश की माँग और प्रदाय शक्ति ही नहीं है, इस सम्बन्ध में संसार की प्रदाय स्थिति, वस्तुओं का मूल्य तथा राजनैतिक वातावरण—ये सभी बातें ध्यान देने योग्य हैं।

किसी भी देश का आयात और निर्यात उसके आर्थिक ढाँचे पर निर्भर है। भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति पर ध्यान देने से उसे न पिछड़ा हुआ देश ही कहा जा सकता है और न उसका नाम उन्नतिशील देशों की सूची में ही आता है। उसने उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में आत्म-निर्भरता प्राप्त करली है और अब वह बड़ी मशीनों तथा कलों के लिए कारखाने स्थापित कर रहा है। इस औद्योगिक उन्नति के कारण उसके व्यापार के ढाँचे में भी परिवर्तन आया। उसके निर्यात की सूची से कुछ मदें ओझल हो चुकी हैं और अनेक की प्रमात्रा में कमी आ गई है। निम्न-तालिका निर्यात की स्थिति प्रस्तुत करती है :—

कुछ वस्तुओं का निर्यात (मासिक औसत)
(प्रमात्रा)

वस्तु	१९४९	१९५०	१९५१
रुई (०००टन)	४	३	२·५
सूती कपड़ा (करोड़ गज)	३·६	६·३	८·६
बोरी (नं० करोड़)	२·७	२·६	२·२
हसेन (करोड़ गज)	१०·४	६·२	६·०
मूँगफली (००० टन)	५	८	४
अलसी ”	५	५	३
खाल ”	२	१	१·५
लोहा ”	५	२	५
मैंगनीज ”	४५	३१	३०
अभरक (टन)	११५०	१३५०	२५८०
चाय ”	१८३५४	१४७३२	१५१७६
लाख ”	१०५०	२५५०	२००८

इन वस्तुओं के अतिरिक्त सिलाई की मशीनें, काँच का सामान, चीनी, खेती के औजार, बिजली का सामान, ऊनी कपड़ा, दरी, रसायन आदि कई निर्मित वस्तुएँ विदेशों को भेजी जाती हैं।

यों तो छोटा बड़ा विविध प्रकार का सामान आयात किया जाता है, मुख्य उपभोक्ता वस्तुएँ निम्न तालिका में दर्शित की गई हैं —

कुछ वस्तुओं का आयात (मासिक औसत)

(प्रमात्रा)

वस्तु	१९४९	१९५०	१९५१*
कागज (टन)	६६५०	५४५०	६५५०
रुई कपड़ा (०००गज)	१७	१७	१३
सूती कपड़ा (००० गज)	७६१३	५७४	७६७
सूत (००० पौंड)	१६७५	२६२	१०६
मिट्टी का तेल (००० गैलन)	१६०२०	१८५४८	१८७२६
पेट्रोल	१४०२१	१६१५४	१७७१६
खाद (००० टन)	१७	४०	११
अन्न	२१३	१३२	३३८

देश के आयात की सूची यहां पर समाप्त नहीं हो जाती। भारत की वर्तमान विकासमय औद्योगिक नीति पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि कुछ उपर्युक्त मदें शीघ्र ही इस सूची से ओझल हो जायेंगी। किन्तु देश के प्राकृतिक साधनों पर ध्यान देने से यह छिपा न रह सकेगा कि तालिका में कुछ ऐसी मदें हैं जिनका आयात भविष्य में बढ़ेगा। इनके अतिरिक्त भारत मशीन और उपभोक्ता वस्तुओं को तैयार करने के लिए कचा माल भी आयात करता है। इनमें से कुछ वस्तुओं के आयात का ज्ञान निम्न आँकड़ों से किया जा सकता है :—

* दस माह का औसत

(करोड़ रुपये)
अप्रैल-नवम्बर

वस्तु	१६४६	१६५०	१६५१
मशीनों की बैल्टिंग	०·८	०·७	१·३
रसायन	६·३	५·४	१२·१
लोह भाण्ड	५·१	३·१	४·२
बिजली के यंत्र	१०·२	६·८	६·४
मशीन आदि	७५·३	५७·६	३७·६
फैरस धातु	६·८	११·७	१३·५
नान-फैरस धातु	१३·०	१६·८	१३·५
दवाइयाँ	६·२	५·६	१०·२
लारी, ट्रक आदि	४·५	२·१	१·४
मोटरें	२·३	२·१	२·७

इस प्रकार पिछले कुछ वर्षों से भारत के आयात-निर्यात का ढाँचा बदल रहा है। भारत अब केवल कच्चे माल का प्रदायक न रह कर उसे ऊँचे बाजार के भाव पर भी खरीद कर स्वयं आयात करता है और उपभोक्ता आदि वस्तुएँ को तय्यार कर अपनी आवश्यकता की पूर्ति के बाद विदेशों को भी भेजता है। पंच-वर्षीय योजना पर ध्यान देने से यह विदित होता है कि अगले पाँच वर्षों में भारत के व्यापार का ढाँचा आज के सदृश्य मिश्रित न रह कर स्पष्ट रूप ग्रहण करने लगेगा। भारत के आयात की सूची से रेल के इंजन, कई प्रकार की मशीनें, मोटर, रसायन तथा अन्य निर्मित माल की प्रमात्रा नहीं के बराबर रह जायगी। साथ ही भारत रूई तथा पटसन में भी आत्म निर्भर बन जायगा। उसकी निर्यात सूची में मशीन, रसायन तथा अन्य निर्मित माल की संख्या और प्रकार प्रमात्रा दोनों में वृद्धि होगी। यह सब तभी सम्भव है जब भारत में राजनैतिक शांति बनी रहे और सरकार तथा उद्योगपति एक दूसरे के सहयोग द्वारा पंच-वर्षीय योजना को सफल बनायें और देश के उद्योगीकरण को वृहद् और विशाल रूप दें।

४०—राष्ट्रीय आय

हमारी प्रति-व्यक्ति आय का एक अध्ययन

किसी भी देश की प्रति व्यक्ति आय उस देश के औद्योगिक और आर्थिक विकास की द्योतक होती है। प्रगतिशील राष्ट्रों की वार्षिक आय उत्पादन बाहुल्य के कारण स्वतः ही अधिक होती है तथा उद्योग-धन्धों की दृष्टि से पिछड़े हुए राष्ट्रों की उत्पादन-शक्ति कम होने के कारण प्रति व्यक्ति आय भी कम होती है। आधुनिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार प्रति व्यक्ति आय समूचे उत्पादन की ही द्योतक नहीं, राष्ट्रीय आय के वितरण पर भी यथेष्ट प्रकाश डालती है। प्रति व्यक्ति आय का राष्ट्र की सम्पत्ति के वितरण से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। राष्ट्र के आर्थिक जीवन के उतार-चढ़ाव प्रति व्यक्ति आय द्वारा जाने जाते हैं। आर्थिक आयोजन की दृष्टि से आर्थिक जीवन के इन परिवर्तनों को जानने के लिए राष्ट्रीय आय का ज्ञान प्राप्त करना बहुत आवश्यक है। राष्ट्रीय आय के आँकड़ों द्वारा समाज के रहन-सहन के स्तर का पता लगाया जा सकता है और यह ज्ञात किया जा सकता है कि राष्ट्र के विभिन्न वर्ग उन्नति पर हैं अथवा अवनति की ओर जा रहे हैं। हमारे देश में, जहाँ के निवासियों का रहन-सहन निम्नतर है, जहाँ के लोगों का स्वास्थ्य बहुत गिरा हुआ है, जहाँ लोगों को पोषक आहार तो क्या पेट भर भोजन भी प्राप्त नहीं, इस बात की कठिन आवश्यकता है कि राष्ट्रीय आय की वास्तविक स्थिति जानी जाय। ऐसी स्थिति में यदि सरकार राष्ट्रीय आय का सही-सही ज्ञान प्राप्त कर सके तो उसे देश की आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए कोई भी ठोस कदम उठाने में काफी योग मिल सकता है और तभी वह लोगों की कर-क्षमता का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करके क्षमता के आधार पर कर-प्रणाली का आयोजन कर सकती है।

गत वर्षों में हमारे यहाँ राष्ट्रीय आय की वास्तविक स्थिति जानने के अनेक प्रयत्न होते रहे हैं। सबसे पहला प्रयत्न १८६७-७० में किया गया था जब डा० दादाभाई नौरोजी ने राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़े प्राप्त किए थे। इसके

पश्चात् समय-समय पर अनेक प्रयत्न होते रहे। समय-समय पर प्रति व्यक्ति आय के जो आँकड़े प्राप्त किए गए, वे इस प्रकार हैं:—

वर्ष	आँकड़े प्राप्त करनेवाले व्यक्ति या संस्था का नाम	प्रति-व्यक्ति आय (रुपयों में)
१८६७-७०	दादाभाई नौरोजी	२०
१८८२	लार्ड क्रोमर	२७
१८९१	ई० ए० होर्न	२८
१८९८	डिग्बी	१७ ८
१८९९-१९००	डिग्बी	१२ ८
१९००	कर्ज़न	३०
१९०१	सर आर० गिफिन	३०
१९११-१२	डा० बालकृष्णन्	२१
१९११	ई० ए० होर्न	४२
१९१३-१४	वादिया और जोशी	४४-८
१९००-१४	शाह और खंभाता	३८
१९२१-२२	शाह और खंभाता	६७
१९२५	वकील और मुरंजन	७४
१९३१	फिण्डले शिराज	६३
१९३१-३२	डा० राव	६५
	ग्रामीण	५१
	नागरिक	१६६
१९३७-३८	सर जेम्स ग्रिग	५६
१९३८-३९	'कॉमर्स' साप्ताहिक के एक लेख द्वारा १८-१२-१९४३	६६
	ग्रामीण	४७
	नागरिक	२००
१९४२-४३	'कॉमर्स' के एक लेख द्वारा	१४२
	ग्रामीण	९१

वर्ष	आँकडे प्राप्त करने वाले व्यक्ति या संस्था का नाम	प्रति-व्यक्ति आय (रुपयों में)
	नागरिक	४८३
१९४३ ४४	दिल्ली के एक साप्ताहिक 'ईस्टर्न इकॉनॉमिस्ट'	१३९
१९४४ ४५	,,	१३९
१९४५ ४६	,,	१३७
१९४६ ४७	,,	१४३
१९४७ ४८	,,	१६०
१९४८ ४९	,,	१८६

उक्त आँकड़ों से ज्ञात होता है कि समय समय पर विभिन्न विशेषज्ञों द्वारा लिए गए अंकों में काफी अन्तर और विषमता है। इसका एक कारण यह है कि समय समय पर मूल्य-स्तरों में, जिनके आधार पर ये अंक ज्ञात किए गए थे, काफी अन्तर रहता था। दूसरी बात यह रही कि किसी विशेषज्ञ ने अपनी जाँच पड़ताल का क्षेत्र छोटा रक्खा और किसी ने बहुत विस्तृत—किसी ने समूचे भारत के अंक प्राप्त किए तो किसी ने किसी स्थान विशेष के। इससे आँकड़ों में अन्तर रहा। एक बात और है। इन आँकड़ों को निकालने में अन्वेषकों ने पक्षपात से भी काम लिया। जो अन्वेषक यह दिखाना चाहते थे कि अंगरेजी राज्य में देश की आर्थिक उन्नति हुई है, वे ऊँचे आँकड़े निकालते रहे और जो अन्वेषक इसके विपरीत सिद्ध करना चाहते थे, उन्होंने प्रति व्यक्ति आय के नीचे आँकड़े निकालने की चेष्टा की। इसके अतिरिक्त हमारे देश की अंक-व्यवस्था भी बहुत दोष पूर्ण रही है। अंक प्राप्त करने की सरल और वैज्ञानिक पद्धति का अभाव होने के कारण प्राप्त किए गए अंकों को बिलकुल विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। फिर भी जो कुछ आँकड़े इस समय प्राप्त हैं उनके आधार पर यही कहा जा सकता है कि भारत की उत्पादन शक्ति और इस पर आश्रित राष्ट्रीय आय बहुत कम है। देशवासियों का निम्नतर जीवन स्तर इस बात का एक प्रमाण है। अन्य देशों की तुलना में तो हमारी राष्ट्रीय

आय बहुत ही कम है। प्रो० कोलिन क्लार्क ने विभिन्न देशों की राष्ट्रीय आय की तुलना करने के लिए 'अन्तर्राष्ट्रीय इकाई' के आधार पर प्रति व्यक्ति आय के तुलनात्मक आँकड़े दिए थे जो इस प्रकार हैं :—

देश	अन्तर्राष्ट्रीय इकाई
अमरीका	१३८१
इंगलैण्ड	१०६६
आस्ट्रेलिया	९८०
फ्रांस	६८४
जापान	३५३
भारत	२००

हो सकता है कि प्रो० क्लार्क के ये आँकड़े नितान्त सत्य न हों परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अन्य पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारत में प्रति व्यक्ति आय बहुत नीची है।

युद्ध का प्रभाव

युद्ध के कारण देश में उद्योग-धंधों को जो प्रोत्साहन मिला और उसके फलस्वरूप लोगों के रोजगारों में जो बढ़ोत्तरी हुई उससे सामान्यतः यह धारणा बन गई है कि देश की प्रति व्यक्ति आय भी बढ़ी है। परन्तु विशेषज्ञों ने १९३९ से १९४५ तक के जो आँकड़े इकट्ठे किए हैं उनसे यह धारणा बिलकुल गलत सिद्ध होती है। इस सम्बन्ध में दिल्ली के साप्ताहिक 'ईस्टर्न इकॉनॉमिस्ट' के शोध विभाग ने कुछ आँकड़े संकलित किए हैं। उनसे ज्ञात होता है कि १९३९ में प्रति व्यक्ति आय ६७ रुपये थी परन्तु यह घट कर १९४५-४६ में ६३ रुपये रह गई। उक्त पत्र से लिए गए आँकड़ों से यह बात और भी अधिक स्पष्ट होती है—

	१९३९-४०	४०-४१	४१-४२	४२-४३	४३-४४	४४-४५	४५-४६
१. प्रति-व्यक्ति आय (रुपयों में)	६७	७०	७५	११२	१३८	१३९	१२७

फ०—१८

२. निर्वाह-व्यय (बंबई) (आधार १६३६ = १००)	१००	१०५	११७	१६०	२२७	२१६	२१७
३. निर्वाह-व्यय बबई से सम्बन्धित प्रतिव्यक्ति आय	६७	६७	६६	७०	६४	६४	६३

इस तालिका मे बबई के निर्वाह व्यय को ही आधार माना गया है क्योंकि देहातो के सम्बन्ध मे जीवन-व्यय के आँकडे उपलब्ध हैं ही नहीं और यदि उपलब्ध भी हों तो उनसे सही निष्कर्ष नहीं निकल सकता। देहात में लगभग सात करोड़ ऐसे व्यक्ति हैं जिनका उत्पादित कृषि-पदार्थों पर कोई अधिकार नहीं है। वे केवल खेतिहर-मजदूर हैं। उन्हें कृषि पदार्थों की मूल्य-वृद्धि से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ है। इस विषय में वुडहेड अकाल कमीशन का मत देना आवश्यक है। कमीशन का मत है कि साधारण कृषकों को मूल्य वृद्धि से कोई भी विशेष लाभ नहीं मिला है—कुछ वृद्धि हुई है—परन्तु इसके साथ-साथ कृषक ने लगान, किराया और ऋण चुकाने के लिए अपने उत्पादन का बहुत कम भाग बाजार मे बेचा है (अतः उन्हें मूल्य-वृद्धि से कोई अधिक लाभ नहीं मिला है)। कमीशन के इस मत पर यह माना जा सकता है कि देहातो में प्रति व्यक्ति आय में कोई ह्रास नहीं तो कोई वृद्धि भी नहीं हुई है।

प्रति मनुष्य आय के ह्रास के कारण जानने की उत्कंठा होना स्वाभाविक है क्योंकि राष्ट्र के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के सारे आयोजन इसी पर निर्भर करते हैं। केवल जर्मनी, जापान और इटली को छोड़कर ससार के सभी देश युद्ध-पूर्व के बराबर औद्योगिक उत्पादन करने लगे हैं और हमारा देश आगे बढने की जगह पीछे ही हटता रहा है। अमरीका में तो युद्ध पूर्व स्तर से ७० प्रतिशत और अधिक उत्पादन होने लगा है। निरसन्देह यातायात की कठिनाई, कारखानों की युद्धकालीन टूट और औद्योगिक हड़तालें हमारी उन्नति में बाधक हुईं उनके कारण समय समय उत्पादन कार्य रुका है परन्तु ये सब बातें तो कुछ न कुछ अंशो में प्रत्येक देश में हुई हैं। हमारे देश में कल पुर्जों की यदि कमी थी तो साथ ही अन्य देशों में युद्ध के कारण जो नाश हुआ

उससे हमारा देश वंचित रहा। अन्य देशों की तरह हमारा देश भी औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि कर सकता था। देश का विभाजन और तत्जनित कठिनाइयाँ निस्सन्देह एक मुख्य कारण हैं परन्तु विभाजन के पूर्व के आँकड़ों से स्पष्ट है कि युद्धकाल में भी प्रति-मनुष्य आय में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। इससे सिद्ध होता है कि ह्रास के कारण राजनैतिक न होकर आर्थिक हैं। हमारे देश के आर्थिक *ढाँचे का वर्तमान संगठन ही हमारी आर्थिक समस्याओं का मुख्य कारण है।* देश के पास प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक साधन हैं। इन साधनों का औद्योगिक उपयोग करने के लिए देश में पर्याप्त जनशक्ति है। यदि कोई कमी है तो केवल आर्थिक संगठन की है। जब तक यह जन-शक्ति प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं करती तब तक अधिकतम उत्पादन सम्भव नहीं। श्रमिक पूर्ण उत्साह और *कुशलता से तभी कार्य करेगा जब उसे यह विश्वास हो कि उसे अपने श्रम का* प्रतिफल अवश्य मिल जायगा। दुर्भाग्य से देश में अभी ऐसी कोई युक्ति नहीं निकाली गई जिससे श्रमिक वर्ग में इस प्रकार का विश्वास तथा संतोष उत्पन्न होता। इस प्रकार के विश्वास का अभाव औद्योगिक उत्पादन पर बुरा प्रभाव डाल रहा है। यह तथ्य निम्न आँकड़ों से स्पष्ट हैः—

भारत में औद्योगिक उत्पादन

वस्तु	१९४५-४६	४६-४७	प्रतिशत ह्रास
सूती कपड़ा (दस लाख गजों में)	४६५२१	३८६३	१७
सूत (दस लाख पौंडों में)	५८४	४७०	१४
इस्पात (निर्मित टन १०००)	१३३८	११६०	२१
इस्पात (कच्चा टन १०००)	१२९९	११९९	८
कोयला (टन १०००)	२६५४२	२६२१८	११
सीमेंट (टन १०००)	२१४६	२०१६	६

वस्तु	१६४५ ४६	४६-४७	प्रतिशत ह्रास
शक्कर (हंडरवेट १०००)	१०२३०	८६६६	१५

श्रमिक वर्ग के असहयोग का हमें दूसरा सबूत हड़तालो की सख्या तथा उसके फल स्वरूप नष्ट हुए दिनों में मिलता है :—

हड़तालें

वर्ष	हड़तालो की सख्या	काम करने के नष्ट हुए दिन
१६३६	४०६	४६६३
१६४०	३२२	७५७७
१६४३	७१६	२३४५
१६४४	६५८	३४७५
१६४५	८२०	४०५४
१६४६	१६२६	१२७००
१६४७	२१६६	१५८८०

श्रमिक वर्ग में जब तक सन्तोष और विश्वास उत्पन्न नहीं होता और जब तक उसका पूर्ण सहयोग प्राप्त नहीं होता उत्पादन मे वृद्धि सम्भव नहीं हो सकती। कृषि पदार्थों के उत्पादन में भी तभी वृद्धि होगी जब कृषि सगठन में आमूल परिवर्तन किए जाए। कृषि प्रणाली की ऐसी व्यवस्था हो जिससे प्राकृतिक पदार्थों का पूर्ण उपयोग किया जा सके। अन्य देश उत्पादन बढाने मे जुटे हुए हैं। हमें भी राष्ट्रीय आय मे वृद्धि करनी चाहिए। सबसे पहिले उसका ह्रास रोकना होगा और फिर उसमें वृद्धि की जायगी। भारत सरकार ने गत वर्ष राष्ट्रीय आय समिति बैठाई थी। इस समिति ने वर्तमान स्थिति का अध्ययन करके राष्ट्रीय आय बढाने के सुझाव दिए हैं। यहाँ समिति की रिपोर्ट पर तर्क करना वाञ्छनीय नहीं है। यहाँ केवल कुछ सुझावों की ओर सकेत करना आवश्यक है जिससे राष्ट्रीय आय में बढोत्तरी हो सके।

भारत की प्रति मनुष्य आय में जो ह्रास आरम्भ हो गया उसे रोकने के लिये निम्न कार्य आवश्यक है :—

मुद्रास्फीति वर्तमान आर्थिक संकट का मुख्य कारण है। जबतक इस पर नियन्त्रण नहीं होगा मूल्यस्तर को ऊँचे उठने से नहीं रोका जा सकता। अतः सरकार को जनता की अतिरिक्त क्रयशक्ति 'सरप्लस पर्चेजिंग पावर' को कम करने के प्रयत्न करने चाहियें तथा साथ ही पत्र-मुद्रा की राशि भी निश्चित कर देनी चाहिये।

केवल मुद्रा सम्बन्धी सुधारों से ही समस्या नहीं सुलझ सकती। राजस्वनीति में भी निश्चित परिवर्तन करने होंगे। गत दस वर्षों से केन्द्रीय आय-व्ययक (बजट) में घाटा चला आ रहा है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय आय-व्ययकों को सन्तुलित करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

मुद्रा तथा राजस्व सम्बन्धी सुधारों के अतिरिक्त उत्पादन वृद्धि का सुसगठित तथा दृढ प्रोग्राम कार्यान्वित करना चाहिये। जब तक देश में उपभोग्य वस्तुओं की कमी है कितने ही प्रयत्न किए जाएँ, प्रति मनुष्य वास्तविक आय में वृद्धि नहीं हो सकती। उत्पादन वृद्धि के हेतु प्रत्येक उद्योग में एक ऐसा *संगठन स्थापित किया जाय जो मिल मालिकों और मजदूरों के निम्न के झगड़े निपटा सके। कुछ बड़े-बड़े उद्योग-धंधों के प्रबन्ध में श्रमिकों को भी शामिल* किया जाय, विशेषकर राष्ट्रीय उद्योग धंधों में। प्रत्येक उद्योग-धंधों में विशेषज्ञों और कलाकुशल व्यक्तियों की एक समिति होनी चाहिए जो उस उद्योग की उत्पादन वृद्धि की योजनाएँ बनाती रहे तथा उन योजनाओं को कार्यान्वित करने में मार्गदर्शन कराती रहे। विदेशों से पूँजीगत माल मगाने की एक योजना तैयार करनी चाहिए तथा यह जाँच करनी चाहिए कि अमेरिका और इंगलैण्ड को छोड़ कर हम छोटे देशों जैसे स्वीडन, स्विटजरलैण्ड, जापान, जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया इत्यादि से कौन-कौन सी मशीन, कल-पुर्जे मँगवा सकते हैं।

उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ हमें वितरण की वर्तमान विषमताओं को दूर करना है तथा बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय का इस प्रकार से वितरण करना होगा जिससे *उद्योग, व्यक्ति, स्थान किसी भी दृष्टि से विषमता उत्पन्न न हो।* १९४७–४८ में कुल राष्ट्रीय आय का ५६·२ प्रतिशत भाग कृषि इत्यादि द्वारा उत्पन्न किया जाता था तथा २१·३ प्रतिशत उद्योग धंधों द्वारा। इस असन्तुलित अवस्था का अन्त तभी हो सकता है जब कृषि पर से जनसंख्या का भार दूर किया जाय

और गाँवो में छोटे उद्योग-धधो को प्रोत्साहन दिया जाय। इसी प्रकार शहर और गाँव के मजदूरों की प्रति व्यक्ति आय में बड़ी विषमता है। बम्बई के साप्ताहिक 'कॉमर्स' ने अनुमान लगाया है कि १६४७-४८ में शहर के मजदूर की औसत आय ४४३ रु० थी और गाँव में काम करने वाले मजदूर की केवल १७१ रु० थी। इस प्रकार की विषमताएँ जब तक हमारे आर्थिक जीवन में उपस्थित हैं तब तक प्रतिशत मनुष्य आय में कोई विशेष वृद्धि सभव नहीं है। शहर और गाँव के बीच के वर्तमान असतुलन को केवल ग्रामीण औद्योगीकरण के द्वारा ही दूर किया जा सकता है और तभी वितरण की समस्या को मूलतः सुलझाया जा सकता है।

४१—विदेशी पूँजी का प्रश्न

देश के कोने-कोने में एक लहर सी व्याप्त है कि शीघ्रातिशीघ्र भारत का औद्योगीकरण हो। छोटे नागरिक से लेकर चोटी के नेता तक, समाज-सुधारक से लेकर राजनीतिज्ञ तक, कलाकार से लेकर अर्थशास्त्री तक 'उत्पादन बढ़ाओ' के नारे बुलन्द कर रहे हैं। परन्तु औद्योगिक विकास सम्बन्धी वृहद् योजनाओं को कार्यान्वित करने में हम पूँजी की समस्या को लेकर अटक जाते हैं। पूँजी के मुख्य स्रोत दो हैं—(१) आन्तरिक अथवा भारतीय पूँजी, (२) बाह्य अथवा विदेशी पूँजी। यद्यपि प्रथम महायुद्ध काल में भारतीय औद्योगिक क्षेत्र में आन्तरिक पूँजी आती रही फिर भी हमारे मुख्य धंधों में विदेशी पूँजी का ही विशिष्ट स्थान रहा है। यदि देखा जाय तो विदेशी पूँजी के इतिहास से हमारे देश का गत डेढ़ सौ वर्ष का इतिहास बंधा हुआ है। विदेशी शासकों (अंगरेजों) ने भारत को केवल राजनैतिक दृष्टि से ही परतन्त्र नहीं बनाया वरन् उन्होंने इसे आर्थिक शोषण का क्षेत्र बनाए रक्खा। प्रारम्भ में लगभग ७० वर्षों तक भारत से कच्चा माल इंगलैण्ड के कारखानों के लिए खींचा गया और पक्का माल भारत के बाजारों में लाकर बेचा गया। इस दुहरे शोषण के क्रम में विदेशी पूँजी का पूरा हाथ था और सरकार का उसे पूर्ण प्रोत्साहन और संरक्षण मिला हुआ था। धीरे-धीरे भारत में ही विदेशी पूँजी के आधार पर नए उद्योग-धंधे आरम्भ किए गए। देश की पूँजी को 'अपर्याप्त' तथा 'संकुचित' कह कर भविष्य में भी अनन्त काल तक देश का शोषण करने की भावना से विदेशी पूँजी का देश में विनियोग किया जाता रहा। विशाल कारखाने, निर्माणियाँ, बैंक, बीमा कम्पनियाँ आदि संस्थाएँ विदेशी पूँजी से स्थापित की जाती रहीं। रेल, कोयले, चाय, कहवा, रबड़, कपास, पटसन इत्यादि उद्योगों में विदेशी पूँजी अतुल मात्रा में लगाई गई। इन उद्योगों के द्वारा करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष औद्योगिक लाभ के रूप में इङ्गलैण्ड और अन्य देशों को जाता रहा। यही नहीं, विदेशी पूँजी द्वारा सगठित तथा विदेशी सरकार द्वारा संरक्षित उद्योगों के कारण राष्ट्रीय उद्योगों के विकास में काफी बाधा

आई। अतुल पूँजी, उत्तम संगठन तथा सरकारी संरक्षण के कारण वे सदा ही शक्तिशाली रहे और स्थानीय उद्योगों से प्रतियोगिता करते रहे। इस विषय में आरम्भ से ही भारतीयों का विरोध रहा और राष्ट्रीयता की आग फुँकते ही यह विरोधी भावना और भी प्रबल होती गई। १६२१ २२ में इस प्रश्न को सरकारी तौर से 'फिसकल कमीशन' को सौंप दिया गया। १६२५ में फिर विदेशी पूँजी के प्रति नीति-निर्धारण के लिए सरकार ने एक विदेशी पूँजी समिति स्थापित की। इस समिति के भारतीय सदस्यों ने अपनी सम्मति प्रकट की कि भारतीय उद्योग धंधों का विकास विदेशी पूँजी की अपेक्षा भारतीय पूँजी के द्वारा ही किया जाय। भारत को विदेशी पूँजी के इतने कटु अनुभव रहे कि देश में पूँजी की कमी होते हुए भी सलाहकार योजना बोर्ड ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था "औद्योगीकरण के लिए देश में ही पूँजी प्राप्त हो सकेगी और उद्योग धंधों के संचालन के लिए विदेशी पूँजी की प्रत्यक्ष रूप में आवश्यकता नहीं होगी। निस्सन्देह औद्योगिक कुशल कारीगरों की और पूँजीगत माल की आवश्यकता होगी परन्तु उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त विदेशी पूँजी को स्थान नहीं होना चाहिए क्योंकि विदेशी पूँजी के एक बार जम जाने पर उसे उखाड़ना कठिन हो जाता है।"[1] इन ऐतिहासिक कारणों के अतिरिक्त विदेशी पूँजी के विरुद्ध कुछ सैद्धान्तिक कारण भी रहे हैं।

हमारे देश में विदेशी पूंजी एक भारी संख्या में लगी हुई है। १६३० में 'इकॉनॉमिस्ट' नामक पत्र ने अनुमान लगाया था कि भारत में अंगरेजी पूँजी का मूल्य ७०० करोड़ पौण्ड था। १६३३ में ब्रिटिश एसोसियेटेड चेम्बर ऑफ कॉमर्स ने भारत में अगरजी पूँजी १००० करोड़ पौण्ड आंकी थी जो इंगलैण्ड की विदेशों में विनियोगित पूँजी का लगभग एक चौथाई था। श्री वी० आर० शैनाय महोदय के अनुसार मार्च १६४५ में भारत स्थित विदेशी पूँजी २२७५ मिलियन पौण्ड के लगभग थी जो किंचित अतिशयोक्ति से मुक्त नहीं है क्योंकि इस अनुमान में विदेशी हाथों से भारतीय हाथों में स्थानान्तरित होने वाले व्यापारों का लेखा नहीं लगाया गया था। हम जानते हैं कि सन् १६३६ से

[1] ऐडवाइजरी प्लानिंग बोर्ड की रिपोर्ट—१६४७ पृ० सं० १७ १८

भारत स्थित विविध उद्योगों का भारतीयकरण होना आरम्भ हो गया था और जैसे-जैसे युद्ध तीव्रातितीव्र होता गया वैसे-वैसे उसकी गति में भी प्रगति आती गई यहाँ तक कि सत्ता हस्तान्तरित होने के साथ ही विदेशियों ने अपने को भारतीय उद्योग क्षेत्र से मुक्त करना चाहा और उन्होंने उनको औने-पौने भावों पर विक्रय भी कर दिया। बम्बई के कपास मिल, कलकत्ते तथा निकटवर्ती प्रदेश की जूट मिलें भारतीयों के हाथों में आगई। परन्तु यह कहना सर्वथा न्याय संगत है कि देश में विदेशी पूँजी काफी बड़े परिमाण में विद्यमान है। यद्यपि अब भारतीय पूँजी उत्तरोत्तर निडर होती जा रही है तो भी बैंक, जलयान, रेल, बीमा, चाय, कहवा, खान इत्यादि उद्योगों में विदेशी पूँजी का प्राधान्य एवं बोलबाला है।

विदेशी पूँजी भारत में निम्न भिन्न-भिन्न रूपों में आई है और विद्यमान है :—

(अ) विदेशियों ने भारत के व्यापार तथा उद्योग प्रमंडलों के हिस्से खरीद रखे हैं या ऋण-पत्र ले लिये हैं जिनके अनुसार हिस्सों पर लाभांश और ऋण पत्रों पर वृद्धि देश से बाहर जाती रहती है। इतना ही नहीं विदेशी हिस्सेदारों के हिस्से इतनी अधिक संख्या में हैं कि उनकी अधिकता के कारण प्रमंडलों का नियंत्रण तथा प्रबन्ध भी लगभग विदेशियों के हाथ में आ गया है। जैसे 'टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी' में अधिकांश हिस्से विदेशियों के ही हैं।

(ब) विदेशी धनपतियों ने भारत निवासियों को अल्प-कालीन तथा दीर्घ-कालीन ऋण दे रखे हैं जिसके द्वारा विदेशी पूँजी भारत में आ गई है। भारतनिवासियों ने इसी धन राशि से उद्योग चला रखे हैं और विदेशी पूँजी पर वृद्धि विदेशों को चली जा रही है।

(स) विदेशियों ने अपनी पूँजी से हमारे देश में या तो अचल सम्पत्ति खरीद ली है और या अपने ही स्वामित्व में या भारतीयों की साझेदारी में व्यापार और उद्योग धंधे चला रखे हैं जिनका पूर्ण प्रबन्ध, सञ्चालन तथा नियंत्रण विदेशियों के ही हाथ में है, जैसे कोयले की खानें, चाय के बाग। 'ब्रिटिश इण्डिया कारपोरेशन' भी विदेशी पूँजी का ही उद्योग समूह है।

विदेशी सरकारों ने भारत सरकार को भी कुछ धन राशि उधार दे रखी है जिससे विदेशी पूँजी ने हमारे देश में स्थान पा लिया है।

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय दल बन्दी और पिछले इतिहास के कटु अनुभवों के बावजूद भी देश को अब विदेशी पूँजी की आवश्यकता है। उत्पादन की कमी, बढ़ती हुई जनसख्या, खाद्यान्न के वितरण में असामाजिक तरीकों का उपयोग इत्यादि के कारण खाद्य सामग्री एव पूँजीगत माल दोनों के लिए हमारी विदेशों पर निर्भरता बढ़ती जा रही है। देश को स्वावलम्बी तथा बलिष्ठ बनाने के लिए उत्पादन बढ़ाने का आवश्यकता है, जिसके लिए 'कृषि के यन्त्रीकरण' और 'देश के औद्योगीकरण' की योजनाएँ देश के सामने विशाल रूप लेकर खड़ी हुई हैं। इस काम के लिए देश को कितनी पूँजी की आवश्यकता होगी, इसका अनुमान लगाना कठिन है क्योंकि पूँजी सम्बन्धी आवश्यकता निश्चित योजनाओं, उनको कार्यान्वित करने की गति तथा वर्तमान और भविष्य में होने वाली देश की आर्थिक क्षमता इत्यादि पर निर्भर करती है। ये सभी बाते अनिश्चित हैं। अतः कोई निश्चित अनुमान नहीं लगाया जा सकता। फिर भी योजना कमीशन ने अपनी पचवर्षीय योजना के लिए १७९३ करोड़ रुपये की आवश्यकता का अनुमान लगाया है। इतनी बड़ी राशि एक साथ ही हमारे देश में उपलब्ध नहीं हो सकती। इसके लिए तो हमें विदेशों पर आश्रित रहना ही होगा। दूसरे, युद्धकालीन और युद्धोत्तर कालीन आर्थिक परिस्थितियों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि देश में पूँजी निर्माण की गति सन्तोषजनक नहीं है। किसी भी देश के मध्य वर्ग के द्वारा ही सब से अधिक पूँजी निर्मित होती है परन्तु बढ़ते हुए मूल्यस्तर और ऊँचे निर्वाह-व्यय के कारण मध्य वर्ग सचय तो क्या करता, निर्वाह-व्यय चलाता रहा है, यही उसके लिए श्रेय की बात है। युद्धकाल में जो कुछ संचय हुआ वह असाधारण आर्थिक स्थिति के कारण ही हो पाया है। वास्तव में साधारण अर्थ व्यवस्था में उस प्रकार का सचय सम्भव ही नहीं है। कृषक वर्ग ने या तो अपना कर्ज चुकाया है या जो कुछ भी वह बचा सका, उसे सोने चाँदी के जेवरों के रूप में परिवर्तित कर दिया है। जहाँ तक धनी वर्ग का सम्बन्ध है, उसके बारे में अनेक

सन्दिग्ध बातें हैं। जिन्होंने ईमानदारी से कमाया और हिसाब रखा, उनके लाभ का बहुत बड़ा अंश आय-कर या व्यवसाय-कर के रूप में निकल गया। अतः उनके संचय की दर अधिक नहीं रही। जिन्होंने असामाजिक रीतियों से धन कमाया वे अपने संचित धन को दबाकर बैठे हैं जिसकी राशि डॉ० पट्टाभि सीतारमैय्या ने लगभग १०० करोड़ रुपये के बताई थी। यह दबाया हुआ धन खुले आम बाजार में नहीं आ सकता। उक्त कारणों से पूँजी-बाजार की आज ऐसी स्थिति हो गई है कि सरकारी ऋण-पत्र भी अधिक नहीं खरीदे जाते और अनेक प्रान्तीय सरकार पूँजी जुटाने में अपने को असमर्थ पा रही हैं।

कुछ समय के लिए यदि यह मान भी लें कि पूँजी की आवश्यकता हमारे देश में ही पूरी हो जायगी तो भी मशीन, कल-पुर्जों और कलाविदों और वैज्ञानिकों की आवश्यकता देश में पूरी नहीं हो सकती। हमारे देश में मशीन और कल-पुर्जे बनाने के उद्योग नहीं के बराबर हैं। अनेक कारणों से अब तक उपभोग्य पदार्थों से सम्बन्धित उद्योग-धंधे ही आगे बढ़ पाये हैं। बुनियादी उद्योग-धंधों की अब तक नितान्त अवहेलना की गई है। फलतः भारत मशीन और कल-पुर्जों के लिए आज भी और कम से कम आगामी पाँच वर्षों तक विदेशों पर निर्भर रहेगा। उदाहरण के लिए सिंचाई के साधन, जल-विद्युत् उत्पन्न करने की मशीनें, कृत्रिम खाद्य बनाने के यंत्र, ट्रेक्टर, सड़क कूटने के रोलर, यातायात सम्बन्धी इंजिन, मशीनें और कल-पुर्जे इत्यादि विदेश से ही मँगाने पड़ते हैं। केवल मशीन और कलपुर्जे मँगाने से ही हमारी आवश्यकता पूरी नहीं हो जायगी। हमारे यहाँ औद्योगिक और वैज्ञानिक शिक्षा की कमी के कारण कुशल प्रबन्धकों एवं श्रमिकों की बहुत कमी है, विशेषज्ञ तो वास्तव में नाममात्र को ही हैं। लगभग चार वर्ष पूर्व भारत सरकार ने भी फोर्ड, बेकन, डेविस अमरीकी विशेषज्ञों द्वारा औद्योगिक शिक्षा का पर्यवेक्षण कराया था। इन विशेषज्ञों के निम्न निष्कर्ष थे :—

(१) भारत में इंजीनियरों और कुशल औद्योगिक प्रबन्धकों की नितान्त कमी है। उद्योग-धन्धों के प्रारम्भिक आयोजन से लेकर साधारण क्रियाओं तक के लिए कुशल कलाविदों की आवश्यकता है।

(२) कुशल श्रमिकों के अभाव के कारण श्रमिकों की कार्यक्षमता और काम करने की गति अन्य देशों की तुलना में बहुत ही कम है।

(३) यन्त्र, बिजली से सम्बन्धित तथा अन्य प्रकार के कलपुर्जों की कमी और कलाकौशल सबंधी शिक्षण संस्थाओं की कमी देश के औद्योगीकरण के मार्ग में सब से बड़ी कठिनाई है।

देश के औद्योगीकरण में तीन प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता होगी:— विशेषज्ञ, प्रबंधक और कुशल श्रमिक। प्रत्येक अवस्था में हमें पहले दो प्रकार के व्यक्तियों के लिए विदेशों पर निर्भर रहना होगा। तीसरे प्रकार के व्यक्तियों के लिए भी हमें कुछ अशों में विदेशों से सहायता लेनी होगी। केवल कुशल श्रमिकों को ट्रेनिंग देने के लिए ही हमें कितने प्रयत्न करने की आवश्यकता है, यह टेक्नीकल सलाहकार समिति की रिपोर्ट से स्पष्ट है। रिपोर्ट के अनुसार प्रारम्भ में प्रति वर्ष १६,००० कुशल श्रमिकों की आवश्यकता होगी जिनके लिये लगभग ३२,००० स्थानों (सीट्स) का प्रबन्ध करना होगा।

खाद्य सामग्री के लिए विदेशों पर निर्भरता, विकास योजनाओं के लिए पूँजी की आवश्यकता तथा मशीन और कलपुर्जों और कलाविदों की कमी के कारण भारत को विदेशी पूँजी की सहायता लेनी ही होगी। यह आवश्यकता आर्थिक इतिहास की दृष्टि से कोई अस्वाभाविक नहीं है। भारत, फ्रांस, इटली तथा दक्षिणी अमरीका के औद्योगिक विकास खासकर रेल यातायात के विकास के इतिहास से स्पष्ट है कि किसी भी देश को जब पूँजीगत माल की जरूरत होती है तो उसे इस प्रकार के माल भेजने वाले देश से उधार ग्रहण करना होता है। इस प्रकार पूँजी तथा पूँजीगत माल एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। "Thus the two types of exports of capital goods and of capital funds were closely interrelated even in those cases where the sale of goods for export did not precede the granting of loans or *was not anticipated* at the time...movements of capital funds and of capital goods were inter-dependent.' इस उदाहरण से

स्पष्ट है कि यदि हमें औद्योगीकरण करना है तो हमें विदेशों से मशीन और कलपुर्जे मँगाने होंगे और यदि मशीन, कलपुर्जे मँगाने हैं तो विदेशी पूँजी का सहारा लेना होगा।

भारत सरकार की नवीन नीति[1]

विदेशी पूँजी सम्बन्धी सरकार की नीति की घोषणा करते समय पं० नेहरू ने कहा कि अभी तक देश की राजनैतिक परतन्त्रता के कारण हम विदेशी पूँजी के नियन्त्रण और नियमन पर जोर देते आ रहे हैं। परन्तु अब देश की परिस्थिति बदल चुकी है। अतः विदेशी पूँजी का देश के हित में लाभकारी उपयोग ही अब नियमन का उद्देश्य होना चाहिये। पं० नेहरू ने स्वीकार किया कि विदेशी पूँजी की केवल इसलिए आवश्यकता नहीं है कि देश में पूँजी संचय कम हो रहा है, परन्तु इसके अतिरिक्त हमें विदेशों से मशीन, कल-पुर्जे और औद्योगिक कलाविदों की भी आवश्यकता है जो केवल विदेशी पूँजी के साथ ही प्राप्त हो सकते हैं। अतः सरकार ने विश्वास दिलाया है कि ब्रिटिश अथवा अन्य विदेशी पूँजी को किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचायी जायगी। सरकारी नीति को हम मुख्य चार भागों में बाँट सकते हैं :—

(१) वर्तमान उद्योग-धंधों में लगी हुई विदेशी पूँजी पर सरकार कोई भी ऐसी शर्त नहीं लगायेगी जो भारतीय उद्योगों पर लागू न हो। अर्थात् वर्तमान विदेशी पूँजी और भारतीय पूँजी में सरकार कोई भेद भाव नहीं करेगी। भविष्य में भी सरकार ऐसी नीति निर्धारित करेगी जिससे पारस्परिक लाभ के आधार पर विदेशी पूँजी भारत में आ सके। परन्तु इसके साथ-साथ प्रत्येक प्रकार की पूँजी—भारतीय अथवा विदेशी—को सरकार की औद्योगिक नीति स्वीकार करनी होगी और उसी के अनुसार चलना होगा।

(२) विदेशी पूँजी देश में लाभ कमा सकेगी और साधारणतः विदेश को लाभ भेजने पर भी कोई रोक नहीं लगाई जायगी परन्तु विदेशी विनिमय की कठिनाइयों को ध्यान में रख कर ही इस प्रकार की सुविधा दी जा सकेगी।

[1] ६ अप्रैल १९४९ को पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा घोषित

यदि किसी विदेशी पूँजी के उद्योग को सरकार हस्तान्तरित करेगी तो सरकार उचित हानिपूरण देगी।

(३) साधारणत उद्योग धंधों के स्वामित्व और प्रबन्ध में भारतीय नागरिकों का मुख्य हाथ होगा और असाधारण अवस्था में सरकार विशेषाधिकार के अन्तर्गत राष्ट्र हित की दृष्टि से किसी भी उद्योग को हस्तान्तरित अथवा नियन्त्रित कर सकती है। यह स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध में कोई कड़ा अथवा निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता। यदि एक निश्चित काल के लिए विदेशी पूँजी का किसी उद्योग विशेष पर राष्ट्र हित में स्वामित्व आवश्यक समझा गया तो सरकार इसके लिए आज्ञा प्रदान करेगी, प्रत्येक मामले पर राष्ट्र हित की दृष्टि से ही विचार किया जायगा। यदि आवश्यक योग्यता के भारतीय श्रमिक न मिलें तो विदेशी कारखाने विदेशियों को नौकरी दे सकते हैं, परन्तु साथ ही साथ ऐसे कार्यों के लिए इन कारखानों को कुशल भारतीय श्रमिक और कलाविद तैयार करने होंगे।

(४) भारतीय उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन देना, भारत सरकार की निश्चित नीति है। परन्तु आज भी और भविष्य में भी देश के औद्योगीकरण में ब्रिटिश पूँजी के लिए बहुत क्षेत्र रहेगा।

भारत सरकार की इस नवीन नीति से विदेशी पूँजी के विषय में जो अनेक भ्रमात्मक तथा संदिग्ध बातें थीं, वे अब दूर होती जा रही हैं और विदेशी पूँजीपतियों में प्रकार प्रकार के जो भय फैले हुए थे वे अब समाप्त होते जा रहे हैं। शनै शनै विदेशी पूँजी देशी पूँजी के साथ साझेदारी में आने लगी है। विदेशी पूँजी देश में भिन्न भिन्न प्रकार से लाई जा सकती है। या तो विदेशी स्वयं लावें, भारतीय विदेशों से ऋण लें या सरकार ही विदेशी सरकार या अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण ले। कैसे भी हो, ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जिससे "पूँजी आवे परन्तु पूँजीवाद न आवे।" इसके लिए ऋणों द्वारा या साझेदारी में विदेशी पूँजी लेना हितकर होगा। परन्तु भारतीयों के द्वारा विदेशी ऋण लेने के भूतकाल में बड़े दुष्परिणाम हुए हैं। अधिक वृद्धि दर पर ऋण मिले हैं और या तो व्यक्तियों ने अपने अपने लाभों पर ऋण लेकर उन्हें उत्पादन कार्य में न लगाकर अन्य किसी प्रकार नष्ट कर दिया है और यदि उत्पादन कार्य में लगाया

भी है तो उनके पास समुचित योजना न होने के कारण उस पूँजी का सुयोग्य प्रयोग न हो सका है। इसलिए सरकार को ही विदेशी पूँजी लाकर देश में वितरित करनी चाहिए। इस कार्य के लिए सरकार को एक "राष्ट्रीय-विनियोग समिति" की स्थापना करनी चाहिए। यह समिति देश में उत्पादन वृद्धि के लिए आवश्यक विदेशी पूँजी, विदेशी सरकार से या विदेशी जनता से उधार ले और फिर उसको देश की आवश्यकतानुसार देशी व्यापारियों या उद्योग-पतियों को उत्पादन वृद्धि के लिए बाँट दे और इस बात का निरीक्षण रखे कि यह राशि प्रस्तावित कार्य में ही लगायी जा रही है या नहीं। इस योजना से विदेशी पूँजी का सदुपयोग होगा, पूँजी कम वृद्धि पर मिलेगी और उत्पादन पर सरकार का नियन्त्रण रहेगा। साथ ही साथ उसके भुगतान का भी प्रबन्ध रहेगा जिससे विदेशी पूँजी के डूबने की आशंका नहीं रहेगी। समिति का यह कर्तव्य होगा कि देश की आवश्यकताओं को सही-सही समझे और तभी पूँजी उधार ले।

इस योजना के अनुसार कार्य और भी सरल होगा। विश्व बैंक की स्थापना से इस काम में भारी सुविधाएँ आगई हैं। यह बैंक सदस्य देशों की सरकारों को या सरकारों की गारंटी पर अन्य संस्थाओं को ऋण देता है। भारत सरकार ने इस बैंक से तीन ऋण ले लिए हैं और चौथा ऋण भी मिलने वाला है। इस प्रकार विदेशी पूँजी शनैः शनैः आती जा रही है। भारत विदेशी पूँजी से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। देश को उन्नत बनाने में विदेशी पूँजी की अनिवार्य आवश्यकता है। परन्तु केवल यही ध्यान रखना है कि कहीं इतिहास फिर न दोहरा जाय। कहीं विदेशी पूँजी के साथ-साथ विदेशी सत्ता न आ जाय। पूँजी का सदुपयोग हो। विदेशी पूँजी आवे परन्तु पूँजीपति न आने पावें।

४२—पूँजी-निर्माण का प्रश्न

किसी भी अविकसित देश को सदैव यह मान कर चलना पड़ता है कि वहाँ आर्थिक विकास के अनेक साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। कच्चा माल, खनिज पदार्थ, विद्युत शक्ति और श्रम आदि अनेकानेक साधन इतनी प्रचुरता में उपलब्ध हैं कि कुशल साधक के अभाव में उनका आवश्यक विदोहन नहीं हो पाता। यहाँ कुशल साधक का अर्थ केवल एक निपुण प्रबन्धक से ही नहीं है, वरन् एक ऐसे प्रबन्धक से प्रयोजन है जो आवश्यक पूँजी लगाकर उन बिखरे साधनों का उपयोग कर सके, उनका विदोहन कर सके तथा देश को समृद्धिशाली बना सके। निष्कर्ष यह है कि देश को सुखी, सम्पन्न और समृद्धिशाली बनाने के लिए पर्याप्त पूँजी की बहुत आवश्यकता है। यह तो मतभेद हो सकता है कि पूँजी होने पर ही देश समृद्धिशाली हो सकता है या पूँजी केवल समृद्धिशाली देश में ही मिल सकती है। किन्तु किसी भी प्रकार का निश्चय कर लिया जाय, पूँजी की समस्या सदा हमारे देश में बनी रही है। पूँजी की समस्या का मूल आधार पूँजी निर्माण की समस्या है। जब तक किसी वस्तु का निर्माण ही न हो तो उस वस्तु की समस्या कैसे बन सकती है। अतः पहिली समस्या वस्तु की नहीं वरन् वस्तु निर्माण की है—पूँजी की नहीं वरन् पूँजी निर्माण की है।

पूँजी-निर्माण के लिए धन-संचय की परम व प्रमुख आवश्यकता होती है। यदि धन-संचय ही न किया जाय तो पूँजी का निर्माण कैसे हो सकता है, उसे उद्योग-धंधों में कैसे लगाया जा सकता है। इसलिए धन-संचय कब और कैसे सम्भव होता है—यह सोचना आवश्यक है। सामान्यतः वह निम्न बातों पर निर्भर होता है :—

(१) संचय की योग्यता (क्षमता),
(२) संचय की इच्छा,
(३) संचित धन को पूँजी के रूप में उपयोग करने के साधन।

संचय करने की योग्यता से अर्थ यह है कि लोगों की आय और व्यय में कितना अन्तर है। यदि व्यय से आय अधिक है तो अवश्य ही उस अन्तर तक संचय करने की योग्यता प्रत्येक व्यक्ति में है किन्तु यदि व्यय इतना है कि आय पूरी नहीं पड़ती तो संचय करने की योग्यता तो छोड़िए अयोग्यता घर करने लगती है। अतः जिस व्यक्ति की आय उसके व्यय से कम है वह अपनी वर्तमान आय पर ही नहीं पर संचित राशि पर रहने लगता है अन्यथा दूसरों से ऋण लेकर ऋणी बन जाता है। यदि किसी व्यक्ति में संचय करने की योग्यता भी हो तो यह आवश्यक नहीं कि वह संचय कर ही लेगा। इसके लिए उसकी इच्छा का बलवती होना भी आवश्यक है। किसी व्यक्ति की धन संचय करने की इच्छा कई बातों पर निर्भर करती है। मुख्य रूप से अपनी संतान व सम्बन्धियों के प्रति प्रेम, समाज में सम्मान पाने की भावना तथा उसकी आदत मात्र पर्याप्त इच्छा का काम करती है।

धन संचय की क्षमता और इच्छा दोनों होने पर भी निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसका पूँजी के रूप में परिवर्तन हो ही जायगा। यदि दिन-दहाड़े देश में डाके डाले जाते हों, चोरी की जाती हो तथा दिए हुए धन को वापस प्राप्त करने की न्यायालयों द्वारा कोई सुविधा न हो तो भला कोई धन-संचय करके सिर दर्द क्यों मोल लेगा? यदि धन की सुरक्षा के बारे में सुविधाएँ भी हों तो भी यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह धन पूँजी का रूप ले चुका है और उत्पन्न कार्यों में उसका उपयोग हो रहा है। जब तक उपयोग करने के साधन न हों तब तक सच्चा पूँजी-विनियोग सम्भव नहीं हो सकता। इसके लिए बैंकों की आवश्यकता होती है तथा बड़े-बड़े उद्योगों की आवश्यकता होती है जहाँ संचित-धन का सदुपयोग किया जा सके। जब धन का आर्थिक रूप में सदुपयोग होने लगता है तब ही उसे पूँजी कहते हैं और यहीं से पूँजी निर्माण की समस्या निकलती है।

अनेक अर्थशास्त्री आज इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि हमारे देश में पूँजी-निर्माण की गति धीमी है और पूँजी आवश्यकता से बहुत कम है। पूँजी-निर्माण की गति राष्ट्र की उन्नति या अवनति पर निर्भर होती है। या यों कहिये

कि राष्ट्रीय आय पर निर्भर होती है। भारत जैसे प्रजातन्त्रवादी देश में पूँजी जब्त करने के साम्यवादी सिद्धान्तों को लागू करना तो वैसे ही सम्भव नहीं है इसलिए जो कुछ यहाँ की बचत है या सञ्चय करने की क्षमता है उसी से पूँजी-निर्माण हो सकता है। इस बारे में 'ईस्टर्न-इकोनॉमिस्ट' नामक साप्ताहिक पत्र ने दो वर्ष पूर्व सारे देश को विस्मय में डाल दिया था यह कहकर कि "वास्तव में हम बचत या पूँजी बना नहीं रहे हैं बल्कि समूचा राष्ट्र अपनी सचित-राशि पर ही जीवित रहने लग गया है।" यह समझने की बात है कि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हमारे यहाँ के बैंकों में जमा किया हुआ धन उत्तरोत्तर कम होता जा रहा है यहाँ तक कि १६४८ में बैंकों में जमा राशि में से १२ करोड़ रुपये वापिस निकाले गए और १६४६ में निकाले जाने वाली राशि की मात्रा इतनी बढ़ी कि आँकड़े १०४ करोड़ रुपये तक जा पहुँचे। यही नहीं, बड़े बड़े उद्योगों के अनेक अंशों के मूल्य भी गत वर्षों में बहुत नीचे गिर गए। अंशों के मूल्य १६४६ में शिखर पर थे तत्पश्चात् पूँजी निर्माण के अभाव में गिरने लगे। निम्न तालिका से इस बात की पुष्टि होती है :—

	३० जून १६४६	३० जून १६५६
टाटा डेफर्ड	३६४०	११५२
बम्बई डाईंग	३२७७	६२३
ए० सी० सी०	२७७	१३८
सिमको	७६७	५५०
सेण्ट्रल बैंक	१६२	७५

इसी प्रकार देश में नव-निर्मित बड़े उद्योगों की स्वीकृत पूँजी भी उत्तरोत्तर कम होने लगी। सन् १६४६ में यह पूँजी २३६ करोड़ रुपये थी किन्तु सन् १६४७ व सन् १६४८ में यह पूँजी क्रमशः १६८ करोड़ व ११७ करोड़ रुपये ही रह गई। सन् १६४६ के आँकड़े इनसे भी अधिक निराशाजनक हैं।

इन उक्त बातों और आँकड़ों से साराश यह निकलता है कि राष्ट्र की वर्तमान बचत शक्ति बिल्कुल नहीं है और जो कुछ पहले थी भी वह बड़ी द्रुतगति

के साथ न्यून होती जा रही है। इसके कारणों के बारे में हम आगे के स्तम्भ में विचार करेंगे।

वर्तमान आवश्यकता:—वर्तमान पूंजी निर्माण के बारे में जान लेने के पश्चात् हमें अपनी आवश्यकताओं के बारे में तनिक विचार कर लेना है। हमारी कुल वार्षिक बचत कितनी होनी चाहिए? यह प्रश्न वैसे तो बड़ा जटिल है किन्तु इसका लगभग अन्दाज लगा लेना अधिक कठिन नहीं। बम्बई योजना के अनुसार साधारण गणित के आधार पर यह धन लगभग ७०० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष होना चाहिए। दूसरा श्री कोलिन क्लार्क नामक विद्वान् का मत है कि यह धन १००० करोड़ रुपये होना चाहिए। इस बारे में और भी अनेक मतभेद हैं किन्तु सर्व मान्य मतानुसार यह धन हम ५०० करोड़ रुपये प्रति वर्ष मान सकते हैं।

वैसे तो प्रति व्यक्ति वार्षिक राष्ट्रीय आय के बारे में कोई सरकारी व पूर्णतया मान्य आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं किन्तु बम्बई योजना के अनुसार यह आय ६५) था जो आज के स्तर पर लगभग १८०) होती है। दूसरी ओर सन् १९४६ में 'ईस्टर्न इकॉनॉमिस्ट' (Eastern Economist) के अनुसार शहरों में काम करने वालों की वार्षिक आय २८५) तथा गाँवों में काम करने वालों की वार्षिक आय १८८) था। यदि हम १८०) वार्षिक आय के अनुसार भी चलें तो हमारी कुल राष्ट्रीय आय लगभग ५५०० करोड़ रुपये होती है, यदि हमारी वर्तमान जनसंख्या ३६ करोड़ हो। उक्त आय में से प्रत्येक व्यक्ति यदि लगभग १०% आय बचाने लगे तब कहीं ५०० करोड़ रुपये की आवश्यकता पूरी कर सकते हैं। किन्तु इतनी कम वार्षिक आय में से इतनी अधिक बचत की आशा रखना सर्वथा निरर्थक है। इस ओर अधिक से अधिक २% की यानी १०० करोड़ रुपये की ही आशा की जा सकती है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हमारी वर्तमान आवश्यकता के अनुसार वार्षिक आय में से हो सकने वाला पूँजी-निर्माण निश्चित रूप से अपर्याप्त है।

अपर्याप्त पूँजी-निर्माण के कारण:—अपर्याप्त पूँजी-निर्माण का कारण कम आय भी है, किन्तु संतोषजनक आय होने पर कुछ धन संचय भी हो

जाता है जैसा कि भारतवर्ष में हुआ है। इतना होते हुए भी सन्चित धन पूँजी के रूप में नहीं आ सकता है और पूँजी निर्माण इस प्रकार असम्भव हो जाता है। इस देश में पूँजी निर्माण न हो सकने के मुख्य कारण इस प्रकार हैं :—

(१) भारत में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय इतनी कम है कि धन सचय की योग्यता लगभग नहीं के बराबर है।

(२) युद्धकाल में कमाने हुए धन का औद्योगिक दृष्टि से पूँजी-निर्माण नहीं हो सका क्योंकि कमाने वालों ने उस धन से सोने-चाँदी के जेवर बनवाये और करोड़ों रुपये मकानों आदि अचल सम्पत्ति पर व्यय कर दिए।

(३) उद्योग धन्धों के शेयरों में पूँजी लगाना धीरे-धीरे बन्द होने लगा क्योंकि औद्योगिक संस्थाओं के वार्षिक लाभ पर अनेक प्रकार के कर लगा दिए गए। सर पदमपति सिंघानिया के इस वक्तव्य में बहुत कुछ सचाई जान पड़ती है जो इन्होंने हिन्दुस्तान कमर्शियल बैंक की पाँचवीं वार्षिक बैठक में ११ जून सन् १६४६ में दिया कि पिछले दस वर्षों में देश की राष्ट्रीय आय मुश्किल से १०० प्रतिशत बढ़ी है परन्तु सीधे करों की वृद्धि ८००% हो गई है। कुछ करों को छूट मिलने पर भी इनका बोझ वार्षिक आय कर इतना पड़ता है कि लोग औद्योगिक संस्थाओं के शेयरों को खरीदने में निराशा दिखाने लगे हैं।

(४) कुछ सरकारी नीतियाँ ऐसी रहीं है जिनने प्रभाव ऐसा पड़ा कि देश में कुछ विद्वानों के अनुसार 'पूँजी की हड़ताल' हो गई। बड़े उद्योगों के बारे में सरकार की राष्ट्रीयकरण की नीति ने इस ओर बड़ा बुरा प्रभाव डाला। वास्तव में राष्ट्रीयकरण हो जाना या नहीं होना कोई बड़ी बात नहीं है पर इस बारे में बरती गई अनिश्चितता सबसे हानिप्रद सिद्ध हुई है। यदि सरकार की सहयोगी तथा नरम नीति, जो बाद में प्रकट हुई, पहले ही स्पष्ट कर दी जाती तो पूँजी-निर्माण में बहुत कुछ सहयोग मिल जाता।

(५) युद्ध काल में अनेक व्यापारियों ने सट्टेबाजी, काले बाजार, रिश्वत खोरी तथा अन्य निंदनीय मार्गों से पैसा कमाया था। इसलिए वे अपने पैसे

को पूँजी के रूप में लगाने में सदा हिचकते रहे अन्यथा उन पर कुछ दुष्परिणाम थोप दिया जाय।

(६) बहुत दिनों तक औद्योगिक संस्थाओं में मुनाफा बाँटने की दर ६% ही रही। यह आय बहुत कम समझी गई।

(७) युद्ध काल में आय का बटवारा धीरे धीरे बदलने लगा। मध्यम वर्ग की जनता से आय हटकर कृषकों तथा श्रमिकों की जेबों में जाने लगी। यह वर्ग स्वभावतः ही अधिक खर्चीला रहा अतः पूँजी नहीं बन सका। यदि थोड़ा बहुत धन संचय भी हुआ तो उसका पूँजी के रूप में परिवर्तन नहीं हो सका।

(८) देश के विभाजन के कारण करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट हो गई तथा करोड़ों रुपये का घाटा स्टाक-एक्सचेंजों पर आ गया।

इस प्रकार ऐसे अनेक कारणों से देश में पूँजी निर्माण नहीं हो सका। इस बारे में मुख्यतः हमको इन बातों का ध्यान रखना चाहिए। प्रथम तो यह कि देश की प्रति व्यक्ति आय सदा से इतनी कम रही है कि साधारण व्यक्ति पूँजी बढ़ाने में अपनी शक्ति का कोई ठोस परिचय नहीं दे सकता। दूसरी यह कि यदि किसी व्यक्ति या वर्ग-विशेष की आय में वृद्धि हो भी गई तो कई सरकारी और सरकारी नीतियों की अनिश्चितता के कारण वे अपनी संचित आय को पूँजी के रूप में लगाने के बजाय जमा करना ही उचित समझने लगे। तीसरी यह कि इन वर्षों में कुछ कृषकों और श्रमिकों की आय में काफी वृद्धि भी हुई और उसको पूँजी के रूप में उपयोग करने की उनकी इच्छा होते हुए भी वे ऐसा नहीं कर सके क्योंकि उनमें आवश्यक विश्वास भरने वाला प्रचार नहीं हो सका।

भविष्य के लिए सुझाव —कुछ ठोस सुझाव रखने के पहले हमें दो विशेष बातों की ओर ध्यान रखना चाहिए जो वास्तव में हमारे सुझावों के उद्देश्य हैं। इन्हीं दो बातों को दृष्टिगत रख हमें सुझाव देने चाहिएँ। यह मुख्य दो बातें इस प्रकार हैं :—

(अ) देश में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय कैसे बढ़ाई जाय? दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय-आय में कैसे वृद्धि की जाय।

(ब) बढ़ती आय को संचय करने की शिक्षा दी जाय तथा उसको पूँजी

रूप में लगाने के अनेक तथा भिन्न भिन्न प्रकार के साधन उपलब्ध किये जाएँ।

उक्त दो बातों को ध्यान में रखते हुए पूँजी निर्माण के लिए निम्नांकित सुझाव दिए जा रहे हैं —

(१) देश में ८०% जन संख्या कृषि पर जीवन यापन करती है इसलिए सर्व प्रथम हमारा ध्यान कृषकों की ओर ही आकर्षित होना चाहिए। उन्हें केवल फिजूल-खर्च से ही नहीं बचाना है बल्कि उनकी अन्य आदतों में भी सुधार करने की आवश्यकता है। केवल धन को सञ्चय करके रखने की उनकी आदत पर शिक्षा के शस्त्र से आक्रमण करना चाहिए। यह तो सत्य है कि स्वभाव सरलता से जाता नहीं है किन्तु यदि उचित प्रयत्न किए जाएँ तो इस ओर सफलता मिल सकती है। कई बार देखा गया है कि कृषकों के गाड़े हुए नोटों में दीमक लग गई थी। क्या यह राष्ट्रीय सम्पत्ति का व्यर्थ नाश नहीं है? यद्यपि बहुत ही निकट भविष्य में अधिक सफलता न मिल सके किन्तु फिर भी यदि सरकार चाहे तो इस ओर बहुत कुछ कर सकती है।

(२) श्रमिक वर्ग की सम्पत्ति यद्यपि सीमित है किन्तु उन्हें कम मूल्यों के शेयर आदि खरीदने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है।

(३) मध्यम श्रेणी की आर्थिक स्थिति इन दिनों बड़ी चिन्तनीय है, किन्तु पूँजी लगाने वालों की अधिक संख्या भी इसी वर्ग में है। इसलिए व्यापार आदि के स्थानीय तथा प्रांतीय बंधन हटाकर मध्यम वर्ग की आर्थिक स्थिति को ठीक करने का अटूट प्रयत्न करना चाहिए। इस मध्यम श्रेणी के लोगों की वार्षिक आय वृद्धि के लिए यदि सरकार को कोई कर भी हटाने पड़ें तो ऐसा भी कर देना चाहिए क्योंकि यही वर्ग हमारे समाज का संतुलन बनाए रखता है।

(४) बड़े बड़े उद्योगों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। विशेष सुविधाएं देकर उत्पादन वृद्धि करानी चाहिए तथा कुछ करों की छूट भी आवश्यक है, यदि पूँजी लगाने वालों में बड़े उद्योगों के प्रति विश्वास जगाना है।

(५) गाँवों में सहकारी बैंकों की स्थापना की जाय तथा नई शाखाएँ खोली जाएं। इस प्रकार के बैंकों से देहाती भारत की सम्पत्ति का पूरा उपयोग उठाया जा सकता है यद्यपि पिछले वर्षों में सहकारी बैंकों को बढ़ावा दिया

गया था पर फिर प्रगति कम होने लगी। इसलिए सरकार को ऐसे बैंकों की प्रगति के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए।

(६) बीमा कम्पनियों को भी अपने प्रतिनिधियों को देहातों में भेजना चाहिए ताकि वहाँ की जनता को नये नियमों से आकर्षित कर बचत करने का ढंग बताया जा सके और इस प्रकार उसका सदुपयोग भी सम्भव हो सके।

(७) सरकार को अपनी नीति के बारे में बिल्कुल स्पष्ट रहना चाहिए। बड़े उद्योगों के संरक्षण के प्रश्न पर, उनके राष्ट्रीयकरण की समस्याओं पर तथा अन्य कर आदि मसलों पर हमारी सरकार के मंत्रियों को अपनी नीति में उलझनें नहीं डालनी चाहिएँ। केवल प्रभावशाली भाषण ही प्रगति के चिन्ह नहीं हो सकते हैं। भाषण आवश्यक हैं पर ऐसे कि जिनसे आर्थिक समस्याएँ जटिल होने के बजाय कुछ सुलझती हों। सरकार को एक ऐसे विभाग को भी जन्म देना चाहिए जो देश में पूँजी-निर्माण के बारे में कुछ प्रचार करे तथा "बचत करो आन्दोलन" को बड़ी तेजी से कार्यान्वित कर दे।

सम्भव है सारे साधनों का विदोहन और सुझावों को कार्यान्वित करने के पश्चात् भी हम अपनी आवश्यकतानुसार पूँजी इस देश में प्राप्त न कर सकें। निश्चित रूप से पूँजी के लिए कुछ वर्षों तक हमें विदेशों की सहायता लेनी पड़ेगी और लेनी भी चाहिए लेकिन सम्मान पूर्वक। इन सब का अर्थ यह नहीं कि हम अपने देश में पूँजी निर्माण के कार्य को गतिहीन कर दें क्योंकि इसी के बल पर हम अपने देश को प्रगतिशील बना सकते हैं।

४३—औद्योगिक वित्त कॉरपोरेशन

[Industrial Finance Corporation]

महत्त्व—वैसे तो वैदेशिक पूँजी के लिए हमारी नित्य प्रति की प्रतीक्षा, तथा उस सम्मान पूर्वक प्राप्त कर, उसका अधिकाधिक उपयोग उठाने के लिए आये दिन के प्रयास, प्रस्ताव व प्रेरणाएँ ही यह स्पष्ट करने को पर्याप्त हैं कि देश में पूँजी का अभाव है, किन्तु गत वर्षों का अनुभव यह बताता है कि बड़े बड़े उद्योगों के लिए, एक नहीं अनेक उदाहरणों में, पूँजी प्राप्त करने हेतु उक्त 'पूँजी का अभाव' केवल अभाव ही नहीं पर लगभग अकाल सिद्ध हुआ है। दीर्घ कालीन व अल्प कालीन तथा स्थायी व कार्यशील सभी प्रकार की पूँजी के लिए बड़े उद्योगों को बाधाएँ होती रहीं हैं व समय समय पर निराशा व असफलता भी उन्हें देखनी पड़ी है। इसका मुख्य कारण चाहे पूँजी वालों का सरकारी ऋण पत्र के प्रति या जन उपयोगी संस्थाओं के शेयरों के लिए सुरक्षा व आय की दृष्टि से अधिक चाव रहा हो, किन्तु बड़े उद्योगों के विकास में सदैव इस प्रकार की नीतियाँ बाधक रही हैं। हमारे यहाँ के बैंकों तथा अन्य वित्त संस्थाओं की शक्ति, साधन व साहस भी बड़े उद्योगों में पूँजी लगाने में निर्बल रहे हैं। अतः ऐसी स्थिति में औद्योगिक वित्त कारपोरेशन की स्थापना का सभी वर्ग व विभाग ने स्वागत किया है। इसलिए निस्सङ्कोच यह निर्णय दे देना कि ऐसे कारपोरेशन की स्थापना सामयिक आवश्यकता ही नहीं वरन् ऐतिहासिक महत्त्व भी रखती है कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

कॉरपोरेशन की स्थापना—कई वर्षों पूर्व औद्योगिक कमीशन ने सन् १६१८ में विकास की सम्भावनाओं को दृष्टिगत रख, देश में औद्योगिक बैंकों की स्थापना पर बड़ा बल दिया था। इसी प्रकार वैदेशिक पूँजी कमेटी (External Capital Committee) ने सन् १६२४ में देश की औद्योगिक वित्त समस्याओं को हल करने के लिए विशिष्ट संस्थाओं (Specialist Institutions) की स्थापना की वकालत की थी, किन्तु कई राजनैतिक व आर्थिक कारणों से उक्त प्रस्तावों को उस समय कार्यान्वित नहीं किया जा सका। पर भूतपूर्व प्रस्तावों से प्रेरित होकर व वर्तमान परिस्थितियों से विवश

हो माननीय आर० के० षण्मुखम चेट्टी ने भारतीय-संसद में औद्योगिक वित्त कारपोरेशन की स्थापना के लिए एक बिल प्रस्तुत किया। २७ मार्च सन् १९४८ को गवर्नर-जनरल की ओर से इस बिल पर स्वीकृति मिली तथा १ जौलाई सन् १९४८ से कारपोरेशन का कार्य प्रारंभ हुआ।

पूँजी का ढाँचा :—कारपोरेशन की अधिकृत-पूँजी १० करोड़ रुपया है। इस पूँजी को २० हजार शेयरों में विभक्त किया गया है तथा प्रत्येक शेयर का मूल्य ५ हजार रुपया है। इन शेयरों को खरीदने का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार, रिज़र्व बैंक, प्रमाणित बैंकों (Scheduled Banks), बीमा-कम्पनियों, पूँजी लगाने वाले ट्रस्टों तथा इसी प्रकार की वित्त संस्थाओं को है। उक्त शेयरों पर केन्द्रीय सरकार की गारंटी भी है। यह तो स्पष्ट ही है कि कारपोरेशन के शेयर खरीदने व पूँजी में योग देने का अधिकार किसी भी व्यक्ति विशेष को नहीं है पर केवल उक्त संस्थाओं को है जो वित्त की समस्याओं से सम्बन्धित हैं।

उद्देश्य तथा अधिकार :—कारपोरेशन का मुख्य उद्देश्य देश में औद्योगिक विकास को सहायता पहुँचाना है। किन्तु विकास का अर्थ केवल नई उद्योगशालाएँ खोलने से ही नहीं है। आज हमारे यहाँ एक ओर जहाँ नई उद्योगशालाओं की आवश्यकता है तो दूसरी ओर चालू उद्योगों के युक्तिसंगत वैज्ञानिकरण (Rationalisation) की बात भी अपना पूरा महत्व रखती है। औद्योगिक संस्थाओं की प्राप्त पूँजी (Paid up Capital) का लगभग सारा भाग मशीन, भूमि व अन्य औज़ारों के खरीदने में ही चला जाता है व समय पर कार्यशील-पूँजी (Working Capital) की बड़ी भारी कमी पड़ जाती है, जिसका परिणाम उद्योग की सफलता के लिए घातक भी सिद्ध हो सकता है। इसलिए कारपोरेशन का उद्देश्य है कि चालू व नवीन सार्वजनिक कम्पनियों को मध्य कालीन व दीर्घ कालीन साख उपलब्ध करे। किन्तु वे उद्योग जो बुनियादी उद्योगों की श्रेणी में हैं या वे उद्योग जिनका कि राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है, उक्त साख-सहायता के भागीदार नहीं बन सकते।

कारपोरेशन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इसे निम्नांकित अधिकार प्राप्त हैं —

(१) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा प्राप्त ऐसे कर्ज पर गारंटी देना—

(अ) कि जो २५ वर्ष से पूर्व ही लौटा दिया जायगा।

(ब) कि जो सार्वजनिक बाजार में प्राप्त किया गया है।

(२) औद्योगिक संस्थाओं के शेयर व ऋण पत्र बेचने का जिम्मा लेना।

(३) उक्त (१) व (२) में वर्णित दी गई सुविधाओं के लिए कमीशन पाना।

(४) ऐसे शेयर, ऋण पत्र व बॉण्ड आदि का सम्पत्ति के तौर पर रखना जो कि बेचने का जिम्मा लेने (Underwriting) हेतु प्राप्त किये गये हों। किन्तु ऐसे शेयर, ऋण-पत्र व बॉण्ड आदि शीघ्रातिशीघ्र बेचने पड़ेंगे, यदि ऐसा सम्भव हो सके, परन्तु इनको रखने की मियाद अधिक से अधिक ७ वर्ष है, इस लिए प्राप्त करने के ७ वर्ष बाद तो अवश्य ही शेयर आदि को बेचना पड़ेगा।

(५) औद्योगिक संस्थाओं को कर्ज या अग्रिम धन देना या उनके ऋण पत्र खरीदना। किन्तु ऐसे कर्ज, अग्रिम-धन, ऋण पत्र अधिक से अधिक २५ वर्ष में लौटाये जाने वाले होने चाहिये।

उक्त (१) व (५) में सुविधाएँ तभी दी जा सकती हैं जब वे पर्याप्त गिरवी से सुरक्षित किये जा चुके हों।

प्रबन्ध.—साधारण देख-रेख व निर्देशन का कार्य एक संचालक-परिषद (Board of Directors) के अधीन है जो एक कार्यकारिणी कमेटी तथा प्रबन्ध संचालक की सहायता से होता है। यह आशा की गई है कि संचालक-परिषद ठोस व्यापारिक सिद्धान्तों के अनुकूल कार्य करेगी। परिषद की कार्य पूर्ति में केन्द्रीय सरकार द्वारा किसी विशेष कार्य पर किया निर्णय व दिया गया निर्णय परिषद को अंतिम रूप से मान्य होगा।

सुरक्षा के साधन —औद्योगिक संस्थाओं को दिए गए किसी ऋण को वापिस प्राप्त करने के लिए कारपोरेशन को बहुमुखी अधिकार दिए गए हैं। यदि कोई संस्था अपने इकरार को निभाने में असफल रही है, या भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली सूचना या ब्यौरा देता है, या रहन की गई सम्पत्ति या सुरक्षा से

नहीं रख सकी है, या ऐसी सम्पत्ति का मूल्य २० प्रतिशत से अधिक कम हो गया हो व संस्था क्षतिपूर्ति करने के लिए गिरवी न दे सकी हो, या गिरवी रखी हुई मशीन आदि को अपने स्थान से किसी अन्य स्थान पर पहुँचा दिया गया है या अंत में संचालक-परिषद की राय में कारपोरेशन के हितों की रक्षा करना आवश्यक हो गया हो तो परिषद दिए गए ऋण को तुरत वापिस लौटाने का नोटिस दे सकती है। यदि कोई औद्योगिक संस्था उक्त नोटिस का पालन न करे तो परिषद द्वारा अधिकृत कोई भी व्यक्ति जिला-न्यायाधीश की सहायता से उसकी सारी संपत्ति को बिकवा सकता है या अपने अधिकार में ले सकता है। यदि ऐसे मुनासिब अधिकार कारपोरेशन को न प्राप्त हों तो इसका कार्य समुचित ढंग पर चलना भी कैसे सम्भव हो सकता है ?

लाभ-वितरण :—कारपोरेशन के नियमों में यह विशेष रूप से स्पष्ट कर दिया गया है कि कारपोरेशन एक बचत-कोष कायम करेगा। संदेहास्पद ऋण, सम्पत्ति का मूल्य-ह्रास तथा अन्य इस प्रकार के व्यापारिक घाटों के लिए धन निश्चित कर चुकने पर यदि कोई लाभ बच जाय तो कारपोरेशन शेयर-अधिकारियों को मुनाफा बाँट सकता है, किन्तु इस मुनाफे की दर उस समय तक, सरकारी गारंटी से अधिक नहीं हो सकती, जब तक कि उक्त बचत-कोष का धन कारपोरेशन की प्राप्त-पूँजी के समान न हो जाय।

कॉरपोरेशन द्वारा किए गए प्रयत्नों का ब्यौरा

कारपोरेशन का मुख्य उद्देश्य देश के औद्योगिक विकास में साख सुविधा प्रदान कर सहायता देना रहा है। इसका कार्य १ जौलाई सन् १६४८ में प्रारम्भ हुआ था, अतः अब तक के, ३० जून सन् १६५१ तक के, तीन वर्षों में कारपोरेशन ने अनेक प्रकार की औद्योगिक संस्थाओं को ऋण दिए हैं।

अपने जीवन के प्रथम वर्ष में कारपोरेशन ने कुल मिला कर लगभग ३ करोड़ ४२ लाख रुपये ऋण दिए तथा दूसरे वर्ष में लगभग ३ करोड़ ७७ लाख रुपये के ऋण दिए गए। ३० जून १६५१ को समाप्त होने वाले वर्ष में कारपोरेशन ने ४ करोड़ रुपये से भी अधिक राशि के ऋण स्वीकृत किए। ऋण अधिकतर कपड़ा उद्योग, सीमेंट, इञ्जीनियरिंग, तेल उद्योग, ऊन, रेशम उद्योगों

तथा अन्य आवश्यक मूल उद्योगों को दिए गए।

विगत वर्षों में कारपोरेशन ने करोड़ों रुपयों के ऋण औद्योगिक संस्थाओं को दिये हैं। ऐसे ऋणों को प्राप्त करने के लिए अनेक निवेदन पत्र कारपोरेशन के पास पहुँचे हैं किन्तु अधिकांश को ऋण देने में कारपोरेशन असमर्थ रहा है। कारपोरेशन की ओर से इस असमर्थता के लिए कई कारण वार्षिक रिपोर्टों में दिए गए हैं। मुख्य इस प्रकार हैं।

योजना का अभाव —कई उदाहरणों में ऐसी योजनाएँ कारपोरेशन को भेजी गई हैं जिनमें तांत्रिक पहलुओं व वित्त-समस्याओं पर पूर्ण विचार नहीं किया गया है। अनेक ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें यह भी नहीं बताया गया है कि भूमि, इमारत, मशीनरी आदि अन्य व्यक्तिगत विभागों पर अलग अलग कुल कितनी रकम खर्च होगी। ऐसे उदाहरणों का भी अभाव नहीं है, जहाँ मशीन आदि इसलिए खरीद ली गई हैं कि वे सस्ते मूल्य पर उपलब्ध हो रही हैं। उनकी उपयोगिता पर तनिक भी नहीं सोचा गया। ऐसी अधूरी कागजी योजनाओं में वास्तविक योजना के मूल तत्वों का अभाव रहना स्वाभाविक ही है। उत्पादन की समस्याओं के बारे में जो औद्योगिक संस्थाएँ केवल मन चाहे आधार पर, बिना किसी विशेषज्ञ की सम्मति के ही यदि आगे बढ़ चलें तो इसका नाम योजना नहीं कहा जा सकता। माँग और पूर्ति की समस्याओं पर तो अधिकांश संस्थाएँ पर्याप्त रूप से सोचने में असमर्थ रही हैं। अतः ऐसी दशा में कारपोरेशन के लिए अंधाधुंध ऋण दे सकना कैसे संभव हो सकता है?

अपर्याप्त साधन.—कुछ औद्योगिक संस्थाएँ ऐसी भी हैं जिनकी पूँजी आवश्यकता से बहुत कम है। ऐसी स्थिति युद्ध काल में संभवतया उनके समुचित विकास में बाधक न होती क्योंकि उस समय अनेक प्रकार के ऋणों से व उपलब्ध पूँजी से काम चलाया जा सकता था। किन्तु अब युद्धोत्तर काल में मुद्रा स्फीति भी कम हो गई है, ऋण भी सरलता से उपलब्ध नहीं हो पाते हैं, तो भला कम पूँजी वाली औद्योगिक संस्थाएँ कैसे पनप सकती हैं? ऐसी संस्थाओं को ऋण देकर उनके लिए अहित करना है। कुछ उदाहरणों में यद्यपि प्राप्त पूँजी पर्याप्त थी तो संस्था की अधिकांश सम्पत्ति गिरवी रक्खी जा चुकी थी। ऐसे

उदाहरणों का अभाव नहीं है जहाँ संस्था के सारे शेयर संस्थापकों को उनसे ली गई सम्पत्ति के बदले में दिए गए हैं, पर ऐसी सम्पत्ति बहुत ही अधिक मूल्यों पर प्राप्त की गई है। कहीं-कहीं तो संस्थाओं की ऋण के लिए की गई माँग उनकी आवश्यकताओं से भी कम है और ऐसी दशा में यदि कारपोरेशन जी तोड़ कर भी उन्हें ऋण प्रदान करे तो भी उनका उत्थान नहीं हो सकता।

इन दो विशेष कारणों की वजह से कारपोरेशन को कई औद्योगिक संस्थाओं को ऋण देने में कठिनाई हुई, किन्तु इस दशा में ऐसे उद्योगों को, जो बिना किसी सुगठित योजना के व पर्याप्त साधनों के आगे बढ़ते हैं, निराश करना उचित कहा जा सकता है। इतना होते हुए भी कारपोरेशन ने सैकड़ों ऋण देकर कई उद्योगों को सफलता की करवट बदलने का अवसर दिया है। अभी कारपोरेशन का यह बाल-जीवन ही है इसलिए सतर्कता और ठोस व्यावहारिक सिद्धान्तों का त्याग करना इसके लिए संभव नहीं अन्यथा इसका स्वयं का अस्तित्व भी अस्थायी हो सकता है जो कि औद्योगिक विकास के हित में नहीं कहा जा सकता।

कारपोरेशन के कार्य-क्रम व कार्य-प्रणाली की आलोचना

अनेक ऋणों की स्वीकृति देने पर भी, इसका अर्थ यह नहीं है कि कारपोरेशन के बारे में आलोचना के शब्द कहे नहीं जा सकते। जहाँ पिछले तीन-चार वर्षों में इसने कुछ कार्य किया है, वहाँ कई प्रयत्न असफल भी रहे हैं, अधूरे भी रहे हैं और अपर्याप्त प्रयत्न भी किए गए हैं। अतः कारपोरेशन के लिए यह आलोचनाएँ समय-समय पर होती रही हैं।

कारपोरेशन का प्रारम्भ इतना अच्छा नहीं रहा है जिससे कि हम प्रेरित होकर प्रशंसा कर दें। प्रथम वर्ष में १५६ आवेदन-पत्र ऋण के लिए आए जिनमें से केवल २१ को ऋण दिया गया व प्रथम वर्ष यानी ३० जून १६४६ तक कुल ऋण ३,४२,२५,००० रुपये का दिया गया। इंगलैंड के कारपोरेशन ने १३३ आवेदन पत्रों को ऋण दिया, जहाँ भारत में केवल २१ को स्वीकृति मिली। कनाडा ने प्रथम वर्ष में ६७ आवेदन पत्रों पर सहानुभूतिपूर्ण विचार किया व आस्ट्रेलिया के बैंक ने प्रथम वर्ष में ही १०३३ अर्जियाँ स्वीकार कीं।

इसलिए आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन व कनाडा में प्रथम वर्ष में स्वीकृत आवेदन पत्रों से सिद्ध हो रहा है कि भारत दौड़ में बहुत पीछे है।

(२) कारपोरेशन द्वारा दिए गए ऋणों पर ब्याज की दरें सभी संस्थाओं के लिए समान रही हैं, जो असंगत जान पड़ता है क्योंकि सभी औद्योगिक संस्थाओं की आर्थिक स्थिति व सफलता समान नहीं हो सकती और न है। इसलिए प्रत्येक संस्था के स्थापन और भविष्य को दृष्टिगत रखकर ही ब्याज की दर निश्चित करनी चाहिए। समानता के सिद्धान्त को ब्याज की दरों में अपना कर ठोस व्यावहारिक सिद्धान्तों की अवहेलना की गई है।

(३) ऋण के आवेदन-पत्रों पर विचार करते समय कारपोरेशन इस बात से अधिक प्रभावित हुआ है कि किस कम्पनी के शेयर का मूल्य बाजार में अधिक है और किसका नहीं है। किन्तु 'शेयर की कीमत' का मापदण्ड अनेक प्रभावित करने वाले कारणों में से एक हो सकता है पर मुख्यतः यही कारण नहीं है जिनसे प्रभावित होना चाहिए। किसी भी कम्पनी या औद्योगिक संस्था का पिछले वर्षों का प्रभाव, वर्तमान आय शक्ति, प्रबन्ध सुचारुता, व भविष्य की सम्भावनाएँ आदि ऐसे अनेक महत्वपूर्ण विषय हैं जिनसे प्रभावित होना भी आवश्यक है। अतः केवल शेयर के अधिक मूल्य से प्रभावित होना दोष पूर्ण है।

(४) अधिकांश ऋणों की अवधि, जो कि कारपोरेशन ने औद्योगिक संस्थाओं को दिए हैं, केवल १२ वर्ष की है। कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जहाँ १५ वर्ष की अवधि के लिए भी ऋण दिया गया है। किन्तु औद्योगिक संस्थाओं की विकास अवधि इस १५ वर्ष के समय से कहीं अधिक होगी अतः यह अवधि बहुत कम है। कारपोरेशन के नियम के अनुसार भी ऋण की अवधि २५ वर्ष तक की हो सकती है लेकिन इस नियम का अभी तक उपयोग नहीं उठाया गया है।

(५) कारपोरेशन की ओर से अभी तक कोई आर्थिक शोध विभाग नहीं खोला गया है जिसकी बड़ी आवश्यकता है। कारपोरेशन का कार्य केवल त्रैमासिक या अर्द्ध-वार्षिक जाँच पड़ताल करना रहा है किन्तु इसे अपने ग्राहकों को अपनी अमूल्य परिपक्व सम्मति भी देनी चाहिए।

(६) शेयर खरीदने का अधिकार केवल वित्त सम्बन्धी संस्थाओं व केन्द्रीय सरकार को ही प्राप्त रहा है अतः यह जन साधारण की संस्था नहीं कही जा सकती। कई लेखकों की धारणा है कि कारपोरेशन के शेयर प्रत्येक व्यक्ति व संस्था के लिए उपलब्ध होने चाहिएँ, किन्तु इसका विपरीत दृष्टिकोण भी है जो हम आगे चलकर लिखेंगे।

(७) कारपोरेशन का ऋण केवल सार्वजनिक औद्योगिक संस्थाओं को मिल सकता है, इसका अर्थ यह हुआ कि कोई भी संस्था जो सार्वजनिक नहीं है, किन्तु उद्योग व व्यापार से सम्बन्ध रखने वाली है तो भी वह कारपोरेशन द्वारा ऋण नहीं ले सकती। अतः साझेदारी के व्यापार व निजी उद्योगों वाले अपना विकास करने में कारपोरेशन के द्वारा दिये जाने वाले ऋणों से वंचित कर दिए गए हैं।

प्रत्युत्तर :—आलोचना की कई बातों में तथ्य ही नहीं मार्ग-दर्शन की रेखा भी मिलती है। किन्तु सारी बातें न सही हैं और न सार-पूर्ण ही हैं। यदि कारपोरेशन अपने शेयरों को सभी व्यक्तियों और संस्थाओं के लिए केवल अपने नाम के आगे एक जनवादी बिल्ला लगाने के लिए ही उपलब्ध कर दे तो लाभ के विपरीत हानि और अनर्थ अधिक होगा। हमें ज्ञात है कि रिजर्व बैंक के शेयर क्योंकि सभी के लिए खुले थे इसलिए वे चन्द पूँजीपतियों के हाथों में और वे भी एक दो राज्यों में एकत्रित हो गए थे। अतः जनवाद का प्रचार करने वाले प्रयत्नों से हमें पूँजीवाद का प्रसाद मिला। इसलिए कारपोरेशन के शेयर केवल वित्त सम्बन्धी संस्थाओं के लिए होना ही हितकर है।

जहाँ तक कारपोरेशन के प्रारम्भ का प्रश्न है, यह अन्य देशों के सम्मुख कुछ कम आशामय लगता है। किन्तु हमें अपने देश की स्थिति और आर्थिक साधनों का भी आलोचना करते समय ध्यान करना पड़ेगा। हमारे देश में आर्थिक साधनों व वित्त का अभाव ही नहीं है पर औद्योगिक दृष्टिकोण से समूचा देश भी उन्नत राष्ट्रों के मुकाबिले अविकसित है अतः निराश होने की कोई बात नहीं है।

कारपोरेशन की स्थापना का मुख्य उद्देश्य ही सार्वजनिक उद्योगों को विक-

सित करना है, बढावा देना है, अत साझेदारी के व्यापार व निजी उद्योगों की माँग की उक्ति भी समझ में नहीं आ सकती।

आशापूर्ण भविष्य —अमेरिका, इगलैंड कनाडा व आस्ट्रेलिया आदि सभी देशों की औद्यगिक सस्थाओ को वित्त की सहायता देने वाली विशिष्ट सस्थाएँ हैं। हमारे यहाँ भी ऐसे औद्योगिक वित्त कारपोरेशन की स्थापना देश के उज्ज्वल औद्योगिक भविष्य की परिचायक है। कारपोरेशन को सदा सतर्क रहना चाहिए और ऐसे वातावरण को जन्म देना चाहिए कि सभी उद्यमो का विश्वास उसम बना रहे। अपने संचालकों के उद्योगो को अधिक ऋण स्वीकार कर अथवा आजकल की प्रचलित प्रान्तीय भावना में फसकर कारपोरेशन उन्नति का सीढी पर नहीं चढ सकता है और जनता के अविश्वास का चिह्न बन जायगा पर विश्वास है कि देश के सुयोग्य प्रबन्धकों के सचालन मे यह कारपोरेशन देश के औद्योगिक दीप की विकास रूपी वित्त बाती को सदा प्रज्वलित रखने में समर्थ ही नहीं पर सफल भी हो सकेगा और इसी म हमारे आर्थिक उत्थान का स्वर्णिम प्रभात उगेगा।

९९—जन-वृद्धि की समस्या

आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व माल्थस नामक एक प्रसिद्ध समाज शास्त्री ने कहा था कि 'किसी भी देश की जनसंख्या वहाँ के जीवन-यापन के साधनों की अपेक्षा तेजी से बढ़ती है । जनसंख्या ज्यामिति-गति[1] से बढ़ती है और जीवन-यापन के साधन गणित-गति[2] से बढ़ते हैं । अतः बढ़ती हुई जन-संख्या पर स्वाभाविक-प्रतिबन्ध लगाकर उसे रोकना चाहिये अन्यथा दैवी-प्रकोप जैसे अग्नि, बाढ़, भूचाल आदि अपना काम आरम्भ कर देते हैं और जन-संख्या को जीवन-यापन के साधनों के संतुलन में बना देते हैं ।' माल्थस के ये शब्द आज हमारे देश की परिस्थितियों में खरे उतर रहे हैं । कहीं भूचाल आ जाते हैं, जिससे गाँव के गाँव धरातल में समा गए हैं तो कहीं प्रचण्ड अग्निकाण्ड के द्वारा जन और सम्पत्ति का अपार विनाश हो रहा है । कहीं बाढ़ के कारण गाँव के गाँव बह जाते हैं तो कहीं चारे और अन्न जल के अभाव में पशु और जन-शक्ति नष्ट होती जा रही है । इस प्रकार कहीं पानी की कमी है, कहीं अन्न का संकट है और कहीं चारे का अभाव है; कहीं अतिवृष्टि है तो कहीं अना-वृष्टि है । कहने का अर्थ यह है कि द्रुतगति से बढ़ती हुई जन संख्या को प्रस्तुत जीवन-यापन के साधनों के संतुलन में लाने के लिए दैव अपना काम करने लगा है । इसका कारण स्पष्ट है । पिछले अनेक वर्षों से हमारे देश की जन संख्या बे रोक टोक बढ़ती चली जा रही है । न कोई नियम है, न संयम है और न भविष्य में होने वाले दुष्परिणामों का भय ही है । जन संख्या इस प्रकार बढ़ती रही है ।

वर्ष	समस्त भारत की जन संख्या (दस लाखों में)
१८७२	२०६·१६
१८८१	२५३·८६

[1] ज्यामिति-गति—२, ४, ८, १६, ३२, ६४, १२८ ... .

[2] गणित-गति —१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८.. ...

वर्ष	जन संख्या (दस लाखों में)
१८६१	२८७ ७१
१९०१	२९३ ३६
१९११	३१५ १५
१९२१	३१८ ९४
१९३१	३५२ ८०
१९४१	४००·००
१९४१ (केवल भारत संघ)	३१९ ०१
१९५१ (केवल भारत संघ)	३६२·८२

इसका अर्थ यह है कि प्रति दस वर्षों में १४ प्रतिशत जन संख्या बढ़ जाती है। गत वर्षों में यह ४० लाख प्रति वर्ष से भी अधिक बढ़ रही है। १९३९-४० में प्रकाशित लीग ऑफ नेशन्स के अब्द-कोष के अनुसार समस्त संसार की जन संख्या २,१४५२,००,००० थी अर्थात् समस्त संसार के लगभग पष्ठांश मनुष्य हमारे देश में हैं। भारतवर्ष का क्षेत्रफल संयुक्त राष्ट्र के क्षेत्रफल का आधा है किन्तु यहाँ की जन संख्या वहाँ से लगभग तिगुनी है। चीन को छोड़कर भारत की जनसंख्या संसार के सब देशों से अधिक है परन्तु चीन का क्षेत्रफल भी भारत के क्षेत्रफल से तीन गुना है। जन संख्या की वृद्धि का एक साधारण सा कारण यह है कि यहाँ पिछले कुछ वर्षों से शिशु-मृत्यु-संख्या और साधारण मृत्यु-संख्या दोनों में कमी आ गई है। १९२१ में शिशु मृत्यु संख्या १९५ प्रति मील तथा साधारण-मृत्यु संख्या ३१ प्रति मील थी जो १९४१ में घटकर क्रमशः १५८ और २२ हो गई। पिछले दस वर्षों में तो स्वास्थ्य कल्याण सम्बन्धी अनेक योजनाओं के कारण मृत्यु-संख्या में और भी अधिक कमी होने का अनुमान है। सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा का विकास होने के कारण मृत्यु-संख्या और भी कम होती जा रही है। फिर, कुछ वर्षों से बाल-विवाह निरोधक कानून और जनता के दृष्टिकोण में परिवर्तन के फल स्वरूप जन्मसंख्या में भी कुछ कमी हुई है। परन्तु जन्म संख्या फिर भी ऊँची है और मृत्यु संख्या जितनी कम नहीं हुई है। संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा प्रकाशित एक पुस्तक से तत्सम्बन्धी कुछ आँकड़ों का ज्ञान होता है।

देश	जन्म संख्या (प्रति हजार)	मृत्यु संख्या (प्रति हजार)
मिश्र	४२.५	२१.३
कनाडा	२६.८	६.२
अमेरिका	२२.४	६.६
भारत	२६.८	१६.०
जापान	३३.२	११.६
फ्रान्स	२१.०	१३.८
इटली	१६.२	६.७
इङ्गलैंड	१६.१	११.७
आस्ट्रेलिया	२२.०	६.५

इन आँकड़ों से ज्ञात होता है कि मृत्यु-संख्या में कमी हो जाने पर भी यह अभी मिश्र को छोड़ सबसे अधिक है। इसमे स्पष्ट अर्थ यह निकलता है कि जन-वृद्धि की समस्या हमारे देश में जन्म वृद्धि की समस्या है और इस समस्या का हल जन्म-वृद्धि को रोकने में है। इस विषय में क्या करना चाहिए इसका विचार आगे करेंगे। यहाँ समस्या के दूसरे पहलू पर विचार करें कि जन्म-संख्या अधिक क्यों है? विवाह यहाँ आवश्यक माना जाता है और कम उम्र में ही विवाह हो जाता है। हमारे यहाँ १८-२० साल का लड़का और १६ साल की लड़की विवाह कर लेते हैं जब कि इगलैण्ड में यह आयु क्रमशः ३०-२५ है। देश की गरीबी और मनोरंजन के कम साधनों के कारण भी यहाँ जन्म का अनुपात अधिक है। अशिक्षा के कारण भी लोग सन्तति निरोधण पर ध्यान नहीं देते। यों सन्तति-निरोधण सामाजिक दृष्टि से बुरा और हीन भी समझा जाता है।

केवल संख्या की दृष्टि से ही नहीं घनत्व की दृष्टि से भी हमारे देश में विषमता है। जनसंख्या के घनत्व से हमारा तात्पर्य किसी देश में प्रति वर्ग मील निवासियों की संख्या से है। स्पष्ट है कि जनसंख्या का घनत्व दो बातों पर निर्भर होता है (१) जनसंख्या, (२) क्षेत्रफल। देश का क्षेत्रफल लगभग

स्थिर है परन्तु, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, जनसख्या उत्तरोत्तर बढ रही है। फलस्वरूप देश में जनसख्या का घनत्व भी बढ रहा है। पाकिस्तान बन जाने के कारण तो एक विस्तृत और उपजाऊ भूप्रदेश हमारे हाथ से निकल गया परन्तु उसके समानुपात में जनसख्या कम नहीं हुई। इससे भारत सघ मे जन सख्या का घनत्व और भी अधिक हो गया है। पाकिस्तान, चीन, अमरीका और रूस म क्रमश प्रति वर्ग मील आबादी २१०, १२२, ५० और २३ है और भारत में प्रति वर्ग मील २९६ व्यक्ति रहते हैं। इससे जन संख्या के घनत्व की असाधारणता प्रतीत होती है।

जनसख्या के विराट रूप और गहन घनत्व को देख कर प्रश्न उठता है कि क्या हमारे देश में जनाधिक्य है? यह प्रश्न बड़ा जटिल और विवादास्पद है। अर्थशास्त्रियों और समाज शास्त्रियों ने इसकी कई कसौटियाँ निर्धारित की हैं। 'सर्वोत्तम जनसख्या' के सिद्धान्त के अनुसार यदि किसी देश की जन-सख्या इस 'सर्वोत्तम सीमा' से अधिक बढ जाय तो कहा जाता है कि वहाँ जनाधिक्य है। परन्तु किसी विशेष परिस्थिति में "सर्वोत्तम जन सख्या" क्या है—यह ज्ञात करना न सम्भव है और न युक्तियुक्त। तो यदि 'सर्वोत्तम जन-सख्या' का ज्ञान ही न हो सके तो कैसे कहा जाय कि भारत में जनाधिक्य है या नहीं। परन्तु फिर भी कुछ ऐसी कसौटियाँ हैं जिनसे जनाधिक्य का मान किया जा सकता है। माल्थस की कसौटी यह है कि यदि जनसंख्या की वृद्धि के क्रम में जन्मसख्या पर कोई प्रतिबन्ध न हो और बच्चों की सख्या बढती जाय तो जनसख्या लगातार बढती जाती है। केनन् का कहना यह है कि यदि जनसंख्या इस अनुपात मे बढ रही है कि उसके कारण समस्त देश में प्रति व्यक्ति आय कम होती जाती है, और देश के प्राकृतिक साधनों का महत्तम उपयोग नहीं कर पाती तो यह मानना चाहिए कि जनसंख्या उस देश मे बहुत बढ गई है। सार यह है कि सामान्यतः निम्न तीन कसौटियों से जनाधिक्य का अनुमान-मात्र लगाया जा सकता है :—

(१) यदि स्वाभाविक प्रतिबन्धों के अभाव में जनसंख्या द्रुतगति से बढती जा रही हो, (२) राष्ट्रीय आय की असाधारण वृद्धि में निकट भविष्य में

कोई तीव्र सम्भावना न हो, (३) नैसर्गिक-प्रतिबन्धों (दैवी-प्रकोपों) ने अपना काम आरम्भ कर दिया हो अर्थात् देश में जगह-जगह पर अग्नि, भूचाल, बाढ़, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दैवी प्रकोप होने लगे हों जिनसे जान माल की हानि होती हो। इन तीनों ही कसौटियों पर देखने से भारत में जनसंख्या का आधिक्य का अनुमान होता है। जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है। मृत्यु संख्या अधिक है पर जन्मसंख्या उससे भी अधिक है। पुराने समय में जनसंख्या पर जो मर्यादाएँ थीं वे भी अब नहीं रही हैं। पुरुष के लिए स्त्री की मृत्यु के पश्चात् ही नहीं वरन् उसके जीवित रहते हुए भी और विवाह कर लेने की प्रथा पहिले से ही थी। अब तो सुधार के आवेश में स्त्रियों में भी पुनर्विवाह होने लगे हैं। संतानोत्पत्ति एक धार्मिक कर्तव्य माना जाता है। संतति-निग्रह के उपायों का ज्ञान और प्रचार नहीं है। सारांश यह है कि स्वाभाविक प्रतिबन्धों के अभाव में जन्म संख्या बढ़ती जा रही है। दूसरे, यहाँ के निवासियों को विदेशों में जाकर बसने की सुविधाएँ नहीं हैं वरन् अपने लोग विदेशी सरकारों की नीति के कारण विदेशों से अपना रहन सहन छोड़ कर उल्टे भारत में आने लगे हैं। फल स्वरूप जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है।

राष्ट्रीय आय को देखने पर भी कुछ ऐसे ही चिन्ह मिलते हैं। लगभग तीन-चौथाई जन संख्या जीविकोपार्जन के लिए कृषि पर निर्भर है। जहाँ भूमि परिमित हो, गहरी कृषि का प्रचार न हो, कृषि-सुधार के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हों, कृषि की गति मन्द हो, उद्योग वाणिज्य और व्यवसाय सुस्त और अविकसित हों, पूँजी का नितान्त अभाव हो, विदेशी प्रतियोगिता का निरन्तर भय लगा हो, कुशल विशेषज्ञों की भारी कमी हो वहाँ राष्ट्रीय आय के जनसंख्या के अनुपात में बढ़ने का आशा एक दुराशा ही है। जहाँ तक दैवी प्रकोपों का सम्बन्ध है यह पहिले ही कहा जा चुका है कि रोग, महामारी, दुर्भिक्ष, बाढ़, अग्नि, भूचाल अपना बार बार प्रलयकारी प्रभाव दिखा चुके हैं और दिखा रहे हैं।

इन बातों से अनुमान होता है कि देश में जनसंख्या का आधिक्य है। परन्तु फिर भी इस पर मत भेद है। कुछ लोग देश में जनाधिक्य के पक्ष में हैं

तो कुछ का कहना है कि देश के प्राकृतिक और आर्थिक साधनों में वर्तमान जनसख्या से भी अधिक सख्या को पालन करने की शक्ति है परन्तु कमी केवल यह है कि इन सुप्त साधनों का महत्तम उपयोग नहीं किया जा रहा है। पंडित जवाहरलाल नेहरू दूसरे पक्ष के समर्थक हैं। उनका कहना है कि देश के प्रचुर साधनों को दृष्टि में रखते हुए वर्तमान जनसख्या भी कम है। अतः साधनों का विदोहन करने के लिए और जन सख्या की आवश्यकता है। कुछ लोगों का विचार है कि संसार में मनुष्य एक मुँह और दो हाथ लेकर जन्म लेता है। यदि खाने के लिए एक मुँह बढ़ता है तो काम करने के लिए दो हाथ बढते हैं। फिर जीवन-यापन के साधनों की कमी कैसे ? जनाधिक्य क्योंकर ? उनका यह कथन सिद्धान्ततः ठीक है। परन्तु उसमें एक भूल है। क्या वह व्यक्ति अपने दो हाथों से अपने जीवन-यापन की पूर्ण और आवश्यक सामग्री उत्पन्न करता रहता है ? उत्तर मिलता है नहीं। इसका कारण यह है कि साधन सीमित होते हैं—उसकी शक्ति और कार्यक्षमता की कोई सीमा होती है तथा वह केवल हाथों से ही सामग्री नहीं उपजा सकता या बना सकता। उसे कुछ सहायक-साधनों की आवश्यकता होती है। ये साधन उसे पर्याप्त मात्रा या सख्या में उपलब्ध नहीं होते और वह फिर जनाधिक्य का कारण बन जाता है। हम पंडित नेहरू की इस बात से सहमत हैं कि देश के साधन प्रचुर हैं परन्तु सुप्त पड़े हैं। उनके विदोहन के लिए शक्ति की आवश्यकता है। परन्तु केवल जन शक्ति की ही नहीं, जन-शक्ति की सहायक शक्तियां की भी। यदि ऐसा किया जा सके तो निश्चय ही भारत-भूमि पर इससे भी अधिक जनसख्या का पालन हो सकता है। परन्तु प्रश्न तो यही है कि जन-सहायक-शक्तियाँ कैसे प्राप्त हों ? प्रयत्न किए जा रहे हैं—कृषि भूमि की सीमाएँ बढाई जा रही हैं, कृषि पर यन्त्रों की सहायता ली जा रही है, सहायक-उद्योग स्थापित किए जा रहे हैं तथा वैज्ञानिक करके उत्पादन के सभी साधनों को बढावा दिया जा रहा है। यदि हमारी ये सब योजनाएँ सफल हुईं तो जनाधिक्य का भय टल जायगा।

परन्तु इससे भी समस्या पूर्ण रूपेण हल नहीं होती। आखिर उत्पादन कब तक बढाया जा सकता है ? सुप्त साधनों का कितना विदोहन किया जा

सकता है ? इन सब की कुछ न कुछ मर्यादाएँ हैं। जन्म संख्या को रोकने की बात को टाल कर उत्पादन बढ़ाने की ही बात करना जनवृद्धि की समस्या को हल करने का अधूरा उपाय ही रहेगा। अतः यह भी आवश्यक है कि द्रुत-गति से बढ़ी चली जा रही जन्म संख्या पर लगाम चढ़ा दी जाय। जब सरकार मृत्यु संख्या को रोकने के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य की अनेकों योजनाओं को लेकर खड़ी है तो जन्म संख्या को भी रोकने के लिए कुछ करना वांछनीय और आवश्यक है अन्यथा समस्या सुलझने के बदले और उलझ सकती है। जन्म संख्या को रोकने के लिए दो उपाय हैं—(१) सरकार द्वारा, (२) जनता द्वारा। सरकार सन्तति निग्रह की शिक्षा को प्रोत्साहन दे, जहाँ लोगों को उसका ज्ञान मिल सके—चल-चित्र दिखाए जाएँ, भाषण कराए जाएँ तथा निग्रह-केन्द्र खोले जाएँ। सरकार यह सब कुछ कर रही है। विदेशी विशेषज्ञ मि० स्टोन की सलाह पर देश के कई स्थानों पर सन्तति-निग्रह केन्द्र खोल कर प्रयोग किए जा रहे हैं। आशा है कुछ परिणाम निकलेगा। सरकार शिक्षा को भी प्रगति दे क्योंकि इसके बिना स्वयं जनता निग्रह का महत्व नहीं समझ सकती। इसके अतिरिक्त मनोरंजन के साधन भी जुटाए जाएँ। कुछ लोगों का सुझाव है कि 'कॉन्ट्रासेप्टिव्स' का प्रयोग देश में बढ़ाया जाय। परन्तु इस प्रकार अस्वाभाविक और नैसर्गिक उपायों से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होने की सम्भावना है। महात्मा गांधी स्वयं इसके पक्ष में न थे। उनका कहना था कि इस प्रकार जनता में व्यभिचार फैलने की शंका बनी रहेगी और दूसरे भावी संतान भी निर्बल बन जायगी। इसके लिए सबसे अच्छा उपाय तो यह है कि लोग स्वयं समझें, समस्या की गम्भीरता को पहिचानें और सन्तानोत्पत्ति पर स्वयं प्रतिबन्ध रक्खें। यह समस्या ऐसी है जिस पर कानून द्वारा ही काबू नहीं पाया जा सकता। इसके लिए स्त्री-पुरुषों का पारस्परिक सहयोग ही अनिवार्य है। सरकार तत्सम्बन्धी सुविधाएँ दे जैसे शिक्षा का प्रसार, मनोरंजन के अन्य साधन, सन्तति-निग्रह की महत्ता की शिक्षा आदि, आदि। समस्या का हल तो केवल Moral Restraint 'जनता के स्वाभाविक नियंत्रण' में है। तभी जन्म संख्या कम हो सकती है और तभी रहन-सहन का स्तर उठ सकता है।

४५—आर्थिक आयोजन

हमारे सिद्धान्त एव आदर्श क्या हो ?

आर्थिक आयोजन कोई बहुत पुराना विषय नहीं है। प्रथम महायुद्ध स पहिले तो आर्थिक आयोजन कुछ सैद्धान्तिक अर्थशास्त्रियो का विचार मात्र ही माना जाता था। पर १६३० के पश्चात् यह एक महत्वपूर्ण विषय बनने लगा। सोवियट रूस ने अपनी पचवर्षीय योजनाओं द्वारा जो आर्थिक प्रगति की उससे ससार के अनेक देशों को भारी विस्मय हुआ और वे आर्थिक आयोजनों के पुरोगमों में जुटने लगे। द्वितीय युद्ध के कारण अनेक राष्ट्रो के आर्थिक कलेवर का जो विध्वस हुआ उसका पुनर्निर्माण करने के लिए आर्थिक आयोजन एक अनिवार्य आवश्यकता समझी जाने लगी। युद्धोत्तर काल में ससार के अनेक राष्ट्रो ने आर्थिक आयोजन किए। आज कुछ युद्ध ध्वसित देश आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए प्रयत्नशील हैं और कुछ अवनत देश आर्थिक सगठन में व्यस्त हैं। हमारे देश की आर्थिक समस्या बहुमुखी है जहाँ युद्ध विकृत आर्थिक कलेवर को भी सगठित करना है और देश के सुप्त आर्थिक साधनों का विदोहन करके कृषि और उद्योग को उन्नत बनाकर सतुलन उत्पन्न करना है।

आधुनिक युग में प्राय ऐसा देखा गया है कि सरकार चाहे एक तत्रीय हो अथवा जन तत्रीय, कोई भी देशव्यापी नीति पुरोगम और आयोजन तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि उन्हें जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त न हो। आर्थिक आयोजन म अनेक नीतियों और कार्य शैलियों का समावेश होता है और ये सभी नीतियाँ और कार्य शैलियाँ भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं, परन्तु इन्हे कार्यान्वित करने के लिए यह आवश्यक है कि इन्हें जनता के विश्वास का पात्र बनाया जाय। इस आदर्श का महत्व १६२७ में होने वाले 'विश्व आर्थिक सम्मेलन' के उस प्रस्ताव से ज्ञात होता है जिसमें यह सुझाया गया था कि "ससार के आर्थिक निर्माण के लिए सम्मेलन को भिन्न भिन्न देशों की सरकारों और शासन सूत्रों पर ही आश्रित नहीं रहना चाहिए वरन् जनमत का आधार

बनाना चाहिए क्योंकि इसी पर योजना की सफलता निर्भर होती है"। हमारे यहाँ योजना कमीशन ने भी इस बात को भली-भाँति समझा है और अपनी पंचवर्षीय योजना की रूप रेखा प्रकाशित करते समय स्पष्ट कर दिया है कि 'योजना की सफलता जन विश्वास एवं जन सहयोग पर निर्भर है'।

आर्थिक आयोजन आर्थिक संगठन की वह व्यावहारिक क्रिया है जिसके द्वारा कृषि, व्यापार और उद्योग के सभी भिन्न-भिन्न सूत्रों को मिलाकर एक व्यवस्थित और संगठित इकाई बना दिया जाय, जिससे एक निश्चित अवधि के अन्दर प्रस्तुत आर्थिक साधनों का विदोहन करके देशवासियों की आवश्यकताओं के महत्तम सन्तोष की सुविधाएँ प्राप्त की जा सकें। इस क्रिया के सफल सञ्चालन के लिए एक ऐसे संचालक की आवश्यकता होती है जो भिन्न-भिन्न सूत्रों की कार्यशैली निर्धारित करे और उत्पादन एवं उपभोग में सन्तुलन उत्पन्न करे। स्पष्ट होता है कि आर्थिक आयोजन के तीन प्रमुख उद्देश्य होने चाहियें। प्रथम, प्रस्तुत सभी आर्थिक साधनों का महत्तम विदोहन; द्वितीय, उत्पादन एवं उपभोग में आवश्यक तथा अनुकूल समायोजन; और, तीसरा, देशवासियों की आवश्यकताओं की महत्तम पूर्ति। ये तीनों उद्देश्य तभी प्राप्त किए जा सकते हैं जब देश भर की सारी आर्थिक क्रिया एक केन्द्रित सञ्चालन शक्ति के आधीन हो। आर्थिक आयोजन के द्वारा उत्पादन की कुशलता, आर्थिक जीवन की स्थिरता तथा वितरण की समानता लानी होती है। जहाँ तक उत्पादन की कुशलता का प्रश्न है, आयोजकों को चाहिए कि वे ऐसा आर्थिक कार्यक्रम बनाए जिससे उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ जन संख्या को भी भरपूर कार्य मिलता रहे तथा उत्पादन का स्तर भी ऊँचा हो। कुछ लोगों का ख्याल है कि विशाल यंत्रों द्वारा ही उत्पादन बढ़ाया जा सकेगा; परन्तु यह बात नितान्त सत्य नहीं। भारत जैसे देश में, जहाँ जनसंख्या का आधिक्य है, उत्पादन की कुशलता जन-शक्ति के द्वारा ही बढ़ानी होगी, यंत्रों के द्वारा नहीं, अन्यथा बेकारी का भय बना रहेगा। इसी प्रकार वितरण की समानता के विषय में आयोजकों को भली भाँति जान लेना चाहिये। वितरण की समानता का यह अर्थ नहीं कि सभी को समान मिलता रहे या सभी समान रूप से धनी

या कंगाल रहे। यह बात संभव भी नहीं हो सकती। जबतक मनुष्य मनुष्य की योग्यता, कार्यशैली, श्रमशक्ति, मानसिक गुण व शारीरिक गठन भिन्न भिन्न हैं तब तक उनकी कार्य करने की शक्ति भी भिन्न भिन्न होगी और उनके उत्पादन का स्तर भी अलग अलग होगा, वितरण में भी असमानता होगी। अत वितरण की पूर्ण और स्थायी समानता की कल्पना करना असंभव नहीं तो असंगत अवश्य जान पड़ता है। वितरण की समानता से केवल यही समझना चाहिए कि ऐसा आर्थिक कलेवर बने जिसमें सभी को सब कार्य करने के लिए समान अवसर प्राप्त हों, मानव मानव का शोषण न करे, मानव प्राकृतिक साधनों का शोषण करे। आर्थिक जीवन की स्थिरता के विषय में भी एक विशेष बात है। स्थिरता ऐसी न हो जिससे जीवन की गति रुक जाय और आर्थिक क्षेत्र में ऐसे भारी भारी परिवर्तन हों जिससे आर्थिक कलेवर को किसी भी प्रकार की हानि हो।

किसी भी आर्थिक योजना का रूप निर्धारित करने से पूर्व आर्थिक साधनों का देश की राजनैतिक और सामाजिक स्थिति का सिंहावलोकन करना अत्यन्त आवश्यक है। योजना ऐसी हो जिससे क्रांति का आभास न मिले वरन् शनै शनै युग परिवर्तन हो। न तो प्रस्तुत आर्थिक कलेवर को छिन्न भिन्न करने की ही आवश्यकता पड़े और न क्रांतिकारी वातावरण ही उत्पन्न करने की चेष्टा की जाय। यथा संभव निम्न बातों का समावेश करने का प्रयत्न होना ही चाहिए—

(१) योजना का आधार वैयक्तिक उपक्रम (निजी उद्योग) ही हो परंतु आवश्यकतानुसार इसे लोक उपक्रम द्वारा स्थानापन्न कर दिया जाय। जिस क्षेत्र में लोक नियंत्रण की आवश्यकता जान पड़े वहाँ वैयक्तिक उपक्रम को स्थान न दिया जाय। परंतु वैयक्तिक उपक्रम भी सर्वथा स्वतंत्र न रहे। सभी वैयक्तिक उपक्रमों पर सरकार का न्यूनाधिक नियंत्रण रहना ही चाहिए।

(२) योजना को जनता पर बलात् न लादा जाय। जनता को योजना के सिद्धांतों में एवं उसके भविष्य में पूरा-पूरा विश्वास हो। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि आर्थिक योजना सरकार और जनता सभी को मान्य हो और उसका व्यवहार लोकतंत्र के सिद्धांतों पर आधारित हो।

(३) योजना का स्वरूप शनैः-शनैः विकसित होता रहे, जिसमें आर्थिक क्षेत्र में प्रस्तुत आर्थिक क्रियाएँ व आर्थिक संस्थाएँ एक दूसरे के समीप आती जाएँ और उनका विकास भी एक निर्धारित शैली और उपक्रम के अनुसार हो। कोई भी योजना आरंभ में ही पूर्ण नहीं कही जा सकती। उसकी रूपरेखा समय की गति के साथ-साथ तथा सफलता के किनारे-किनारे विकसित होनी चाहिये।

(४) योजना लचकदार होनी चाहिये जिससे भविष्य में आनेवाली आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों के सम्मुख उसमें आवश्यक परिवर्तन किये जा सकें। आर्थिक योजना को पूर्ण कहकर आर्थिक जीवन को स्थायी बनाना होगा जबकि आर्थिक जीवन में समयानुकूल परिवर्तन की आवश्यकता होती है। आयोजन की प्रमुख विशेषता यह है कि "उसमें उत्तरोत्तर विकास हो और विकास के साथ उसे पूर्ण बनाया जाय।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि आयोजन सरकार और जनता के उन भरपूर प्रयत्नों का परिणाम है जिनके द्वारा राष्ट्र और संसार की परिवर्तनशील उत्पादन की परिस्थिति में आर्थिक कुशलता लाने का सफल प्रयास किया जाता है। कुछ लोग समझते हैं कि आर्थिक योजना 'राष्ट्रीय' होनी चाहिए जिसमें राष्ट्र को एक शून्य इकाई मानकर आयोजन हो, अन्य राष्ट्रों के साथ उसका कोई संबंध न रहे। ऐसी विचारधारा भावुक हृदय की उपज है और व्यावहारिकता से अधिक पीछे है। शून्य इकाई पर आधारित राष्ट्र की आर्थिक योजना का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं और न वह हितकारी हो सकती है। राष्ट्रीय आर्थिक योजना बनाते समय अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण एवं अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन को अवश्य ध्यान में रखना होगा। योजना की सफलता में जितनी राष्ट्रीय जनता के सहयोग की आवश्यकता होती है उतनी ही अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भी कल्पना करनी होती है। प्रो० टामस व प्रो० सेलिगमैन भी इस बात की समीक्षा करते हैं और प्रो० टोयनबी ने तो यहाँ तक लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की कल्पना किये बिना बनाई गई आर्थिक योजना न केवल व्यर्थ होती है वरन् भयंकर हानि का कारण भी बन सकती है।" अतः यह आवश्यक है कि आर्थिक योजना यदि अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों पर आधारित नहीं होती है तो कम से कम अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

की आशा करते हुए अन्य राष्ट्रों के आर्थिक वायुमडल से मेल खाती हुई अवश्य होनी चाहिए। वर्तमान युग में, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, मौद्रिक प्रणालियाँ, कच्चे माल का आश्रय, पक्के माल को खपाने के लिए विदेशी बाजारों की व्यवस्था पारस्परिक सहयोग पर ही निर्भर है तो आर्थिक योजना में इन सभी व्यवस्थाओं का पूरा पूरा आयोजन आवश्यक हो जाता है।

हमारा देश तो आर्थिक योजनाओं की एक प्रयोगशाला रहा है। देश के आर्थिक आयोजन के विषय में भिन्न भिन्न मत व्यक्त किये गये हैं। कुछ लोगों का विचार है कि देश को औद्योगीकरण की ओर लेजाना चाहिये और कुछ सोचते हैं कि देश की उन्नति कृषि पर ही आश्रित है। श्रीमती वैरा आइन्स्टे ने अपनी पुस्तक "भारत का आर्थिक विकास" में दलील की है कि देश में एक सतुलित नीति की आवश्यकता है जिसमें कृषि और उद्योग दोनों को समुचित स्थान प्राप्त हो।" भारत की किसी भी आर्थिक योजना में दो समस्याएँ आती हैं, पहली जनसख्या का आकार एव उसकी वृद्धि दर और दूसरी सतुलित आर्थिक कलेवर। इन्हीं दोनों समस्याओं पर भावी आर्थिक योजना का आकार आधारित होना चाहिए। जनसख्या की समस्या पर ही भावी भारत का आर्थिक भविष्य अवलम्बित है। जनसख्या की समस्या देश की वह विकट समस्या है जिसे यदि शीघ्र ही न सुलझाया गया तो देश के कितने ही ठोस आर्थिक प्रोग्राम आगे चल कर टुकडे-टुकड़े हो जाएँगे। अतः आर्थिक योजना का पहला लक्ष्य यह होना चाहिए कि बढती हुई जनसख्या को किस प्रकार नियत्रण में लाया जाय और जनसख्या एव उत्पादनमात्रा में किस प्रकार सतुलन पैदा हो।

सभी मानते हैं कि भारतीय कृषि पर जनसख्या का भारी भार है। लगभग ८० प्रतिशत जनसख्या कृषि पर अवलम्बित है। और यह भी सत्य है कि अभी तक उत्पादन पूर्ण मात्रा में नहीं हो रहा। यदि वैज्ञानिक साधनों द्वारा उत्पादन बढाया गया तो समस्या यह पैदा हो सकती है कि कृषि से हटाई गई जनसख्या क्या कार्य करे? इस जनसख्या को औद्योगिक साधन तलाश करने होंगे और इस प्रकार कृषि व उद्योग के सतुलन का प्रश्न भी हल करना होगा।

योजना कमीशन ने इन दोनों प्रश्नों को सामने रखकर योजना तैयार

की है और योजना का रूप काफी सुडौल बनाया है। इस योजना की विस्तृत रूपरेखा का वर्णन अगले निबन्ध में किया गया है।

आर्थिक आयोजन की एक और महत्त्वपूर्ण आवश्यकता अङ्क-संग्रह की होती है जिनके आधार पर आगामी कार्य शैली निर्धारित की जा सके। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कीन्स का कहना है कि जीवन के किसी भी पहलू में अनुमान-अंकों की आवश्यकता होती है और ये अनुमान-अङ्क योजना का मार्ग प्रदर्शन करते हैं। डाक्टर मार्शल का विश्वास है कि "अंकशास्त्र वह मिट्टी है जिसकी सहायता से ईंटें तैयार की जाती हैं।" आर्थिक योजना बनाने से पूर्व इस बात की आवश्यकता है कि 'उत्पादन-गणना' हो। उत्पादन-गणना का तात्पर्य है कि आर्थिक साधनों का, आर्थिक नियमों का, जनसंख्या के विभिन्न उद्यमों का एवं देश में आशातीत अन्य उद्योग धंधों का अनुमान लगाया जाय और लक्ष्य बनाकर उसकी पूर्ति के प्रयत्न किये जाएँ। तभी लक्ष्य-प्राप्ति की कल्पना की जा सकती है। हमारे देश में अनेक योजनाएँ बनीं, परन्तु अंकसंग्रह की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। केवल प्रस्तुत साधनों से अधिक ईंटें निर्माण करने के विषय में सोचा गया और लक्ष्य-पूर्ति न हो सकी। वर्तमान योजना कमीशन ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है। देश के साधनों के विश्वसनीय और यथाशक्ति पर्याप्त आँकड़े प्राप्त करके लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं।

अंक-संग्रह के पश्चात् हमारे देश के आर्थिक-आयोजन में भारतीय कृषि की योजना का पृथक लक्ष्य बनाना आवश्यक है। कृषि अब भोजन का साधन ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं औद्योगिक विकास का भी एक स्रोत हो चला है। अतः हमारी किसी भी योजना में देश की कृषि-भूमि की मापन-जोखन होनी चाहिए। भूमि का मापन इस दृष्टिकोण से हो कि विभिन्न भागों में कौनसी फसल कुशलता से पैदा की जा सकती है और इसका मापन करते समय देश की स्थानीय आवश्यकताओं और निर्यात-आवश्यकताओं दोनों बातों को सामने रक्खा जाय। उत्पादन वृद्धि के साधनों को तो सोचना होगा ही परन्तु उन सबको देश में ही उत्पन्न करना भी योजना

का लक्ष्य होना चाहिए। कृषि की उन्नति के साथ-साथ ग्रामोन्नति की ओर भी योजना का पूरा लक्ष्य हो, क्योंकि भारत की कोई भी आर्थिक योजना तबतक पूर्ण नहीं कही जा सकती जबतक कि भारत के ७,००,००० गाँवों के पुनरुत्थान का कार्य-क्रम न बनाया जाय। ग्रामोन्नति की योजना में सहकारी उद्योगों एवं सामाजिक सुविधाओं को पूरा पूरा स्थान मिलना चाहिए। आर्थिक कलेवर को दृढ करने के लिए जनता को शिक्षित बनाने की आवश्यकता है। शिक्षा का आर्थिक पुरोगम में विशेष स्थान हो, जिससे जनसाधारण योजना का महत्व समझें और उसे कार्यान्वित करें। अतः आर्थिक, योजना केवल अर्थसाध्य ही न हो, कृषक के केवल एक ही पहलू को स्पर्श न करे, वरन् योजना को अपनाने वाले सभी श्रेणी के लोगों के जीवन की चतुर्मुखी उन्नति का लक्ष्य हो। इतना ही नहीं, ये सभी क्रियाएँ एकसाथ चलें, जिससे किसी भी क्षेत्र में कमी न आने पावे। योजना का अगला अंग उद्योग-विकास है। उद्योग क्षेत्र में विशाल उद्योगों को भी स्थान हो और गृह उद्योग (कुटीर धंधे) भी सम्मिलित हो। केन्द्रीयकरण की योजना भारत में अधिक उपयोगी सिद्ध न होगी। जहाँ विशाल क्षेत्र है, अनन्त साधन हैं, असंख्य जनसंख्या है, विकेन्द्रीकरण की योजना ही हितकर होगी। गृह उद्योगों का उत्थान दो दृष्टिकोणों से होना चाहिये—बेकारी को दूर करके कार्य स्रोतों की वृद्धि के लिए तथा उत्पादन-वृद्धि के लिए। प्राचीन युग के गृह उद्योग यद्यपि देशवासियों को काम दे सकते हैं परन्तु आधुनिक युग की आवश्यकता के अनुसार उत्पादन नहीं बढाते। इस क्षेत्र में आयोजकों को जापान, स्वीटजरलैंड, जर्मनी आदि देशों की ओर देखना चाहिए। विद्युत का विकास हो, यन्त्रों का प्रयोग बढे और कार्यकुशलता में वृद्धि हो। उत्पादन इतना हो कि राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति तो हो ही, बाह्य देशों में भी कुछ निर्यात किया जा सके। इसके अतिरिक्त योजना जीवन रक्षा के विषय में नीति निर्धारित करे, पूँजी संगठन का भी पुरोगम हो, ग्रामों में अधिकोषण सुविधाएँ हों और देश को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग भी प्राप्त हो। साराश यह है कि योजना ऐसी हो जो देश को चारों ओर से लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बाँध दे। योजना कमीशन ने इन्हीं सिद्धान्तों और आदर्शों को सामने रखकर देश के लिए

पंचवर्षीय योजना बनाई है जिसमें कृषि को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। फिर उद्योगों, समाज सुधार, शिक्षा आदि मूल बातों की भी व्यवस्था की गई है। योजना की विस्तृत रूपरेखा अगले निबन्ध में है। आशा है पाठक उसको अध्ययन के साथ समझने की चेष्टा करेंगे।

४६—पंचवर्षीय योजना—एक रूपरेखा

१६३० से पहले हमारे देश में आर्थिक आयोजन का कोई क्रमबद्ध उपक्रम नहीं था। उस समय आर्थिक आयोजन का विषय केवल सिद्धान्त की वस्तु ही समझा जाता था। परन्तु तीसा की मन्दी से देश के आर्थिक ढांचे में जो उलट फेर हुई उससे निश्चित योजनानुसार देश का आर्थिक विकास करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। रूस ने अपनी पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा जो आर्थिक प्रगति की उससे संसार के देशों की आस्था आर्थिक आयोजन में जमने लगी। द्वितीय युद्ध काल में युद्ध के कारण जो आर्थिक विकलता पैदा हुई उससे तो आर्थिक आयोजन के विकास में और भी अधिक बढ़ावा मिला। युद्धोत्तर काल में लगभग सभी सभ्य देशों ने आर्थिक आयोजन करके निश्चित योजनानुसार काम करना आरम्भ कर दिया।

भारत में आर्थिक आयोजन का क्रमबद्ध आरम्भ १६३८ से आरम्भ होता है जबकि कांग्रेस महासमिति ने पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय-आयोजन समिति स्थापित करके देश के आर्थिक विकास की एक विस्तृत और क्रमबद्ध योजना बनाने का निश्चय किया था। १६४४ में देश के अग्रगण्य उद्योगपतियों ने देश के आर्थिक विकास के लिए 'बंबई योजना' के नाम से एक योजना देश के सामने रक्खी। इसके पश्चात् 'पीपिल्स-योजना' तैयार हुई तथा आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने गांधीवादी सिद्धान्तों के आधार पर तैयार की हुई एक 'गांधी-योजना' देश को दी। इन योजनाओं से प्रभावित होकर तथा देश की आवश्यकताओं को समझकर उस समय की विदेशी सरकार ने भी एक आर्थिक आयोजन विभाग खोला तथा स्वर्गीय श्री आर्देशर दलाल को योजना एवं विकास सम्बन्धी विभाग का अध्यक्ष बनाया गया। स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् जब देशी सरकार ने भारत के विधान में 'कल्याणकारी राज्य' की कल्पना निर्धारित की तो यह आवश्यक समझा गया

कि देश के आर्थिक साधनों का जमा-खर्च करके एक ऐसी योजना बनाई जाय जिसके अनुसार देश का आर्थिक विकास किया जा सके और स्वतन्त्र देशवासियों को भरपूर काम तथा पर्याप्त भोजन, कपड़े एवं निवास की सुविधाएँ मिल सकें। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर भारत सरकार ने मार्च १९५० में एक 'योजना कमीशन' नियुक्त किया। इस कमीशन के अध्यक्ष देश के प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू हैं तथा सदस्यों में श्री गुलजारीलाल नन्दा, श्री वी० टी० कृष्णमाचारी, श्री चिन्तामणि देशमुख, श्री जी० एल० मेहता, श्री आर० के० पाटिल हैं। कमीशन ने लगभग १५ महीने तक देश की आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन करके 'पंचवर्षीय योजना की एक रूपरेखा' देश के सामने रखी है। कमीशन ने अपनी रिपोर्ट को तीन भागों में बाँट दिया है—पहले भाग में उन सिद्धान्तों का वर्णन है जो कमीशन ने योजना तैयार करने में अपनाए हैं। दूसरे भाग में योजना की मूल बातों पर विचार किया गया है तथा तीसरे भाग में योजना को कार्यान्वित करने के लिए अपनाई जाने वाली नीति और प्रबन्ध सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया गया है।

रूस की पंचवर्षीय योजनाओं की भाँति इस योजना में देश के सभी आर्थिक पहलुओं को सम्मिलित नहीं किया गया है। इसमें आर्थिक विकास के केवल उन पहलू पर ही विचार किया गया है कि केन्द्रीय और राज्य-सरकारें किस प्रकार १९५१-५२ से १९५५-५६ तक आर्थिक विकास पर आवश्यक धन राशि व्यय करेंगी। जहाँ तक व्यक्तिवादी उद्योगों का सम्बन्ध है कमीशन ने केवल ऐसी परिस्थितियाँ ही बनाने का आयोजन किया है जिनके अन्तर्गत व्यक्तिवादी उद्योग धन्धों को उन्नत करने के भरपूर अवसर प्राप्त हो सकें।

योजना के अन्तर्गत पाँच वर्षों में सरकारी क्षेत्र पर देश के आर्थिक विकास के लिए १७९३ करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान लगाया गया है। यह अनुमानित व्यय-राशि दो अंशों में बाँट दी गई है। पहिले अंश के अन्तर्गत १४९३ करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है। इस राशि से प्रधानतः उन विकास योजनाओं को पूरा किया जायगा जिन्हें सरकार ने पर्व

मान में अपने हाथ में ले रक्खा है। इतना व्यय करने के पश्चात् कमीशन का अनुमान है कि देशवासियों को जीवन की वे सब अनिवार्य वस्तुएँ मिलने लगेंगी जो उन्हें युद्ध पूर्व काल में मिलती थीं। दूसरे अग के अन्तर्गत ३०० करोड़ रुपये व्यय किये जाएँगे। इस राशि से आर्थिक प्रगति एव उन्नति की ओर बढा जायगा। कमीशन ने फिलहाल १४६३ करोड़ रुपये के अनुमानित-व्यय की रूपरेखा सरकार के सामने रक्खी है। यह राशि इस प्रकार व्यय की जायगी.—

	१९५१ ५६ (पाँच वर्षों में) व्यय राशि (करोड़ रुपयों में)	कुल राशि का प्रतिशत (१९५१ ५६)
कृषि एव ग्राम्य विकास	१९१ ७०	१२·८
सिंचाई और शक्ति	४५०·३६	३०·२
यातायात एव सचार साधन	३८८·१२	२६ १
उद्योग	१००·९९	६·७
सामाजिक सेवाओं में व्यय	२५४·२२	१७·०
पुनर्वास	७९ ००	५·३
विविध	२८·५४	१·९
योग	१४९२·९३	१००·०

(अ) कृषि

उक्त तालिका से ज्ञात होता है कि योजना कमीशन ने अपनी योजना में कृषि को सर्व प्रथम स्थान दिया है। और दिया भी क्यों न जाय? देश की ८० प्रति शत जनता प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि पर अवलम्बित है। बड़े बड़े उद्योग कच्चे माल के लिए कृषि पर आश्रित हैं अन्न का देश भर में भारी अकाल चल रहा है। इन परिस्थितियों में कृषि को प्रथम स्थान मिलना कोई ईर्ष्या की बात नहीं होनी चाहिए। अन्य योजनाओं की भाँति, जिनका उल्लेख पीछे किया गया है, इस योजना में आँकड़ों के बड़े-बड़े आशावादी पुल नहीं बनाए गए हैं वरन् व्यावहारिकता, वास्तविकता और आवश्यकताओं के अनुसार आवश्यक

वस्तुओं को यथास्थान दिया गया है। कुछ लोगों का मत है कि जब योजना में सिंचाई एवं शक्ति पर कुल व्यय का ३०%, यातायात एवं संचार पर २६% तथा समाज सेवाओं पर १७% व्यय होने का अनुमान है तो फिर उद्योगों के विकास पर ही केवल ७% क्यों ? ये आलोचक इस बात को भूलते हैं कि देश कृषि प्रधान है जहाँ कृषि की उन्नति पर ही सब कुछ निर्भर है। दूसरे, औद्योगिक विकास के लिए तो अभी व्यक्तिवादी क्षेत्र भी पड़ा हुआ है। अतः योजना में कृषि को जो स्थान दिया गया है वह उपयुक्त ही है। योजना के अनुसार कृषि-विकास पर जो व्यय होगा वह इस प्रकार है—

	प्रथम दो वर्षों में (१६५१-५३) (करोड़ रुपयों में)	कुल पाँच वर्षों में (१६५१-५६) (करोड़ रुपयों में)
कृषि	६० ८	१३६ ६
पशु रक्षा, चिकित्सा एवं दुग्धशालाएँ	६·७	२२ ५
वन-विकास	३·२	१० १
सहकारिता	३·०	७·२
मछली उद्योग	१ ४	४ ४
ग्राम्य-विकास	४·०	१० ६
योग	७६·१	१६१ ७

इस प्रकार व्यय करने पर कमीशन का अनुमान है कि पाँच वर्षों के पश्चात्, योजना समाप्त होने पर १,५०,००,००० एकड़ अधिक भूमि पर सिंचाई होने लगेगी, ४०,००,००० एकड़ भूमि फिर कृषि योग्य बन जायगी तथा १५,००,००० एकड़ भूमि का कृषीकरण होने लगेगा। इतना करने पर कमीशन ने उत्पादन सम्बन्धी निम्न लक्ष्य निर्धारित किए हैं—

	(०००)
अन्न	७,२०० टन
पटसन	२,०६० गाँठें

कपास	१,२०० गाँठें
तिलहन	३७५ टन
शकर	६६० टन

ये लक्ष्य भिन्न-भिन्न राज्यों के लिए अलग अलग निश्चित कर दिये गए हैं जिससे राज्य सरकारें इन्हें प्राप्त करने में सचेत और जागरूक रहें। भिन्न-भिन्न राज्यों के लक्ष्य इस प्रकार हैं —

	अन्न (टनों में)	पटसन (४०० पौंड की गाँठों में)	कपास (३९२ पौंड की गाँठों में)	तिलहन (टनों में)	शकर (टनों में)
	(हजारों में)				
आसाम	३११	४४०	—	—	५०
बिहार	८७६	३६०	—	८५	५०
बंबई	३६७	—	१६८	६३	३४
मध्य प्रदेश	३४७	—	१२८	२७	—
मद्रास	८२४	—	२१८	१४२	७८
उड़ीसा	२६५	२००	—	—	—
पंजाब	६५०	—	७६	—	५७
उत्तर प्रदेश	८००	३३०	४६	६१	४१०
पश्चिमीबंगाल	७६७	७००	—	—	११
हैदराबाद	६३२	—	८८	४६	—
मध्य भारत	३००	—	६१	६.५	—
मैसूर	१५६	—	७५	—	—
पटियाला और पू० पंजाब रियासती संघ	२४६	—	५६	—	—
राजस्थान	८६	—	७५	—	—
सौराष्ट्र	६४	—	१५६	१५	—

ट्रावनकोर-कोचीन	१४१	—	—	—	—
अन्य राज्य	२६०	—	१७	—	—
योग	७१०२	२०६०	१२००	३७५'०	६६०

अन्न-उत्पादन बढ़ाने के लिए कमीशन ने अपनी योजना में सिंचाई का विकास करने, रासायनिक खादों का उपयोग बढ़ाने, अच्छे तथा उत्तम कोटि के बीजों का प्रयोग बढ़ाने तथा बंजर-भूमि को तोड़कर कृषि योग्य बनाने की योजनाएँ बनाई हैं। इन उपायों के द्वारा अन्न-उत्पादन बढ़ाने के जो आँकड़े कमीशन ने निर्धारित किए हैं वे इस प्रकार हैं—

विभिन्न साधनों द्वारा अन्न-उत्पादन बढ़ाने के अनुमानित आँकड़े

	योजना	अधिक अन्न-उत्पादन (००० टनों में)
१	बड़ी-बड़ी सिंचाई-योजनाओं द्वारा	२,२०२
२.	छोटी सिंचाई-योजनाओं द्वारा	१,६३२
३.	भूमि को उन्नत बनाकर तथा कृषीकरण की योजनाओं द्वारा	१,५२४
४.	खाद तथा अन्य रासायनिक पदार्थों को बढ़ाने की योजनाओं द्वारा	५८४
५.	उत्तम कोटि के बीजों का प्रयोग बढ़ाकर	३७०
६.	अन्य योजनाओं द्वारा	५२०
	कुल	७,२०२

भारतीय किसान को वर्षा की अनिश्चितता से बचाने के लिए कमीशन ने योजना में सिंचाई के भरपूर साधनों की व्यवस्था की है। सिंचाई पर ४५० करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गई है जिससे शक्ति का भी विकास होगा और सिंचाई भी हो सकेगी। पाँच वर्षों में प्रति वर्ष इस मद पर इस प्रकार व्यय होगा—

वर्ष	व्यय (करोड़ों रुपया म)	अधिक भूमि पर सिचाइ (एकड़ों में)	अधिक शक्ति उत्पादन (किलोवाट म)
१६५१ ५२	६६	१५,५०,०००	१,४४,०००
१६५२ ५३	११२	२७,१०,०००	३,७३,०००
१६५३ ५४	१००	४५,२५,०००	८,८६,०००
१६५४ ५५	७७	६७,२५,०००	१०,००,०००
१६५५ ५६	५३	८८,३२,०००	११,२४,०००
अन्त में	—	१,६५,०१ ०००	१६,३५,०००

(ब) उद्योग-धंधे

औद्योगिक क्षेत्र में कमीशन ने इस बात पर जोर दिया है कि उद्योगों की क्षमता क अनुसार भरपूर उत्पादन किया जाय। उद्योगा पर कमीशन ने इस प्रकार व्यय करने की व्यवस्था की है —

	प्रथम दो वर्षों में मिलाकर (१६५१ ५३)	पूरे पाँच वर्षों में मिलाकर (१६५१ ५६)
	(करोड़ रुपयों में)	
विशाल उद्योगों पर	३८·१	७६ ५
कुटीर एवं छाटे उद्योगों पर	४ ८	१५ ८
वैज्ञानिक एव औद्योगिक शाध पर	२ ४	४ ६
खनिज विकास पर	० ३	१ १
याग	४५ ६	१०१ ०

इस प्रकार व्यय करने पर कमीशन का विश्वास है कि पाँच वर्षों के बाद ४,५०,००,००,००० गज अधिक मिल के कपड़ का तथा १,६०,००,००,००० गज अधिक हाथ करघे के कपडे का उत्पादन बढाया जा सकेगा। इसी प्रकार योजना में व्यक्तिवादी उद्योगों तथा अन्य औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन के लक्ष्य भी निर्धारित कर दिए गए हैं जो इस प्रकार हैं —

Name of industry	Unit	1950-51 Installed capacity	1950-51 Production (1950)	1955-56 (estimated) Installed capacity	1955-56 (estimated) Production.
Agricultural implements .					
i) Pumps (centrifugal)	Nos.	37,407	30,292	86,801	78,126
ii) Diesel engines	Nos.	11,826	4,596	51,326	46,193
Alcohol :					
i) Power	'000 Bulk Galls.	12,868	4,497	21,118	19,006
ii) Rectified spirit	'000 Bulk Galls.	2,949	3,436	2,949	2,654
		8,290			
Aluminium (primary)	Tons	4,000	3,600	25,000	20,000
Automobile (manufacturing only)	Nos	35,000	3,840	35,000	25,000
Cement	'000 tons	3,276	2,613	5,140	4,631
Cotton textiles :					
i) Yarn	Million lbs	1,646	1,174	1,671	1,600
ii) Cloth (mill)	Million yards	4,722	3,665	4,741	4,500
Fertilizers :					
i) Superphosphate	'000 tons	123	52	216	179
ii) Ammonium sulphate	'000 tons	74	47	129	100
Glass and glassware ·					
i) Hollow-ware	'000 tons	211	86	232	174
ii) Sheetglass	" "	12	5	36	27
iii) Bangles	" "	35	16	35	17

Name of industry	Unit	1950-51		1955-56 (estimated)	
		Installed capacity	Production (1950)	Installed capacity	Production
Heavy chemicals :					
i) Sulphuric acid	'000 tons	150	102	230	180
ii) Soda ash	,, ,,	54	44	86	78
iii) Caustic soda	,, ,,	19	11	33	29
Matches	,, cases	706	523	766	690
Paper and paper board	,, tons	140	109	212	165
Salt		55,613 (Acres)	2,622 ('000 tons)	65,200 (Acres)	3,075 ('000 tons)
Soap	'000 tons	269	102	288	270
Steel (finished)	,, ,,	1,071	1,005	1,659	1,315
Sugar	,, ,,	1,520	1,100	1,540	1,500

(म) यातायात एवं संचार

योजना के अन्तर्गत अगले पाँच वर्षों में सब प्रकार के यातायात एवं संचार साधनों का विकास करने की व्यवस्था की गई है। इस पर इस प्रकार व्यय किया जायगा—

	प्रथम दो वर्षों में (१९५१-५३)	कुल पाँच वर्षों में मिलाकर (१९५१-५६)
	(करोड़ों रुपयों में)	
रेलवे पर	८०	२००·०
सड़कों पर	१०६	६३७
सड़क-वाहनों पर	४६	६·६
जल-जहाजों पर	८·७	१५·८
हवाई जहाजों पर	३·७	१५६
बन्दरगाहों पर	५·२	१०·८
आन्तरिक जल मार्गों पर	—	०·२
डाक एवं तार-विभाग पर	१२·८	४०·०
आकाशवाणी पर	·६	३·५
समुद्रपार यातायात पर	·४	१०
अन्य	·३	·६

(द) समाज-सेवाओं पर

योजना के अन्तर्गत समाज-सेवाओं जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, पिछड़े हुए लोगों के कल्याण तथा समाज-सुधारों की भी व्यवस्था की गई है। कमीशन ने इन कामों पर निम्न प्रकार व्यय करने का अनुमान लगाया है :—

	प्रथम दो वर्षों में मिलाकर (१९५१-५३)	कुल पाँच वर्षों में मिलाकर (१९५१-५६)
	(करोड़ों रुपये में)	
शिक्षा	४४·५	१२३·१
स्वास्थ्य	३३·७	८३·६

	प्रथम दो वर्षों में मिलाकर (१९५१-५३)	कुल पाँच वर्षों में मिलाकर (१९५१-५६)
		(करोड़ों रुपये में)
गृह व्यवस्था	९·५	२२·८
श्रम-कल्याणकारी कार्यों में	२·५	६·७
पिछड़ी हुई जातियों के उत्थान में	७·०	१८·०
योग	६७·१	२५४·२

औद्योगिक स्थानों पर मजदूरों को घरों का उचित प्रबन्ध करने के लिए कमीशन ने श्रमिकों, उद्योगपतियों एवं सरकार द्वारा मिली जुली एक योजना तैयार की है। इस योजना के अन्तर्गत २५,००० घर प्रतिवर्ष बनाये जाया करेंगे तथा पाँच वर्ष में कुल मिलाकर १,२५,००० घर बनाए जाएँगे। पंचवर्षीय-योजना में औषधि-निर्माण तथा औषधि वितरण की भी योजनाएँ सम्मिलित हैं।

× × × ×

उक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कमीशन ने १४९३ करोड़ रुपये की जो पंचवर्षीय योजना दी है उसमें केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारें इस प्रकार व्यय करेंगी।

	प्रथम दो वर्षों में मिलाकर (१९५१-५३)	पाँच वर्षों में मिलाकर (१९५१-५६)
	(करोड़ रुपयों में)	
केन्द्रीय सरकार	३१५·६	७३४·०
'अ' राज्य-सरकारें	२४६·४	५५९·६
'ब' राज्य सरकारें	७६·७	१७१·०
'स' राज्य-सरकारें	९·७	२८·२
कुल योग	६५४·७	१४९२·८

राज्य-सरकारों ने अपनी-अपनी योजनाओं पर इस प्रकार व्यय करने के निश्चय किए हैं :—

(करोड़ रुपये)

'अ' राज्य		'ब' राज्य		'स' राज्य	
आसाम	१२.५	हैदराबाद	४०.५	अजमेर	१.६१
बिहार	५५.७	मध्य भारत	२२.८	भोपाल	२.६७
बंबई	१२०.४	मैसूर	३६.६	बिलासपुर	०.४२
मध्य प्रदेश	४३.७	पटियाला और पूर्वी पंजाब रियासती संघ	८.३	कुर्ग	०.५३
मद्रास	१३६.०	राजस्थान	१५.२	दिल्ली	६.०२
उड़ीसा	१५.०	सौराष्ट्र	२१.५	हिमाचल प्रदेश	४.४८
पंजाब	१५.५	ट्रावनकोर कोचीन	२६.१	कच्छ	२.६८
उत्तर प्रदेश	६१.१			मनीपुर	१.००
पश्चिमी बंगाल	६८.८			त्रिपुरा	१.५०
				विन्ध्य प्रदेश	६.३६
योग	५५६.७		१७१.०		२८.३०

योजना को कार्यान्वित करने के लिए केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें आवश्यक पूँजी किस प्रकार प्राप्त करेंगी—इसकी भी रूपरेखा पंचवर्षीय योजना में दे दी गई है। केन्द्रीय सरकार आवश्यक पूंजी निम्न साधनों से प्राप्त करेगी—

	(करोड़ रुपयों में)
१. रेवेन्यू लेखा पर बचत (२६ करोड़ रु० प्रतिवर्ष)	१३०
२ रेवेन्यू लेखों में से विभिन्न-योजनाओं के विकास को अलग निकाली हुई राशि	११८
३ पूँजीगत लेखों से प्राप्त राशि	
(१) जन ऋणों से	३५
(२) बचत योजनाओं से	२५०
(३) अन्य साधनों से	७८
४ रेलवे की आय में से रेलवे विकास के हेतु निकाली हुई राशि	३०
योग	६४१

इस प्रकार केन्द्रीय सरकार विभिन्न प्रकार से ६४१ करोड़ रुपया की व्यवस्था कर सकेगी—इसमें से २११ करोड़ रुपये राज्य सरकारों को सहायतार्थ दे दिये जाएँगे। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार अपने लेखे पर कुल मिलाकर ४३० करोड़ रुपये व्यय करेगी। राज्य सरकारें अपने हिस्से के ४८० करोड़ रुपये इस प्रकार प्राप्त करेंगी :—

	(करोड़ रुपयों में)
१ रेवेन्यू लेखों का आधिक्य	८१
२. भिन्न-भिन्न विकास-योजनाओं पर व्यय करने के लिए अलग निकालकर रक्खी हुई रकम	२७५
३. विकास-योजनाओं के हेतु पूँजीगत लेखों से प्राप्त राशि—	

(१) जन ऋण	७६
(२) अन्य साधन	४४
योग	४८०

इस प्रकार राज्य सरकारें ४८० करोड़ रुपये की व्यवस्था करेंगी। २११ करोड़ रुपये उन्हें केन्द्रीय सरकार से मिलेंगे। कुल मिलाकर ६९१ करोड़ रुपये से व्यय कर सकेंगी।

इस प्रकार केन्द्रीय और राज्य सरकारें मिलाकर ११२१ करोड़ रुपये का प्रबन्ध कर सकेंगी। प्रश्न यह है ३७२ करोड़ रुपये का प्रबन्ध कहाँ से होगा? इसके लिए कमीशन का सुझाव है कि यह राशि कोलम्बो योजना के अधीन आस्ट्रेलिया, केनेडा और न्यूजीलैंड से प्राप्त होगी। कुछ राशि अमेरिका से अन्न-ऋण के रूप में भी मिलने का अनुमान लगाया गया है। यदि फिर भी काम न चले तो कमीशन का सुझाव है कि उसकी पूर्ति हमारे पौण्ड पावनों में से लेकर की जायगी। कमीशन ने आवश्यकतानुसार विदेशों से ऋण लेकर योजना को पूरा करने की सिफारिश भी की है बशर्ते कि उस विदेशी ऋण से हमारी स्वतंत्रता को किसी भी प्रकार की आँच न आए।

योजना की महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें अभी कुछ वर्षों तक अन्न आयात की आशा की गई है। कहा गया है कि प्रति व्यक्ति को प्रति दिन १४½ औंस भोजन देने के लिए कम से कम ३० लाख टन अन्न आयात करना पड़ेगा। यद्यपि यह बात हमारे लिए बड़े दुर्भाग्य की है परन्तु फिर भी सन्तोष करना पड़ता है कि योजना के अनुसार धीरे-धीरे यह आयात कम होता जायगा और देश अन्न के मामले में स्वावलम्बी बन जायगा। कमीशन ने मूल्य-नियंत्रण बनाये रखने की भी सिफारिश की है क्योंकि इसके बिना उत्पादन-वृद्धि के अभाव में मूल स्तर अनुकूल नहीं रह सकेंगे। सबसे बड़ी बात इस योजना में यह है कि इसके आँकड़े लक्ष्य अमान्य और अव्यावहारिक नहीं हैं। कमीशन ने जन-विश्वास तथा जन सहयोग की भी आशा प्रकट की है क्योंकि इसके बिना कोई भी योजना सफल नहीं बनाई जा सकती।

४७—कोलम्बो-योजना

दक्षिणी और दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों में रहने वाले लोगों के रहन सहन का स्तर सदैव से बहुत नीचा रहा है। आर्थिक दृष्टिकोण से ये देश बहुत पिछड़े हुए हैं। लोगों को भोजन, कपड़े और निवास तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं की नितान्त कमी रही है। न यहाँ शिक्षा है और न पाश्चात्य देशों की भाँति उत्पादन के प्रचुर साधन हैं। युद्ध काल में इन देशों की आर्थिक स्थिति और भी अधिक बिगड़ गई। गत पाँच वर्षों में इन देशों में जो राजनैतिक हलचल हुई हैं उनसे यहाँ के निवासियों को आर्थिक उन्नति करने का कुछ सहारा मिला है। संसार के आर्थिक दृष्टिकोण से इन देशों का बहुत महत्व है। इन्हीं देशों में, संसार भर की औद्योगिक आवश्यकताओं के लिए कच्चा माल पैदा किया जाता है। युद्ध पूर्व काल में तो इन देशों में पटसन और रबर का एकाधिकार था और संसार में चाय के कुल उत्पादन का तीन चौथाई से भी अधिक, टीन का दो तिहाई से भी अधिक और तेल निलहनों का एक तिहाई से भी अधिक भाग अन्य योरोपीय देशों को भेजा जाता था। परन्तु शनै शनै इन देशों की स्थिति बिगड़ती गई। कॉमन-वैल्थ देशों ने अब भली प्रकार समझ लिया कि इन देशों को उन्नत किये बिना कॉमन वैल्थ के अन्य देशों का औद्योगिक विकास सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः कॉमन वैल्थ देशों के विदेश मन्त्रियों ने जनवरी १९५० में कोलम्बो में एक सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में यह निश्चित किया गया कि दक्षिणी और दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों में राजनैतिक शान्ति बनाये रखने तथा संसार के आर्थिक विकास के लिए बहुमुखी व्यापारिक प्रणाली स्थापित करने के लिए इन देशों का आर्थिक विकास आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक विस्तृत योजना बनाने को सम्मेलन ने कॉमन वैल्थ सलाहकार समिति बना दी। इस समिति ने दक्षिणी तथा दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों के आर्थिक विकास के लिए एक ६ वर्षीय योजना तैयार की जो १९५१ के मध्य से लागू

कर दी गई है। इस योजना के अन्तर्गत भारत, पाकिस्तान, लंका तथा मलाया और ब्रिटिश बोर्नियो के टापुओं के आर्थिक विकास की योजनाएँ सम्मिलित हैं। इस योजना के अन्तर्गत इस प्रकार व्यय करने का निश्चय किया गया है।

विकास योजनाओं का विश्लेषण
(०००,००० पौण्डों में)

	भारत	पाकिस्तान	लंका	मलाया और ब्रिटिश बोर्नियो	योग
कृषि विकास पर	४५६	८८	३८	१३	५९५
यातायात और संचार	५२७	५७	२२	२१	६२७
शक्ति-स्रोतों पर	४३	५१	८	२०	१२२
उद्योग और खनिज	१३५	५३	६	—	१९४
समाज उन्नति पर	२१८	३१	२८	५३	३३०
योग	१३७९	२८०	१०२	१०७	१८६८

योजना में उल्लिखित देशों में विशेषतः कृषि, यातायात और शक्ति विकास पर ज़ोर दिया गया है। अन्न तथा औद्योगिक कच्चे माल का उत्पादन बढ़ाने के लिए यही प्रमुख आवश्यकताएँ हैं। इन मदों पर अनुमानित राशि का ७० प्रतिशत व्यय किए जाने की व्यवस्था की गई है। उद्योगों पर कुल व्यय का १० प्रतिशत लगाया जायगा। शेष राशि समाज सुधारों में जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा और निवास सम्बन्धी सुविधाओं में व्यय की जायगी। योजना समिति ने यह भली प्रकार समझ लिया था कि सामाजिक उन्नति के बिना आर्थिक विकास सम्भव नहीं हो सकेगा अतः उन्होंने सामाजिक आवश्यकताओं को यथास्थान दिया है।

योजना पूरी होने पर निम्नलिखित परिणाम मिलेंगे, यह अनुमान लगाया गया है :—

(१) १,३०,००,००० एकड़ अधिक भूमि पर कृषि होने लगेगी।

(२) ६०,००,००० टन अधिक अन्न उपजाया जा सकेगा।

(३) १,३०,००,००० एकड़ अधिक भूमि पर सिंचाई की जा सकेगी।

(४) ११,००,००० किलोवाट अधिक विद्युत् उत्पन्न की जा सकेगी।

योजना समिति की रिपोर्ट में बताया गया है कि इस प्रकार १९५७ के अन्त तक (जब यह योजना समाप्त होगी) इन देशों के लोगों के रहन सहन के स्तर में कोई विशेष और उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं होगा, परन्तु लोगों के गिरते हुये जीवन स्तर को थाम कर उन्नति की ओर ले जाया जा सकेगा। एशियाई देशों को यह संतोष होने लगेगा कि संसार के अन्य देश उनकी आर्थिक उन्नति के प्रति सचेत और जागरुक हैं। यही नहीं, इस योजना के द्वारा इन देशों में भारी आर्थिक विकास की प्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी करके भविष्य के लिए सुदृढ नींव रक्खी जा सकेगी।

योजना को कार्यान्वित करने में एशियाई देशों को कुशल विशेषज्ञों की आवश्यकता होगी। यह आवश्यकता इस प्रकार पूरी की जाएगी। एक, योजना सम्बन्धी देशों में ही ट्रेनिंग की सुविधाएं बढ़ा कर; दूसरा, विदेशों से कुशल विशेषज्ञ मँगा कर। कुशल विशेषज्ञ भेज कर सहायता देने का काम इंगलैंड, आस्ट्रेलिया न्यूजीलैंड तथा अन्य देशों के जिम्मे रक्खा गया है। इस विषय में दूसरी समस्या आवश्यक पूँजी प्राप्त करने की है। इसके लिए योजना के अनुसार विदेशों से पूँजी प्राप्त करने की भी व्यवस्था की गई है। विदेशों से पूँजी इस प्रकार प्राप्त की जा सकेगी। योजना सम्बन्धी देशों की विदेश-स्थित पूँजी को लाकर, विदेशों में पूँजीपतियों से ऋण लेकर; विदेशी सरकारों से ऋण लेकर तथा अन्तर्राष्ट्रीय-संस्थाओं से ऋण लेकर।

कोलम्बो योजना और भारत

इस योजना में भारत के आर्थिकविकास को प्रमुख स्थान मिला है। योजना के अनुसार लोगों के रहन सहन के स्तर को उठाने तथा उत्पादन बढ़ाकर बढ़ते हुए मूल्यों को रोकने तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सतुलन उत्पन्न करने के ध्येय रक्खे गये हैं। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह सुझाया गया है कि :—

(१) कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए ऐसी विकास योजनाएं अपनाई जाएँ जिनसे सिंचाई के साधन तथा गाँवों में बिजली की सुविधाएँ बढ़ाई जा सकें।

(२) खाद, रासायनिक पदार्थ तथा कृषि सम्बन्धी वैज्ञानिक यन्त्रों का प्रयोग बढ़ाकर भूमि की उपज बढ़ाई जाय।

कर दिया है। वित्त मंत्री का अनुमान है कि देश की वर्तमान आवश्यकताओं को देखते हुए सम्भव है और अधिक व्यय करना पड़े। ऐसी अवस्था में समुदाय विकास योजनाओं सम्बन्धी जो काम किया जाएगा उस पर व्यय बढ़ने से इस योजना के अन्तर्गत कुल २५०० करोड़ रुपये व्यय होंगे। वित्त-मंत्री ने कोलम्बो योजना में एक मूल संशोधन यह किया है कि नदी-घाटी योजनाओं को शीघ्र से शीघ्र समाप्त करने के लिए ५० करोड़ रुपये और अधिक व्यय किये जाएंगे। मूल योजना में १०६० करोड़ रुपया विदेशों से प्राप्त करके व्यय करने की व्यवस्था थी। संशोधित योजना में यद्यपि योजना का कुल व्यय २३०० करोड़ रुपया कर दिया गया है परन्तु विदेशी पूँजी की रकम १०६० करोड़ रुपये ही है।

कोलम्बो योजना के अन्तर्गत कृषि क्षेत्र में तीन नदी घाटी योजनाओं को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। ये योजनाएँ इस प्रकार हैं। दामोदर घाटी योजना जिस पर ५०० मिलियन रुपये व्यय होंगे। हीराकुण्ड योजना जिस पर ३०० मिलियन रुपये व्यय होंगे। नाङ्गल-भाखरा योजना जिस पर ७५७ मिलियन रुपये व्यय होंगे। इन योजनाओं पर पहले से ही काम चालू है। कोलम्बो योजना में इनको सम्मिलित करने से और अधिक बढ़ावा मिला है। इन योजनाओं के पूर्ण होने पर ६० लाख एकड़ नई भूमि पर सिंचाई होगी और ७ लाख ८ हजार किलोवाट अधिक बिजली ली जा सकेगी। योजना में दूसरा महत्वपूर्ण स्थान सरकार के Integrated Crop Production Plan को दिया गया है जिसमें भूमि का कृषिकरण करके, कृषि का यन्त्रीकरण करके, उत्तम कोटि की खाद और बीज लगाकर तथा सिंचाई के साधन बढ़ाकर कृषि उत्पादन बढ़ाया जायगा। अनुमान है कि १९५६-५७ के अन्त में जब यह योजना पूर्ण होगी तो ३० लाख टन अधिक अन्न, १ लाख ६५ हजार टन अधिक कपास, ३ लाख ७५ हजार टन अधिक पटसन तथा १५ लाख टन अधिक तिलहन उपजाये जा सकेंगे। यातायात की सुविधाएं बढ़ाने में केवल रेलों पर ४८०० मिलियन रुपये व्यय करने की व्यवस्था है। इससे अन्तर्गत देश में नई लाइनें डाली जाएँगी जहाँ तहाँ पुल बनेंगे, इंजिन और डिब्बे बनाये जाएँगे तथा कुशल श्रमिकों को शिक्षा देने के लिए सुविधाएं दी जाएगी। औद्योगिक-क्षेत्र में लोहे और इस्पात के उत्पादन पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। अनुमान है कि

इस योजना द्वारा ५ लाख टन अधिक इस्पात प्रति वर्ष तैयार किया जाया करेगा। योजना में स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं को भी यथास्थान मिला है। हाल ही में न्यूजीलैंड की सरकार ने १० लाख पौण्ड देकर हमारे देश में औषध शोध संस्था स्थापित करने के लिए, काम आरम्भ कर दिया है। जैसा कि योजना के आँकड़ों से ज्ञात होता है १६५६-५७ के अन्त तक १६ औंस प्रति व्यक्ति भोजन तथा १५ गज प्रति व्यक्ति कपड़ा प्राप्त हो सकेगा जबकि इस समय केवल १० गज प्रति व्यक्ति कपड़ा और १२ औंस प्रति व्यक्ति भोजन नहीं मिल पाता है।

इस प्रकार कोलम्बो योजना द्वारा हमारे आर्थिक विकास को एक नई प्रगति मिलेगी। पंचवर्षीय योजना के साथ-साथ इस योजना को भी चालू करने में सरकार के सामने कोई कठिनाई नहीं है। वास्तव में कामन-वेल्थ देशों ने दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के विकास का कार्यक्रम बनाकर एक सामयिक और आवश्यक कदम उठाया है। यह तो ठीक ही है कि इन देशों का आर्थिक विकास होगा अन्य देशों को कच्चा माल प्राप्त करने के स्रोत बनेंगे परन्तु साथ ही साथ यह भी निश्चित है कि एशिया पर छाई हुई राजनैतिक आँधी टल जाएगी। यदि इसी प्रकार इन देशों के उत्थान के विषय में सोचा जाता रहा तब तो ठीक है अन्यथा न मालूम फिर किस दिन यह देश साम्यवाद की ओर झुक जाएं।

४८—मन्दी की ओर

१६३६ में युद्ध आरम्भ होने पर वस्तुओं के भाव ऊँचे चढ़ने लगे थे जो युद्ध समाप्त होने तक ऊंचे ही बने रहे। युद्ध समाप्त होने पर आशा की जाती थी कि वस्तुओं के भाव कुछ नीचे होंगे जिससे सामान्य जनता को, विशेषतः मध्यम वर्ग को, कुछ सन्तोष होगा, परन्तु आशा केवल आशा ही बनी रही। यही नहीं, युद्धोत्तरकाल में भाव और भी अधिक ऊंचे हो गए जिससे मध्यम वर्ग तिलमिला उठा। वैसे तो व्यापार चक्र के सिद्धान्तों के अनुसार १६४६ ५० में मन्दी हो जानी चाहिए थी परन्तु कोरिया के युद्ध ने तथा उसके कारण उत्पन्न हुई अमरीका, इङ्गलैंड तथा अन्य देशों की पुनर्शस्त्रीकरण तथा माल संग्रह की योजनाओं ने मन्दी को आने से रोक दिया और बदले में तेजी बढ़ने लगी। परन्तु मार्च १६५२ में मन्दी का घड़ा फूट निकला। कीमतों में कल्पनातीत कमी के कारण देश भर में भारी तहलका मच गया। सोना चाँदी, तिलहन, दाल, काली मिर्च, गुड़, चीनी, मसाले तथा किराने की अन्य वस्तुओं की थोक कीमतों में भारी कमी आ गई। सोने चाँदी के मूल्यों में तो जबर्दस्त गिरावट आ गई थी। दिल्ली में ५ मार्च को सोने का भाव ७१ रुपये से ७० रुपये तक रहा और चाँदी १५५ रुपये के भाव से बिकी, सामान्य जनता अपने आभूषण बेचने के लिए बाजारों का चक्कर काटने लगी। बैंकों में जमा सोने-चाँदी पर बैंक जमा करने वालों से हानि की पूर्ति करने के लिए हठ करने लगे तथा हानि की पूर्ति न होने पर बैंक अपने पास जमा किए हुए सोने-चाँदी को बेचने लगे। किराने की वस्तुओं पर क्या प्रभाव पड़ा यह ५ मार्च के दिल्ली के भावों से ज्ञात होता है—सोंठ का भाव ११० रुपये से ५५ रुपये तक, दालों का भाव २० रुपये से २ रुपये मन तक, मिर्च ५० रुपये से ३० रुपये, धनियाँ ८० रुपये से ४० रुपये तक तथा हल्दी ४५ रुपये से २० रुपये तक हो गये। पटियाला में मिर्च ३५ रुपये से गिरकर २५ रुपये हो गई। काली मिर्च कोचीन में ३००० रुपये प्रति गांठ से गिरकर ३ दिनों में ही २५०० रुपये रह गई।

२५ फरवरी को दिल्ली में तिजहन का भाव ३५० रुपये प्रति हण्ड्रवेट था जो
५ मार्च को १२८ रुपये तक गिर गया।
हापुड़ में १ जनवरी को गुड़ का भाव १४ रुपये मन था जो ५ मार्च को
६-७ रुपये प्रति मन रह गया। कोचीन में गोले के तेल का भाव तीन दिनों में
४८० रुपये से नीचे गिर कर ३१२ रुपये रह गया। मूँगफली का तेल २६
फरवरी को २६५ रुपये प्रति मन मिल रहा था, वह ५ मार्च को २२० रुपये में
भी नहीं बिक पा रहा था। लुधियाने में सरसों का तेल २९ रुपये से गिरकर
१९ रुपये हो गया। चीनी जो फरवरी में १ रु. १२ आने सेर तक बिक रही थी
मार्च में १५ आने प्रति सेर बिकने लगी। इस प्रकार देश भर में वस्तुओं के
भाव नीचे हो गए। उत्पादक और व्यापारी-क्षेत्रों में त्राहि त्राहि मच गई।
शेयर बाजार की भी यही हालत रही। भाव निरन्तर गिरते गए। २८
फरवरी को टाटा डिफर्ड का भाव १६७६ रुपये था किन्तु ५ मार्च को निम्नतम
भाव १५६५ रुपये हो गया। वनस्पति घी और साबुन के भाव भी २५-३० प्रति
शत गिर गए।
कपड़ा-बाजार में ऊनी तथा रेशमी कपड़ों के भाव सबसे पहिले गिरने
आरम्भ हुए। इसके बाद सूती कपड़ों के दाम भी गिरने लगे। सरकार ने कपड़े
के वितरण पर से नियन्त्रण तोड़ दिया परन्तु फिर भी कपड़े के ग्राहक नहीं मिल
रहे थे। बारदाने के भाव गत दो महीनों में ५० से १०० प्रतिशत तक गिर गए।
प्रायः सभी व्यापारिक शहरों में उथल-पुथल सी मची हुई थी। खरीदार कहीं
नहीं मिलता, बिकवाल सब बन गए और सब जगह घूम रहे थे। कीमतों के निरंतर
गिरते जाने तथा सोने की दुर्लभता से बहुत से व्यापारी घबरा उठे थे। बहुतों
के दिवाले निकल गए, बहुतों के टाट उलट गए और अनेकों के दिवालिया
बन जाने की आशंका प्रतिक्षण बनी हुई थी। बहुत से नगरों में तो कारोबार कई
दिनों तक बन्द रहा। वायदे के सौदे बन्द कर दिए गए। सोने चाँदी के
वायदे के लेन-देन रोक दिए गए। स्टॉक एक्सचेंज बन्द करने पड़े उद्योग-
पतियों ने उद्योग- कारखानों में उत्पादन का काम थमा दिया। सरकार से अनु-
रोध किया जाने लगा कि वह कोई कठोर कदम उठाकर कीमतों को बढ़ावा दे।
इस असाधारण मन्दी का प्रभाव भिन्न भिन्न वर्गों पर भिन्न भिन्न प्रकार से

पड़ा। वेतन-भोगी वर्ग, उपभोक्ता-समुदाय एवं मध्यम वर्ग ने भावों की मन्दी जाते देख सन्तोष की साँस ली। ये वर्ग पिछले १२ १३ वर्षों से ऊँचे भावों की कठोर चक्की में इस प्रकार पिस रहा था कि मन्दी की हवा पाकर इसके प्राण लौट आए। सोचने लगा कि मन्दी किसी प्रकार स्थायी बनी रहे जिससे खाने, पीने, पहिनने आदि की वस्तुएँ सरलता से सस्ती प्राप्त होती रहें। इसके विपरीत व्यापारियों, सग्रहकर्त्ताओं, उद्योगपतियों तथा काला-बाजार करने वाले वर्गों पर मन्दी से गहरी चोट लगी। उनके माल के नफे कम हो गए, काला बाजार करने का क्षेत्र समाप्त हो गया तथा व्यापार में अधाधुन्ध लाभ कमाने के अवसर समाप्त हो गए। इसी कारण उन्होंने सरकार से प्रार्थना की, प्रतिनिधि मण्डल भेजे, सुझाव दिए तथा अन्य सभी कुछ प्रयत्न किए कि किसी प्रकार सरकार गिरते हुए भावों को रोक कर मन्दी को दूर करे। परन्तु सरकार ने तब तक एक न सुनी। वित्त मन्त्री तथा उद्योग और वाणिज्य-मन्त्री ने स्पष्ट कर दिया था कि "मन्दी सरकार के प्रयत्नों का परिणाम है इसलिए उसे दूर करने के लिए सरकार कुछ नहीं करना चाहती"। यह जान कर उद्योगपतियों ने एक नई चाल अपनाई। उन्होंने सरकार को धमकी दी कि मन्दी के कारण उनका माल पड़ा हुआ है इसलिए वे अपने कारखानों को बन्द किए देते हैं। सरकार ने उनकी धमकी स्वीकार करली और जनता को विश्वास दिलाया कि इस प्रकार उत्पादन में किसी प्रकार का विशेष अन्तर नहीं होगा। इतना अवश्य है कि सरकार ने गुड़ चीनी का निर्यात खोल दिया जिससे भाव कुछ कसते जा रहे थे। दूसरे, सरकार ने कुछ वस्तुओं, जैसे जूट तथा जूट का सामान, पर निर्यात कर आधा कर दिया तथा तिलहन एवं तेल पर भी निर्यात कर की छूट दी। परन्तु जैसा कि सरकार ने बतलाया है यह सब कुछ मन्दी को दूर करके भाव ऊँचा करने के लिए नहीं किया गया था वरन् भुगतान विषमता को दूर करने के लिए, निर्यात-वृद्धि के लिए किया गया था। कुछ भी हो, सरकार को चाहिए था कि इस आए हुए अवसर को हाथ से न जाने देती और गिरते हुये भावों को स्थायी बनाने का प्रयत्न करती।

इस मन्दी के कारणों पर सभी अपनी अपनी समझ के अनुसार विचार प्रकट कर रहे हैं। वायदे के लेन-देन में जनता का विश्वास न रहना इसका

एक कारण बताया जा रहा है। बाजार में सम्रहीत माल की निकासी एवं बैंकों द्वारा सिक्यूरिटियों पर ऋण देने से इनकारी भी इसका एक प्रधान कारण दीखता है। बैंकों ने अपने व्यापारियों को नोटिस दिया कि वे अपना सोना ले जावें और बैंकों का हिसाब साफ कर दें। यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो सोना बाजार-भाव में बेच दिया जायगा। बेचारे व्यापारी रुपया निकालने के लिए माल बेचने पर विवश है—अतः माल के भाव गिरते जा रहे हैं। कुछ लोगों का विचार है कि सोने-चाँदी का उत्पादन बढ़ने से उनके भाव गिरे और उन भावों के साथ-साथ बाजार के अन्य क्षेत्रों में भी मन्दी आ गई। १९५० और १९५१ में सोने-चाँदी का उत्पादन इस प्रकार रहा :—

वर्ष	मात्रा	मूल्य
	—सोना—	
१९५०	१९६६९५ औंस	५९२१२४५४ रुपये
१९५१	२२६२३१ औंस	३३७१९८९५ रुपये
	—चाँदी—	
१९५०	१५६७६ औंस	६७९२२ रुपये
१९५१	१७१८० औंस	८४१८४ रुपये

सभी लोगों का मत है कि बाजार में मन्दी आना आश्चर्यजनक नहीं है। आश्चर्य तो यही है कि यह इतनी देर से क्यों आई और इतनी तेजी के साथ क्यों आई। प्रसिद्ध उद्योगपति के. डी. जालान ने कहा था कि 'मन्दी से हमें कोई घबराहट नहीं है वरन् घबराहट इस बात से है कि यह इतनी तेजी के साथ एक दम आकर खड़ी हो गई, जिससे हमें अपना घर सम्भालने का अवकाश भी न मिल सका'। यदि सच पूछा जाय तो मन्दी का बीजारोपण उसी दिन हो गया था जिस दिन भारत सरकार ने बैंक-दर ३% से बढ़ाकर ३½% कर दी थी और बैंकों की खुली बाजार क्रियाओं पर पाबन्दी लगा दी थी। बाजार में पहिले ही रुपये की कमी थी। भारत सरकार को १ अरब रुपया कर्ज माँगने पर केवल ५० करोड़ रुपया मिला था। ऐसे समय में बैंक-दर बढ़ाने से जो थोड़ा बहुत रुपया बाजार में था वह भी खिंच आया। अमेरिका ने भारी मात्रा में माल संग्रह कर लिया था। अब उसे आवश्यकता नहीं रही थी।

अतः माल की खरीद कम होने से उसके दाम गिरने आरम्भ हो गए। इसलिए यह स्वाभाविक था कि बैंक माल रखकर दिए गए रुपये की चिन्ता करते। माल के दाम कम हो जाने से लोग बैंकों का रुपया हजम कर जाते और बैंकों को भारी हानि रहती। इसलिए ऋण देने में बैंकों को उदारता छोड़नी पड़ी। इसका नतीजा यह हुआ है कि बाजार में रुपये की कमी हो गई और जब रुपये की कमी हुई, तो वह महँगा हो गया अर्थात चीजें सस्ती होने लगीं। ज्यों-ज्यों रुपये की कमी होती गई बैंक अपना रुपया बचाने की अधिक चिन्ता करने लगे और रुपया देने मे न केवल अनुदार होने गए, अपितु अपना दिया हुआ रुपया भी व्यापारियों के पास से लेने का प्रयत्न करने लगे। व्यापारियों को रुपये की जरूरत हुई, उन्होंने गोदाम का माल बेचना शुरू किया। खरीदार कोई न रहा, विक्रवाल सब बन गये। चीजों के दाम गिरने लगे। बाजार में घबराहट काम करती है। एक स्थान पर एक चीज के दाम गिरने लगे तो दूसरे स्थान पर दूसरी चीजों के दाम भी गिरते गए। वही हुआ और खूब जोर शोर से हुआ। मन्दी की आग देश भर में दौड़ गई।

बम्बई के प्रसिद्ध व्यापारी और उद्योगपति श्री चुन्नीलाल मेहता ने एक लेख में इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि चीजों की कीमतों में कमी की नींव ७ नवम्बर ५१ को रक्खी गई थी, जबकि ब्रिटेन में सरकार ने बैंक की ब्याज-दर बढा कर मुद्रा प्रसार पर रोक लगा दी थी। रिजर्व बैंक ने भी उसकी नकल की और बैंक दर बढा दी। उसी समय सरकारी कर्जों के सम्बन्ध की गई बैंक की घोषणा से उनका मूल्य ६८।।) रु. से गिरकर ८०) रु. रह गया था। वे मूल्य और गिर जाते यदि बैंक ८०) रु. पर सरकारी कर्जों को स्वीकार न कर लेता।

मन्दी का दूसरा कारण संयुक्त राज्य अमेरिका में कच्चे माल के संग्रह में एक दम कमी भी है। उसने जब माल खरीदना बन्द किया, तो व्यापारियों ने नुक्सान की आशंका से अपना माल निकालना शुरू किया। यहाँ रुई जमा हो गई, भारत सरकार ने १ लाख गाँठ बंगाल रुई बाहर भेजने की अनुमति दे दी किन्तु उसे खरीदने वाले ही नहीं मिले। यही हाल तेलों व तिलहन का

था। विदेशों में इसकी माँग ही नहीं थी। अब भारतीय व्यापारी बहुत घबराये और अपने गोदाम खाली करने लगे। इसका एक कारण यह भी था कि बैंकों ने उनके माल पर रुपया अधिक समय तक देने से इनकार कर दिया। बैंक भी क्या करते। माल के दाम कम हो जाने से उनका रुपया डूबने का भय था। पारे की भारत में प्रतिवर्ष २००० बैरल जरूरत रहती है, किन्तु भारत में २५००० बैरल तक जमा था। इसी तरह रांगा, गैमीरज, आदि भी, जिनकी मात्रा बहुत अधिक जमा थी, बाजार में माँग कम हो जाने से बाहर निकलने लगे।

स्टॉक एक्सचेंज पर भी इसका भारी प्रभाव पड़ा। मन्दी के कारण शेयरों का भाव अब तक स्थिर रहा था। टाटा डेफर्ड शेयरों के बारे में सरकार नई शर्तें कम्पनी के साथ कर रही है, यह अफवाह उड़ाकर कुछ सट्टेबाजों ने शेयरों के दाम कुछ दिनों में ही १७५० रु. से बढ़ाकर १९८० रु. तक कर दिये थे। लेकिन जब इन अफवाहों की पुष्टि सरकारी तौर पर नहीं हुई, इसलिए टाटा डेफर्ड शेयरों के मूल्य एक दम गिरने लगे। पदार्थों के मूल्य गिरने का प्रभाव सारे शेयर-बाजार पर पड़ा। श्री मेहता ने मन्दी का स्वागत किया है और आशा प्रगट की है कि जो काम सरकार वर्षों प्रयत्न करने पर भी न कर सकी, वह अब स्वयं हो गया।

रिजर्व बैंक द्वारा विश्लेषण

मन्दी के कारणों का विश्लेषण करते हुए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने लिखा है कि उसकी जिम्मेदारी मुख्यतः अन्तर्राष्ट्रीय कारणों पर है जिनमें से मार्च १९५१ में अमेरिका के सामरिक वस्तुओं के संचय कार्यक्रम में संशोधन प्रधान है। जून १९५१ में कोरियाई विराम-सन्धि वार्ता प्रारम्भ होने के बाद गिरावट का रुख और अधिक स्पष्ट हो गया और धीरे-धीरे अन्य धातुओं पर उसका प्रभाव पड़ता गया। इसके अतिरिक्त और भी अन्तर्राष्ट्रीय कारण हुए जैसे, (१) पुनः शस्त्रीकरण कार्यक्रम को पूरा करने की अवधि बढ़ा दी गई, (२) अन्तर्राष्ट्रीय सामग्री-सम्मेलन के प्रयत्नों से कुछ दुर्लभ कच्चा माल अधिक सुलभ होता गया, (३) कुछ दुर्लभ वस्तुओं का सारे संसार में मिलाकर उत्पादन बढ़ा। इन सब कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय बाजार ढीले पड़ गए जिसका

प्रभाव हमारे बाजारों पर भी पड़ा।

जहाँ एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से देश में कीमतें गिर रही थीं वहाँ दूसरी ओर ठीक उसी समय भारत सरकार ने भी मूल्यों को स्थिर करने के लिए कुछ कदम उठाये तथा सरकार ने अपनी व्यापार नीति में कुछ परिवर्तन करके चीजों को अधिक सुलभ बना दिया और साथ ही उत्पादन बढ़ाने का भी प्रयत्न किया। देशी कारणों में मन्दी के निम्न कारण थे —(१) १९५१-५२ के संशोधित बजट में सरकार को भारी बचत, (२) विदेशी व्यापार के भुगतान में असन्तुलन और भारी मात्रा में अन्न का आयात, (३) नवम्बर १९५१ में बैंक-दर में वृद्धि, (४) आगामी फसल के अनुकूल समाचार, और (५) किसी किसी राज्य में वस्तुओं के अन्तर्राज्यीय आवागमन की सुविधाएं।

प्रश्न यह है कि क्या इस मन्दी से कुछ लाभ हुआ? असल बात तो यह है कि हम सभी मूल्यों के चढ़ाव से परेशान थे और उन्हें कम करने की मनौती मनाते थे। वही सब कुछ हो गया। आज तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह मन्दी क्या रूप लेगी और कब तक रहेगी? कुछ दिनों से वस्तुओं के भावों में कुछ तेजी आने लग गई है। आवश्यकता तो इस बात की है कि इसे स्थायी बनाया जाय। इस व्यापक असाधारण मन्दी के कारण यदि किसी प्रकार अन्न के भाव भी कम हो जाते तो सतुलन अधिक रहता, क्योंकि हमारी वही सबसे मूल वस्तु है। अन्न के भावों में मन्दी के बिना कैसी भी मन्दी अधूरी ही रहेगी।

४९—वाणिज्य शिक्षण—मूल समस्या

आज हमारे जो नवयुवक स्कूलों व कालेजों से वाणिज्य शिक्षा ग्रहण करके निकलते हैं उनका यही उद्देश्य रहता है कि कहीं पर कार्यालय में क्लर्क हो जाएं या कहीं बैंक अथवा बीमा कम्पनी में लेखापाल बन जाएं। वे १०० रुपये और कभी-कभी इससे भी कम राशि के वेतन में अपने जीवन को दूसरों के हाथ बेच डालने में बिल्कुल नहीं हिचकते जबकि उनके बी. कॉम. और एम. कॉम. पास करने का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वे वाणिज्य-शास्त्री एवं वाणिज्य-विशारद बनकर स्वयं देश के बड़े व्यापारी हों और शासकों और सामान्य जनता को भी मार्ग प्रदर्शन करेंगे। परन्तु ऐसा नहीं होता। आज कितने ऐसे बी. कॉम. और एम. कॉम. हैं जो अपना निज का व्यापार करने में समर्थ हो सके हैं? उत्तर मिलता है 'कोई नहीं'; और यदि हैं भी तो केवल एक-दो। दूसरी ओर देखा जाय तो ज्ञात होगा कि देश का सारा व्यापार उन लोगों के हाथ में है जिन्होंने वाणिज्य की साधारण शिक्षा भी किसी स्कूल में नहीं ली है और वे अपने काम में फिर भी सफल हो सके हैं। प्रश्न यह है कि यह कठिनाई हमारे उन नव युवकों के सामने उपस्थित ही क्यों हुई कि वे उचित शिक्षा प्राप्त करने पर भी अयोग्य ही रहे। यह तो हास्य ही नहीं वरन् एक बड़ी विडम्बना व वैषम्य-सा प्रतीत होता है। पढ़े-लिखे लोग देश की वाणिज्य उन्नति में हाथ नहीं बँटा रहे—इसका अर्थ तो यही है कि वाणिज्य शिक्षण में कुछ दोष है और वह उनको अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए योग्य नहीं बना पाता। समस्या बड़ी मूल है और विचारणीय भी।

वास्तव में यदि सच पूछा जाय तो वाणिज्य की शिक्षा-प्रणाली ठीक नहीं है। विद्यार्थी के मस्तिष्क पर एक बोझा-सा डालने की चेष्टा की जाती है। उसे भली प्रकार बात समझने के साधन उपस्थित नहीं किए जाते, गहराई की बातों को तो वे केवल रट लेते हैं और वह भी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लोभ से। वाणिज्य की व्यावहारिक शिक्षा देने का हमारे देश में कोई

प्रबन्ध नहीं है। हमारे यहाँ वाणिज्य शिक्षा का पाठ्यक्रम अवैज्ञानिक एवं अपूर्ण है। जो कुछ भी टूटा फूटा एवं अस्वाभाविक क्रम हमें विदेशियों ने दिया हमने समझा कि यही स्वर्ग है और हमारे योग्य है। उसी को अपना लिया। क्या हमारे देश की जलवायु, प्राकृतिक बनावट, एवं रीति-रिवाजों पर विदेशी पाठ्य प्रणालियाँ घटित हो ही जाएँगी ? इस प्रश्न को कभी नहीं सोचा। हमारे यहाँ क्या क्या पैदा होता है और क्या क्या व्यापार किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है और हमें क्या करना चाहिए ? ये सब बातें तो हमारे दृष्टिकोण से बाहर की वस्तुएं रही हैं।

वाणिज्य शिक्षा का माध्यम अब तक अंग्रेजी हो रहा जिससे हमारे नव युवकों को उसके तत्वज्ञान को समझने में कठिनाई ही बनी रही। यदि स्वदेशी भाषा में वाणिज्य शिक्षा का कार्य किया जावे तो कितनी आसानी हो और वाणिज्य, जो नीरस विषय बना हुआ है, सरस हो जावे और साथ ही साथ देश की शक्ति एवं समय की पूर्ण मितव्ययिता हो। हम देखते हैं व्यापारी वर्ग को अबतक देश की सरकार का कोई सहयोग प्राप्त नहीं हुआ था। सभी लोग पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगे हुए थे। हिन्दी में तो व्यापारिक लेन-देन का काम होता ही नहीं था। हिन्दी में लेखा कर्म करने वालों को १५ रुपये मासिक वेतन दिया जाता था। अतः सभी लोग अंग्रेजी को अपनाने के प्रलोभन में रहते थे। इधर सरकार चाहती थी कि उसे क्लर्क मिलते रहें। अतः सरकार ने शिक्षा को ऐसा ही बना दिया। पिछली सरकार स्वयं व्यापारी वर्ग थी। भारतियों को व्यापारिक-क्षेत्र में उन्नति करते देख उन्हें ईर्ष्या होती थी। फलतः किसी प्रकार का प्रोत्साहन सरकार ने हमारे नवयुवकों को नहीं दिया। अपनी स्तर की आर्थिक हीनता, शैथिल्य, गृह प्रेम एवं अयोग्यता और दासत्व की भावना के कारण कई नवयुवक तो निराश कर दिए जाते थे केवल यह कह कर कि इन बेचारों से साधारण जोड़ना-घटाना भी नहीं आता। यदि वाणिज्य शिक्षा प्राप्त युवकों को थोड़ा भी प्रोत्साहन दिया गया होता तो वे आशातीत प्रगति करने में इतने पीछे नहीं रहते।

हमारे देश में अभी तक वाणिज्य शिक्षा का विज्ञान एवं अन्य विषयों की शिक्षा से कोई संबंध नहीं रहा है। वास्तविकता तो यह है कि वाणिज्य की

शिक्षा के साथ साथ हमें कई अन्य विषयों की उपेक्षा नहीं करनी होगी। वह विषय हैं विज्ञान, खेती, राजनीति एवं मनोविज्ञान और समाजशास्त्र। एक छोटे-से-छोटे व्यापारी का भी यह अनुभव है कि इन बातों को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में जानना अवश्य पड़ता है, अन्यथा व्यापार में सफलता मिलना कठिन हो जाता है। अबतक हमारे वाणिज्य के विद्यार्थी यह किंचित् जानते ही नहीं हैं कि विज्ञान इत्यादि विषयों का वाणिज्य से क्या संबंध है। उन्हें मनोविज्ञान भी वाणिज्य में कुछ सहायता कर सकता है? यही कारण है कि कई लोग उन्हें संकुचित ज्ञान वाले एवं नीरस जीवन वाले बतलाते हैं।

इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए जहाँ अन्य उपाय जैसे सरकारी सहयोग की आवश्यकता है वहाँ वाणिज्य-शिक्षण-व्यवस्था में सुधार करने की जरूरत है। तभी हमारे अध्यापक एवं विद्यार्थी इस योग्य हो पायेंगे कि वे मनोवांछित कार्य कर सकें। सबसे प्रथम तो वाणिज्य के विशेष शिक्षण की आवश्यकता है। सरकार ऐसे शिक्षालयों का निर्माण करे जहाँ पर सब साधन आधुनिक वाणिज्य शिक्षा-संबंधी उपस्थित किये जावें। अनुभवी अध्यापक ही रक्खे जावें। यह भी ध्यान दिया जाय कि वहाँ अध्यापक ठीक कार्य कर सकते हैं जिनके अन्य कुटुम्बी जन पहले से ही व्यापार-कला में निपुण हैं और वे स्वयं व्यापार कर रहे हों। अच्छा हो कि वही विषय उनको पढ़ाने के लिए दिये जावें जिन विषयों के वे विशेषज्ञ हैं। इनकमटैक्स आफिसरी, बैंक और इंश्योरेन्स कंपनी की मैनेजरी, लिमिटेड कंपनी की डाइरेक्टरी और सेक्रेटरी-गीरी एवं इसी प्रकार प्रत्येक विषय के लिए ऐसे अध्यापक हों जो B. Com. और M. Com. की डिग्री रखने के अतिरिक्त वाणिज्य संबंधी व्यक्तिगत अनुभव भी रखते हों। अच्छा हो कि वे व्यक्ति विदेशों की यात्रा किये हुए हों।

स्कूलों और कॉलिजों में जहाँ व्यावहारिक शिक्षा दी जाती है वहाँ प्रत्येक सामान उपस्थित किया जावे। सहकारी भण्डार, बैंक, इंश्योरेंस कंपनियाँ तथा अन्य छोटे-बड़े कारखानों में विद्यार्थी काम सीखने रहें और अन्य समय एवं परिश्रम बचाने के सहायक यंत्रों का प्रयोग भी सीखें। अध्यापक अपनी निगरानी में पूर्ण स्वतंत्रता के साथ विद्यार्थियों को बतावें और स्वयं उनसे वही कार्य करने की आज्ञा दें। विद्यार्थियों के हृदय में ऐसी भावना प्रत्येक दशा

होनी चाहिये कि उन्हें स्वय आगे चलकर एक बड़ा व्यापारी बनना है। इस प्रकार कार्य करने के लिए सरकार का सहयोग आवश्यक है। अभी सरकार कार्य व्यस्त होने के कारण इधर ध्यान नहीं दे सकती तो फिर दो एक साल हमारे शिक्षा सस्थाओं के अधिकारी भी बहुत कुछ कर सकते है, यदि उनमें एक परिवर्तन की भावना हो तो। अध्यापक यद्यपि आर्थिक दृष्टि से बड़े हीन हैं किन्तु जो कुछ भी वे कर सकते हैं कर्तव्य परायण होकर देश की सेवा म हाथ बटाते रहें। हमारे देश के कइ धनाढ्य सेठों ने इस कार्य में पहल स हा कुछ किया है और आशा है कि वे और अधिक सहयोग देते रहेंगे। शिक्षा-विभाग को चाहिये कि वह बड़े बड़े वाणिज्य शिक्षकों का सहयोग और सम्मति लेकर कार्य को बढावे और केवल उन्ही कालिजो और स्कूलों को वाणिज्य शिक्षा-प्रसार की आज्ञा दे जो पूर्णत योग्य हों और जहाँ आवश्यक सामग्री और अध्यापक एव स्थान इत्यादि ठीक हों। कई सस्थाओं में किसी सीमा तक इधर काय किया गया है किन्तु वह अपर्याप्त ही है अथवा अस्वाभाविक सा है।

एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि वाणिज्य शिक्षालय केवल वहीं प्रस्थापित किय जावें जहाँ पर व्यापार होता हो, जैसे कानपुर, अहमदाबाद, बबई, कलकत्ता इत्यादि। इससे विद्यार्थियों को शिक्षा ग्रहण करने में आसानी होगी। बहुत-सी बातें तो वे स्वत ही ज्ञात कर सकते हैं।

विद्यार्थियों को विशेष अध्ययन के लिए यथाशक्ति विदेशों में भेजा जाय। सरकार एव शिक्षण सस्थाएँ व्यापारिक यात्रा एव पर्यटन की सुविधाएँ दें। कई-कई माह तक विद्यार्थी एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाए जाए। इनके साथ में कार्य कुशल अध्यापक भी हो। साथ ही प्रत्येक कारखाने में मार्ग-दर्शकों की भी नियुक्ति कारखाना के मालिक करें। ठहरने एव भोजन की भी व्यवस्था की जावे। शिक्षण सस्थाओं में चलचित्र प्रदर्शनों के द्वारा वाणिज्य सबधी बातों का ज्ञान कराया जाय। साथ ही साथ बड़े बड़े व्यापारियों और उद्योग-पतियों को आमन्त्रित किया जावे कि वे आकर वाणिज्य के विद्यार्थियों को व्याख्यान दें और अपने अनुभवों पर प्रकाश डालें।

स्कूल और कॉलिजों से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् विद्यार्थियों को व्यापारिक सस्थाओं में व्यापारिक काम सीखने के लिए भेजा जाय। विश्वविद्यालय

अपने-अपने वाणिज्य-पाठ्यक्रम में आवश्यक संशोधन करके यह बात अनिवार्य बनादें कि वाणिज्य की परीक्षा पास कर लेने पर भी डिग्री तब तक न दी जाय जबतक कि विद्यार्थी किसी निश्चित अवधि तक व्यापारिक संस्थाओं में जाकर व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त न करले। इसके साथ-साथ ही वाणिज्य शिक्षा का काम हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा किया जाय। अध्यापकों को चाहिए कि वे भरसक प्रयत्न करके अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी को भी अपनायें। वाणिज्य सम्बन्धी पुस्तकें हिंदी में लिखी जाएँ। अंग्रेजी पुस्तकों का हिन्दीमें अनुवाद भी किया जाय परन्तु अनुवाद उन्हीं लोगों से कराया जाय जो भाषा के साथ-साथ इस विषय को भी भली भाँति जानते हों। प्रायः देखा जाता है कि आजकल वाणिज्य की हिन्दी-पुस्तकों की बाढ़ सी आ रही है। परन्तु उनमें से अधिकांश बेढङ्गी और अपूर्ण हैं। साधारणतः पुस्तकों का अनुवाद मात्र आ रहा है और वह भी उन व्यक्तियों द्वारा जो स्वयं अनुवाद करना तो जानते हैं परन्तु उस विषय से बिलकुल अनभिज्ञ हैं। फलतः यदि भाषा ठीक होती है तो विषय का अर्थ उलटा पुलटा होता है। इससे लाभ की अपेक्षा उलटी हानि होती है। अनुवाद उन्हीं लोगों से कराया जाय जो हिन्दी भाषा भी जानते हैं, और साथ-साथ विषय का भी गम्भीर ज्ञान रखते हों जिससे भाषा और भावों में तालमेल बना रहे। इसमें विश्वविद्यालयों को आगे बढ़कर काम करना चाहिए। आजकल सबसे बड़ी कठिनाई हिन्दी शब्द-कोष की है। इसके लिए सरकार एक काम करे। एक विशेषज्ञ-समिति बनाकर शब्द-कोष निर्धारित करदे और वही कोष पुस्तक लिखने व पठन-पाठन में काम आवे। यद्यपि सरकार ने समिति बनाई है परन्तु अभी तक कोई ठोस काम नहीं हुआ है। इस विषय में पुस्तक प्रकाशकों को भी चाहिए कि वे भाषा और भावों में मेल रखती हुई पुस्तकों का ही प्रकाशन करें और प्रकाशित करने से पहिले विशेषज्ञों की अनुमति ले लें। इस प्रकार केवल उत्तम कोटि की पुस्तकों का प्रकाशन होगा।

हमारी वाणिज्य शिक्षा का भारतीयकरण होना चाहिए। जो कुछ भी पढ़ा जावे, लिखा जावे, सब देश की व्यापारिक उन्नति के नाते किया जावे। हमारे निज का स्वार्थ, एवं विदेशी स्वार्थ दूर ही रखा जावे। विदेशी वस्तुओं का

अध्ययन हमारा उद्देश्य नहीं बन सकता वह तो एक मार्ग-प्रदर्शक बन कर एक साधन का काय कर सकता है। यह भी ध्यान रखना है कि विदेशी सिद्धान्तों में हमें कितनी काट छाँट करनी है कि वह सिद्धात हमारे देश की जलवायु, सामाजिक स्थिति, आर्थिक दशा एवं राजनैतिक वातावरण में ठीक प्रकार से घटित हो सकें अन्यथा एक प्रकार की उलझन सी पड़ी रहती है और लोग सफलता नहीं पा सकते। कइ विचारधाराओं में आज कल साम्यवाद एवं समाजवाद इत्यादि के गुण गाय जा रहे हैं। हमें यह ज्ञान ही नहीं है कि वास्तव में ये विचार हमारे देश के योग्य हैं या नहीं। हमारे जो विद्यार्थी वाणिज्य की शिक्षा प्राप्त करते हैं वह भी उलझन में पड़ जाते हैं और जीवन में कुछ भी नहीं कर पाते। प्रत्येक बात म हमें 'साख्यिकी' (Statistics) का सहारा ढूँढ़ना पड़ेगा।

वाणिज्य के विद्यार्थियों को विज्ञान, कृषि एवं राजनीति और मनोविज्ञान का भी साधारण ज्ञान रखना होगा। कालिजों एवं स्कूलों, विषयों के विभागों, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों में निकट का सपर्क स्थापित होना चाहिये। बडे शोक की बात है कि कहीं कहीं पर तो वाणिज्य के विद्यार्थी विज्ञान के अध्यापकों को भी नहीं जान पाते हैं। आज के ससार में हमें सभी प्रकार की योग्यता को एक निगाह म रखना होगा। हम अपनी खिचड़ी अलग पका ही नहीं सकते। किसी भी काय को क्या न करें हमें दूसरों का सहारा लेना ही पड़ेगा। यदि हम एक बड़ा कारखाना खोलें तो हमें इजीनियर, विज्ञान वेत्ता, विधान वेत्ता, राजनीतिज्ञ एवं सभी अन्य प्रकार के ज्ञाताओं से भी परामर्श करना होगा। आज का व्यापार किसी एक कोठरी म बन्द किया ही नहीं जा सकता है। आज का एक बड़ा व्यापारी राजनीतिज्ञ एवं विज्ञान वेत्ता भी है।

उपरोक्त विचारो से हमारा यह अर्थ कदापि नहीं की सभी वाणिज्य के विद्यार्थी व्यापारी ही बन जाएँ और कोई भी वैतनिक रूप से कार्यालयों में एवं कॉलेजों में काम न करें। वास्तव में अध्यापक एव क्लर्क भी तो आवश्यक हैं। सच बात तो यह है कि देश के व्यक्तियों की शक्ति का पूर्ण लाभ उठाया जावे। उनको मनोविज्ञान की सहायता से देखा जाये कि अमुक व्यक्ति किस कार्य के

योग्य है और फिर वही कार्य उसे दिया जावे किन्तु उस कार्य को करने की उस व्यक्ति में पूर्ण क्षमता आ जानी चाहिये। उसका शिक्षण ठीक प्रकार से किया जावे। वाणिज्य के जो विद्यार्थी ठीक प्रकार से शिक्षा ग्रहण न कर सकें वह कार्यालयों में कार्य करने के लिए जा सकते हैं। किन्तु आज हमारी व्यापारिक उन्नति के लिए देश को शिक्षित M. Com और B Com की आवश्यकता है। यदि सभी क्लर्क होते रहेंगे तो देश का व्यापार कुछ लोगों के हाथ में रहेगा और वह भी अवैज्ञानिक रूप में। साथ में देश की शिक्षा का ह्रास होगा। यह एक वाणिज्य-शास्त्री के साथ शुभ नहीं मालूम होता कि वह उच्च शिक्षा प्राप्त करने पर भी एक साधारण कार्य के लिए अपना जीवन बिता दे। देश के शिक्षा-शास्त्रियों तथा अन्य नेताओं को इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। वाणिज्य शिक्षा-सुधार की समस्या बड़ी मूल समस्या है इसे हल करने से देश के आर्थिक जीवन का एक पहलू उन्नत होगा।

५०—अर्थ-वाणिज्य की व्यावहारिक-शिक्षा

"यदि इंजीनियरिंग विभाग के स्नातकों की व्यावसायिक प्रशासन और औद्योगिक सम्बन्धों के विषय में कोई तैयारी नहीं होती तो इसके विपरीत वाणिज्य के स्नातक प्रयोगात्मक शिक्षण से बिल्कुल कोरे हैं।"

—राधाकृष्णन् कमेटी

आज शिक्षा का रंगीन उपवन अनेक विद्या के वृक्षों से सजा हुआ है जो असंख्य विषय की शाखाओं से लदे हुए हैं। प्रत्येक शिक्षक, शिक्षित व शिक्षार्थी को इनसे नई सौरभ व नूतन प्रेरणा मिलती है जिसका समाज और राष्ट्र के लिए असाधारण महत्व है। यदि कला व विज्ञान इस उपवन के वृक्ष हैं तो साहित्य, राजनीति, इतिहास, दर्शनशास्त्र (Philosophy), रसायन शास्त्र (Chemistry), भौतिक शास्त्र (Physics), उद्भित शास्त्र (Biology), आदि सरलता से इनकी शाखाएँ कही जा सकती हैं। विश्व निर्माण व आरम्भ से ही वाणिज्य (Commerce) भी किसी न किसी रूप में ऐसा ह एक विद्यावृक्ष रहा है जिस पर लेखा ज्ञान (Accountancy), व्यावहारिक अर्थशास्त्र (Practical Economics), मुद्राशास्त्र, व्यापार पद्धति (Business Methods) व अकशास्त्र (Statistics) आदि फैली हुई शाखाएँ आज भी समस्त संसार के औद्योगिक विकास व वैज्ञानिक प्रगति का कारण बनी हुई हैं।

वर्तमान युग में आई हुई विज्ञान के चमत्कारों की भयंकर बाढ वास्तव में तो वाणिज्य के जटिल पहलुओं को ढीला करने के लिए आवश्यक हुई जिससे मानव-जाति का रहन सहन का स्तर ऊँचा करने में एक औद्योगिक क्रांति सम्भव हो सके और भविष्य में हम इसके लिए सचेत रह सकें। प्रत्येक मनुष्य की यह प्रबल इच्छा है कि वह पिछले दिन से आज और आज से कल अधिक सुखी व समृद्धिशाली हो और अगले दिन उसको और भी अधिक लाभदायक व्यवसाय और उद्योग दिखाएँ। इसके लिए वाणिज्य मानव-समाज की शताब्दियों से सेवा करता आया है और आज भी इसका महत्व विज्ञान की आँधी में छिपाया

नहीं जा सकता। यदि ऐसा किया गया तो वह शिक्षा को अधूरा रख समाज और देश के लिए घातक सिद्ध होगा।

हर्ष का विषय है कि देश के अधिकांश विश्वविद्यालयों तथा विद्यालयों में कला, विज्ञान व वाणिज्य की शिक्षा दी जाती है जहाँ से हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करके अपने भावी जीवन को एक साँचे में ढालने का अटूट प्रयत्न करते हैं। जिस प्रकार कला व विज्ञान के छात्र आगे चले राजनीतिज्ञ, साहित्यकार, कवि, इंजीनियर, डाक्टर व वैज्ञानिक बनेंगे उसी प्रकार वाणिज्य के छात्र भी भावी उद्योगपति, अर्थशास्त्री, व्यवसायी व निपुण कार्यकर्त्ता बनेंगे। कला व विज्ञान को छोड़िए, वाणिज्य का प्रसाद ही देश को फिर 'सोने की चिड़िया' बना सकता है। इसलिए वाणिज्य शिक्षा का स्तर ऊंचा तथा साधन अधिक से अधिक मात्रा में उपलब्ध होने चाहिएँ।

इतनी आवश्यकता होते हुए भी भारत में वाणिज्य-विद्या की उन्नति और उसके विकास पर पूरा-पूरा ध्यान नहीं दिया जा रहा है। परिणाम यह हुआ कि यहाँ के विद्यार्थी पुस्तकों में सब बातों का ठीक तरह से अध्ययन कर लेने पर भी वास्तविक जीवन क्षेत्र में इन्हीं विषयों में बुरी तरह असफल रहते हैं। इसका कारण यह है कि आधुनिक वाणिज्य-शिक्षा जो सचमुच व्यवहार और प्रयोग रूप में होनी चाहिए केवल किताब रूप में ही सीमित रह जाती है। हमें आज वाणिज्य शिक्षा में ऐसी प्रगतिशील, व्यावहारिक व प्रयोगात्मक बातों को जन्म देना है जिससे विद्यार्थी केवल किताबों तक ही सीमित न रह कर प्रयोगात्मक व व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त कर सकें। यदि ऐसा हो सका तो वर्तमान वाणिज्य विश्वविद्यालय संचालक अवश्य ही भावी इतिहासकार के धन्यवाद के पात्र होंगे। वाणिज्य-शिक्षा से यदि राष्ट्र की उन्नति में योग देना है तो इसे व्यावहारिक बनाने के लिए निम्न सुझावों की उपेक्षा करना हितकर न होगा:—

वाणिज्य-संग्रहालय :—

रसायन शास्त्र (Chemistry) के विद्यार्थियों के लिए प्रयोगशालाएँ (Laboratories) बनायी जाती हैं। उद्भिज शास्त्र (Biology) के विद्यार्थियों के लिए विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में बड़े-बड़े संग्रहालय (Museums) बनाये जाते हैं जहाँ जीवित और निर्जीव दोनों प्रकार के

प्राणी देखने को मिलते हैं। वहाँ निर्जीव सर्प, चूहे, मछलियाँ, मेढक, व अन्य प्रकार न उड़ने वाले जीवित पक्षियों का भी होना कोई असाधारण बात नहीं। विद्यार्थी जो बातें पुस्तकों में पढ़ते हैं उनका स्वरूप भी उन्हें देखने को मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उद्भित शास्त्र का छात्र मेढक को कभी मछली नहीं बता सकता। परन्तु खेद की कमी को न छिपाते हुए हमें लिखना पड़ता है कि हमारे वाणिज्य के किसी भी छात्र के लिए Rotary Duplicator Machine को Rotary Copies बताना कोई बड़ी बात नहीं। वाणिज्य के अनेक विद्यार्थी चाहे वी पी पी के बारे में जानते हों परन्तु डाकखाने जाकर वी पी पी. नहीं करा सकते। मनीआर्डर द्वारा रुपया भेजने में उन्हें पोस्ट मास्टर की सहायता लेनी पड़ती है। डाकखाने में बचत लेखा (Savings Bank Account) खोलना, उसमें से रुपया निकालना व लेखा बन्द करना तो अधिकांश विद्यार्थियों से आता ही नहीं। कक्षालयों में कैश बुक (Cash Book) पर काम करते हैं परन्तु बैंक की Cash Book देखकर उनके होश उड़ जाते हैं। इस अभाव का दोष छात्र पर नहीं थोपा जा सकता। इस दोष और कमी के लिए तो हमारे महाविद्यालय और विश्वविद्यालय ही उत्तरदायी हैं, जहाँ पुस्तक पढ़ाने का प्रबन्ध तो किया जाता है परन्तु प्रयोगात्मक शिक्षा देने की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता। इस उत्तरदायित्व का भार चुकाने के लिए प्रत्येक महाविद्यालय व विश्वविद्यालय को वाणिज्य विद्या से सम्बन्धित संग्रहालयों का शीघ्रातिशीघ्र प्रबन्ध करना चाहिए। संग्रहालय में ऐसे साधन उपलब्ध हों जिससे विद्यार्थी प्रत्यक्ष रूप में यह देख सकें कि पुस्तक में अध्ययन किये गये कागज पुर्जों (Documents and Instruments) का वास्तविक रूप कैसा होता है और उनका प्रयोग कैसे किया जाता है। बैंक के नाम चैक काटना, बिल लिखना, ग्राहक को जमा-नोट व नाम नोट भेजना, भिन्न भिन्न प्रकार की फाइलों (Files) का रूप और उनका प्रयोग आदि बातें आकर्षक विधि से बताई जा सकती हैं। यदि इस कार्य को करने के लिए वाणिज्य-विभागों के अध्यक्ष और महाविद्यालयों के आचार्य आज ही व्रत ले लें तो वाणिज्य के विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर से व्यापारिक ज्ञान के अभाव का काला टीका जल्दी ही मिट सकता है और तब वे व्यापार पद्धति में बड़े बड़े

उपयोगी अन्वेषण कर राष्ट्र की भलाई भी कर सकेंगे।

बैंक की प्रयोगात्मक-शिक्षा :—

चारों ओर फैली हुई बेकारी के बाजार में विद्यार्थी से सीधा बैंक व्यवस्थापक बनना कौन नहीं चाहता ? यदि ऐसी सफलता की कुंजी थोड़े प्रयत्न व परिश्रम से मिल जाय तो आज विज्ञान के युग में वाणिज्य का महत्व सचमुच चौगुना हो सकता है। इस स्वप्न को साकार करने के लिए हमें कालिजों में ही योग्य शिक्षकों के संरक्षण में छोटे छोटे बैंक आरम्भ कर देने चाहिएँ जिनमें वहाँ के विद्यार्थी ही अपने खाली समय में क्लर्क, अंकक व व्यवस्थापक बनकर काम करें। इस प्रयत्न की सफलता के लिए यह देखना आवश्यक होगा कि सब अधिकारी वर्ग, शिक्षक और विद्यार्थी अपना अपना रुपया उसी बैंक में जमा करावें। कालिज भी इस बैंक में कुछ जमा करे तथा कालिज के वार्षिक बजट की राशि के सुरक्षित रखने का अधिकार भी इसी बैंक को प्राप्त हो। यदि पूर्ण सहयोग के साथ कार्य किया जाय तो यह बैंक कालिज के संरक्षण में चलाई जाने वाली अन्य सहकारी-संस्थाओं को ऋण देकर व बैंक प्रणाली के अनुसार अन्य साधनों का विदोहन कर, रुपया जमा करने वालों को पर्याप्त ब्याज भी देकर बचे हुए लाभ को विद्यार्थियों में छात्रवृत्ति के रूप में बाँट कर उनकी सहायता कर सकती है। इस योजना के अनुसार यदि बैंक प्रणाली को प्रोत्साहन देकर स्वयं के हित व स्वाभिमान की रक्षा करते हुए अध्ययन काल में ही एक विद्यार्थी बैंक-व्यवस्थापक हो सके तो अधिकारी वर्ग के लिए सचमुच यह एक गर्व की बात होगी। इससे सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि विद्यार्थी में उत्तरदायित्व की भावना आयेगी और वह व्यवस्था करने की क्रियाओं में दक्ष होने लगेगा जिसकी आवश्यकता इंगलैंड में उच्च औद्योगिक शिक्षा के लिए स्थापित 'पर्सी कमिटी' (Percy Committee) की राय से स्पष्ट है:—

"अपने अनेक गवाहों की इस राय से हम प्रभावित हुए हैं कि उच्च कोटि का शिक्षित प्रायः औद्योगिक संगठन व व्यवस्था के सिद्धांतों से अनभिज्ञ होता है और उसका प्रशासन का उत्तरदायित्व ग्रहण करने की ओर झुकाव नहीं होता है। इसमें संदेह नहीं कि इस क्षेत्र में अनुभव से बहुत कुछ सीखने को होता है परन्तु थोड़ा-सा ज्ञान इस प्रकार का भी है जिससे इस प्रकार की शिक्षा मिल

सकती है। इसलिए विश्वविद्यालय में औद्योगिक व व्यावसायिक प्रशासन सम्बन्धी शिक्षा प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य होनी चाहिए।"

कालिजों में प्रस्तावित बैंकों व अन्य सहकारी संस्थाओं का खोलना इस उद्देश्य की ओर पहला कदम होगा। कुछ महाविद्यालयों में ये योजनाएँ सफलता के साथ कार्य कर रही हैं। परन्तु प्रत्येक वाणिज्य विद्यालय में ऐसी योजना अनिवार्य होना आवश्यक है।

अध्यव्यवसायी देशाटन —

देशाटन का महत्व तो सभी मानते हैं। परन्तु वाणिज्य शिक्षा में अध्ययन की सत्यता खोजने के लिए वाणिज्य यात्रा (Commercial Tours) करना ज्ञान को प्रगति देता है। देश के उद्योगों व उद्योगपतियों, व्यवसायों व व्यवसायियों तथा अन्य असाधारण व्यक्तियों के विचार, वेशभूषा व कार्य प्रणाली के सपर्क में आने व कुछ सीखने का अचूक अवसर बाह्य स्थानों के भ्रमण से ही सम्भव है। देश की वस्त्र, जूट, चीनी व अन्य उद्योगशालाओं को सर्वांगरूपेण देखकर विषय से सम्बन्धित विद्यार्थी अवश्य कुछ नयी नयी योजनाएँ बनाकर अपने अमूल्य सुझाव सर्वसाधारण तक पहुँचा सकता है। भिन्न भिन्न प्रकार की व्यापार पद्धति की प्रयोगशालाओं का निष्पक्ष अध्ययन कर एक अध्यव्यवसायी छात्र अपने नये दृष्टिकोण को जनता के विचाराधीन रख सकता है। इसलिए विद्यार्थियों को दल व टोलियों में आर्थिक सहायता देकर भ्रमण के लिए प्रतिवर्ष भेजना चाहिए इससे उनका दृष्टिकोण भी विस्तृत होगा। विदेशों के शिक्षा-अधिकारी इस ओर अदम्य उत्साह दिखा रहे हैं। विश्वास है हमारे आचार्य भी इस पहलू को परिपक्व बना कर ही चैन लेंगे।

अवकाश में विकास :—

विद्या को व्यावहारिक व बहुमुखी बनाने के लिए शिक्षक को ताक में रख केवल विद्यार्थी का ही विकास करना एक हाथ से ताली बजाना होगा। विद्यार्थी में हर प्रकार की नई सूझ, नवीन स्फूर्ति व नया जोश भरने का भरसक प्रयत्न करने पर भी वह अधूरा ही रहेगा यदि उसके शिक्षक में ये सब गुण विद्यमान न हो। यदि निर्देशक ही नाटक की बारीकियों से अपरिचित है तो नाटक सजाने

बातों का ज्ञान अधूरा रहना बड़ा स्वाभाविक है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हमारे प्रोफेसर महोदय भी, जहाँ तक संभव हो, प्रत्येक नई उपयोगी विचारधारा, पुस्तक व प्रणाली से भली भाँति परिचित रहें। उन्हें कालिज में पढ़ाने के लिए कामचलाऊ परिश्रम से ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। ऐसे प्रतिदिन के परिश्रम से अवकाश पाकर उन्हें ठोस व नवीनतम बातें जानने के लिए अपने कालिज से बाहर देश के किन्हीं बड़े पुस्तकालयों व प्रयोगशालाओं में अध्ययन कर अपनी बुद्धि का विकास करना नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार चाकू या तलवार की धार को हमें समय-समय पर तेज करना पड़ता है ठीक उसी प्रकार हमारे प्रोफेसरों के अध्ययन को पूर्ण व तेज रखना पड़ेगा। इसलिए कालिज के अधिकारियों को आवश्यक होगा कि वे प्रत्येक शिक्षक को निश्चित समय के पश्चात एक वर्ष का अवकाश देकर अध्ययन के लिए भेजें। हमारा लक्ष्य ऐसे व्यक्तियों को तैयार करना हो जिनमें विश्लेषण और गम्भीर चिन्तन के गुणों का विकास हो सके व जो वस्तुस्थिति का अध्ययन कर प्रमाण पूर्ण निर्णय कर सकें। इसके लिए हमारे शिक्षक यदि कक्षा में दिए जाने वाले भाषण की अपेक्षा अपनी ताजी जानकारी द्वारा किसी उद्योग व व्यापार सम्बन्धी तात्कालिक विषय पर विचार विमर्श करें तो अधिक उपादेय होगा।

इसी प्रकार की नई प्रणाली को जन्म देकर हम नए ढंग से विद्या, विद्यार्थी व शिक्षक तीनों की प्रगति व विकास में सच्चे सहायक बन सकेंगे। तभी हमारी अर्थ-वाणिज्य शिक्षा पूर्ण बन सकेगी अन्यथा हमारी नवीन औद्योगिक सभ्यता एकांगी रह जायगी; सामाजिक जीवन में एक विषमता उत्पन्न हो जायगी क्योंकि जिनको परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना है उन्हीं को जीवन की आर्थिक समस्याओं पर विचार कर मानवीय समस्या भी सुलझानी है। आशा है विश्वविद्यालयों के कुलपति कॉलेजों के आचार्य तथा अर्थ-वाणिज्य के शिक्षक इस समस्या के प्रति सचेत रहकर सुलझाने के प्रयत्न करेंगे।